

श्रीभागमछपाववामां मदद

| म रकम | अमुकसूत्रमां मदद नाम | गाम नाम | भाकी | म रकम | अमुकसूत्रमां मदद नाम | गाम नाम | भाकी | |
|-------|----------------------|-------------------|----------|-------|----------------------|-----------------|------------|---------|
| २२०० | श्रीभाषार्य-बोर | जेसीगमाइ | } मेसाणा | ५०० | शेवरी कस्तूरबाइ | शेवरेबाइ | सुरतवदर | |
| | गजीमां | होसामाइ इत्ये बोर | | ५०० | बाइ पारवती दे शा | दळ- | | |
| | | बहुमाइ शिशोरदास | | | छापम | बखतबावनी | विषवा | भमदाबाव |
| १००१ | सूयगांग-शेठ | नगीनवास | | ५०० | बाइ मोषीबाई | शेठ | खल्लुमाइ | |
| | जीमां | जीबफजी | | " | पुनीबालनी | घणीयाणी | सुरत | |
| ६०१ | " | शेठखल्लुमाइ | | ५०० | " | शेठ सोभाग्यबाव | माजेकबाव | |
| ५०१ | " | शेठ मगनखल्लुमाइ | | १००० | ठाणांगजीमां | श्रीछाणीना | संघतरफची | छाणी |
| ५०१ | " | सा नथुमाइ | खल्लुमाइ | १००० | " | शेठ मगनखल्लुमाइ | पीतांबरदास | भमदाबाव |
| | | इनी शिकरी | बाइ परसन | १००० | " | शेठ शिंपरबाव | सुरतबाव | सुरतबाव |

| सं | रकम | अमुकसूत्रमां | मदद | नाम | गाम | नाम | घाकी |
|------|-----|-------------------|-----------|-----------------|---------------|--------|---------------|
| ५०१ | " | सा | शिवचंद | सोमचंद | सुरव | सुरव | ० |
| ५०० | " | क्षेठ | नानचंद | बनाजी | सुरव | सुरव | ० |
| ७५३ | | समवायांगजीमां | क्षेठ | मगनमाइ | कस्तूरचंदनी | | ० |
| | | | | विषया थाइ | हीराफोर | मठप | ० |
| ६२५ | " | क्षेठ | कस्तूरचंद | नानचंद | रूपाल | | ० |
| ५०० | " | श्रीशान्तिनाथना | देवसरना | | | | ० |
| | | | | क्यामयना हा० | नेन | नवल | मुबाइ |
| ४२०० | | श्रीमगावठीजीमां | क्षेठ | रघुमणच | मूळचंद | ठया | ० |
| | | | | क्षेठ | अयेचंद | मूळचंद | (प्रथममागमां) |
| ४२०० | | श्रीगोडीजीमहापजना | देवसरनी | पहेडी | ठरफवी | | ० |
| | | | | श्रीमगावठीजीमां | द्वितीयमागमां | मुबाई | ० |
| १२५० | | श्रीदाठाजीमां | क्षेठ | रघुमणच | द्वितीयचंद | पाटज | ० |

| सं | रकम | अमुकसूत्रमां | मदद | नाम | गाम | नाम | घाकी |
|------|-----|----------------|--------------|------------|---------|------------|------|
| १२०० | " | इवेरी | मगनमाइ | प्रतापचंद | सुरव | | ० |
| १००० | " | क्षेठ | अमीचंद | सुखालभाइ | | | ० |
| | | | | फुळचंद | अवेरी | सुरवचंद | ० |
| ५०१ | | क्याशाकवसांग, | क्षेठ | तुनीलाठ | कननचंद | | ० |
| | | वंतगडबसांग, | क्षेठ | अरघामागमां | सुरवचंद | | ० |
| | | थया | अनुचयेववाइ | | | | ० |
| १००० | | रायपसेणीजीमां | पाटी-सरूपचंद | | | | ० |
| | | | | कस्तूरभाइ | | मेसाणा | ० |
| १००० | " | सा | रायचंदमाइ | | | | ० |
| | | | | दुर्गेभवास | | कालीबावाठी | ० |
| ६५१ | " | क्षेठ | मोहनलाठ | सांकळचंद | अमवावाच | | ० |
| ७५० | | प्रभय्याकरजमां | पापु | गुलाचचंदजी | | | ० |

| | | | | | | | |
|------|-----|----------------|--------|-----------|-----------|------------|----------|
| म | रकम | अमुकसूत्रमां | मदद | नाम | गाम | नाम | बाकी |
| | | | | धनीचवजी | हंबेरी | मुंबाईबंदर | ० |
| १०१५ | " | शेठ संजुमाइ | तळकचव | सुरतबंदर | १०१५ | | |
| ५०० | " | शेठ कस्त्याणचव | सोमा | | | | |
| | | ग्यचव | हंबेरी | सुरतबंदर | ० | | |
| ३७२५ | | भादस्यकजीमां | बाबु | पुनीकाळजी | ० | | |
| | | | | पनाळमळजी | हंबेरी | मुंबाईबंदर | ० |
| ५५० | | ज्यबाईजीमां | सा | हरळबंद | अमर | | |
| | | | | बंदनी | दीकटी | बेन | रतन |
| | | | | वबा | वेमकोर | सुरतबंदर | ० |
| ५४० | | ज्यबाईजीमां | हंबेरी | मवळकचव | ज्येबंबनी | | |
| | | | | विचवा | बाई | मंजकोर | सुरतबंदर |
| | | | | | | | ० |

म रकम अमुकसूत्रमा मदद नाम गाम नाम बाकी

३५०१ पद्मवणा श्रीकृपडवजना सपतरफयी

प्रयमांश-

पारी-भीठामाइ

इनी वेढीमांधी

मारफव परी

मुलामाइ रु २३३१

सुपननी सपजना रु ११७०

६२९ द्वितीयोऽशः } धढायौठाना सपतरफयी

१००० " } हा चंडुमाइ सुरत

१००० " } हा मेपाजी चांपाजी तथा

१००० " } हा कळमाजी मेपाजी कालीयाबाडी

म रकम असुकसूत्रमां मदर नाम गाम नाम पाकी

१००० " श्रेठ मोठीगाळ मूळजी राबनपुर ०

१८०० नंवीजीमां श्रेठ प्रेमचंद रायचंभ सुबाइबवर. ०

१७५५ ओपनिर्मुक्तिमां जैनविद्याशास्त्रांतरफयी

सुबाजी रवचंभ जयचंभ अमवाबावं ०

२८५१ सूर्यपत्तिसूत्रमां हबेरी मगवानबास

दीराचंद सुंबाइबवर. ८५१

५०१ निरयावली } श्रेठ हरक्षचंभ सोमचंभ

सूत्रमां } हा० नेमचंभभाइ सुरत ०

म रकम असुकसूत्रमां मदर नाम गाम नाम वाकी

५०१ हरकोइ सूत्र } श्रेठ कस्याजचंभ

छपाववा माटे } वेचचंभ सुरत ०

५०१ हरकोइ सूत्र } श्रेठ सरुपचंभ अभेचंभ

छपाववा माटे } हस्ते झा प्रेमचंभ सुरत ०

५३० विपाकसूत्रमां श्रेठ गुलाबचंभ हरक्षचंभ सुरत २६५

५५० हरकोइ सूत्र } मीतत्वबोध जैनभाविकासाळा

छपाववा माटे } घरफयी हा० बन नवलयेन सुरत ०

सं १९७५ ना माप शुद्ध ६ ने शुक्रवारे सुबई

श्रीप्रज्ञापनोपाङ्गस्यानुक्रमणिका ॥

| पदानि | पत्राङ्काः | पदानि | पत्राङ्काः | पदानि | पत्राङ्काः |
|---------------------|------------|------------------------|------------|----------------------------|------------|
| १-प्रज्ञापनापदम् | १ | १३-परीणामपदम् | २८४ | २५-कर्मवेवाक्य पदम् | ४९४ |
| २-स्थानपदम् | ७१ | १४-कृपापदम् | २८९ | २६-कर्मवेदवन्धाक्य पदम् | ४९५ |
| ३-अस्ववदुत्तरपदम् | ११३ | १५-इन्द्रियपदम् | २९३ | २७-कर्मप्रकृतिवेदवपदम् | ४९७ |
| ४-स्थितिपदम् | १५८ | १६-प्रयोगाख्यं पदम् | ३१७ | २८-आहारपदम् | ४९८ |
| ५-पयापपदम् | १७९ | १७-छेदवापदम् | ३३० | २९-उपयोगाख्यं पदम् | ५२५ |
| ६-उपपातोद्भवनापदम् | २०४ | १८-कायस्थितिपदम् | ३७४ | ३०-पश्यताक्य पदम् | ५२८ |
| ७-इष्टाणामाख्य पदम् | २१९ | १९-सम्यक्त्वपदम् | ३९५ | ३१-सज्ञापरीणामपदम् | ५३३ |
| ८-समाख्य पदम् | २२१ | २०-अन्तःक्रियापदम् | ३९६ | ३२-संयमयोगाख्यं पदम् | ५३५ |
| ९-योनियपदम् | २२४ | २१-अवगाहनापदम् | ४०७ | ३३-ज्ञानपरीणामाख्य पदम् | ५३५ |
| १०-परमाचरमपदम् | २२८ | २२-क्रियाख्य पदम् | ४३५ | ३४-प्रवीणारपरिणामाख्य पदम् | ५४३ |
| ११-भाषापदम् | २४५ | २३-कर्मप्रकृतिपदम् | ४५३ | ३५-वेदनाख्यं पदम् | ५५३ |
| १२-दापिरपदम् | २५९ | २४-कर्मप्रकृतिवन्धपदम् | ४९१ | ३६-समुत्पत्ताख्यं पदम् | ५५९ |

तदेवमुक्तं सप्तदशं पदं, अथुनाऽष्टादशमारभ्यते, अथ चायमभिसम्बन्धः—इदानीन्तरपदे लेश्यापरिणाम उक्तः, सम्प्रति परिणामसाम्यात् कायस्थितिपरिणाम उच्यते, तत्र धेदमधिकारगायाद्वय—

जीव गद्गदिय काए ज्योए धेए कस्वायलेसा य । सुम्पणणागदसण संवय उवओग आहारे ॥१॥ मासगपरित्त पज्जण सुइम सभ्बी मवडत्थिय चरिमे य । एवेसि तु पदानं कायठिई होइ पायवा ॥२॥ जीवे णं मंते ! जीवेपि कालवो केवचिरं होइ ? गोयमा ! सबद्धं । दारिंइ नेरइए णं मंते ! नेरइएपि कालओ केचिर होइ ?, गोयमा ! जहअणं दस वाससइस्साइ उक्कोसेणं तेचीत्तं सागरोवमाइ ॥ विरिखखज्योणिए णं मंते ! विरिखखज्योणिएपि कालओ केचिरं होइ ?, गोयमा ! अहं अंतोसुद्धं उक्कोसेणं अंबंत्तं कालं अनंवाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालवो खेचओ अणंत्ता लोगा असंखेअपोगलपरि यद्दा ते ण पुगलपरियद्दा आवलियाए असंखिअमागे । विरिखखज्योणिणी णं मंते ! विरिखखज्योणिणित्ति कालओ केवचिरं होइ ?, गोयमा ! जहअणं अंतोसुद्धं उक्कोसेणं विभि पल्लिओवमाइं पुवकोट्टिपुवमम्महिंयाइं ॥ एवं मणुस्सेवि मणुस्सीवि एव चेष ॥ देवे णं मंते ! देवपि कालओ केवचिरं होइ ?, गोयमा ! जहए नेरइए, देवी णं मंते ! देविपि कालवो केचिरं होइ ?, गोयमा ! जहअणं दस वाससइस्साइं उक्कोसेणं पणवअं पल्लिओवमाइं । सिद्धे णं मंते ! सिद्धेपि

कालतो केवचिरं होइ !, गोयमा ! सादिए अपखचएपि । नेरइए णं मंते ! नेरइयअपखचएपि कालतो केवचिर होइ !, गोयमा ! जहमपपि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं, एवं जाव देवी ! अपज्जापिया । नेरइयपखचए णं मंते ! नेरइयपखचए एपि कालतो केवचिरं होइ !, गोयमा ! जहमेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेस्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तं । तिरिस्खज्जेणियपखचएपि कालतो केवचिरं होइ !, गोयमा ! जहमेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं विधि पळिओवमाइ अंतोमुहुत्तं, एवं तिरिस्खज्जेणियपज्जापियावि, एव मणुस्सेवि मणुस्सीधि, एव चैव देवपखचए चहा नेरइयपखचए, देवीपज्जापिया णं मंते ! देवीपखचियपि कालतो केवचिरं होइ !, गोयमा ! जहमेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पणपभं पळिओवमाइं अंतोमुहुत्तं ॥ दारं ३ (सूत्रं २३२)

‘जीवगइदियकाय’ इत्यादि, प्रथम जीवपद, किमुक्क मयति ?—प्रथम जीवपदमधिकृत्य कायस्थितिर्वक्तव्या इति १ ततो गतिपद २ तदनन्तरमिन्द्रियपद ३ ततः कायपद ४ ततो योगपद ५ तदनन्तर धेवपद ६ ततः क्पायपद ७ ततो लेस्यापद ८ तदनन्तर सम्पक्त्यपद ९ ततो ज्ञानपद १० तदनन्तर दर्शनपद ११ ततः सयत्तपद १२ तत उपयोगपद १३ तदनन्तरमाहारपदं १४ ततः परीत्तपद १५ ततो मापकपद १६ ततः पर्यात्तपद १७ ततः सूक्ष्मपदं १८ सत्तिपद १९ ततो भवसिद्धिकपद २० तदनन्तरमस्त्रिकायपद २१ ततत्तरमपदं २२ । एतेषां द्वार्यिद्यतिसद्भवानां पदानां कायस्थितिर्मवति ज्ञानव्या—यथा च मवति ज्ञानव्या तथा वचोदेवं भिर्देवते वच

कायस्थितिरिति कः दृष्टव्यार्थः?, उच्यते, काय इह पर्यायः परिगृह्यते, काय इय काय इत्युपमानात्, स च द्विधा-
 सामान्यरूपो विशेषरूपश्च, तत्र सामान्यरूपो निविशेषणो जीवत्वलक्षणः विशेषरूपो नैरधिकत्वादिलक्षणः तस्य
 स्थितिः—अवस्थानं कायस्थितिः, किमुक्त भवति?—सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा पर्यायेणादिएस्य जीवस्य यद-
 व्यच्छेदेन भवनं सा कायस्थितिः, ततः प्रथमतः सामान्यरूपेण पर्यायेणादिएसाध्यच्छेदेन यद् भवनं तच्चिन्त-
 यिपुराह—‘जीवे ण मते!’ इत्यादि, इह जीवनपर्यायविशिष्टो जीव उच्यते, ततः प्रथयति—जीवा ‘ण’ इति वाक्या-
 लङ्कारे भवन्त ! जीव इति जीवनपर्यायविशिष्टतया इत्यर्थः ‘कालतः’ कालमधिकृत्य ‘कियच्चिरं’ कियन्त काल
 यावद्भवति?, भगवानाह—गौतम ! ‘सर्वादां’ सर्वकाल यावत्, कयभिति चेत् !, उच्यते, इह जीवनमुच्यते
 प्राणधारण, प्राणाश्च द्विधा—द्रव्यप्राणा इन्द्रियपञ्चकषलत्रिकोष्ठासनि आसायुःकर्मानुभ-
 वलक्षणाः, भावप्राणाः ज्ञानादयः, तत्र ससारिणामायुःकर्मानुभवलक्षणप्राणधारण सर्वेषावस्थित, न हि सा का
 चिदवस्था ससारिणामस्ति यस्यामायुःकर्मानुभवनं न विद्यते इति, मुक्तानां तु ज्ञानादिरूपप्राणधारणमवस्थित,
 मुक्तानामपि हि ज्ञानादिरूपाः प्राणाः सन्ति, येषुकोऽपि द्रव्यप्राणैः जीवतीति व्यपदिश्यते, ते च ज्ञानादयो
 मुक्तानां द्वाभक्तिका, अतः ससार्यवस्थाया मुक्तावस्थायां च सर्वत्र जीवनमस्तीति सर्वकालमाधी जीवनपर्यायः ॥
 सम्प्रति तस्यैव जीवस्य नैरधिकत्वादिरप्यादिएस्य तैरेव पर्यायैरव्यपच्छेदेनावस्थानं चिन्तयन्नाह—‘नैरप्य ण मते!’

इत्यादि, सुगम, नवरं नैरयिक्रास्तया भवस्वामाग्यात् स्वमवाश्रयुत्वा अनन्तर न भूयो नैरयिकत्वेनोत्पद्यन्ते, ततो
 यदेव तेषां भवस्थिते परिमाण तदेव कायस्थितेरपि इत्युपपद्यते जघन्यत उत्कर्षतश्च यथोक्तपरिमाणा कायस्थितिः ।
 'तिरिक्थजोणिषु ण भते ।' इत्यादि, तत्र यदा देवो मनुष्यो नैरयिको वा तिर्यक्षत्पद्यते तत्र धान्तमुद्घर्त्तं स्थित्वा
 भूयः स्वगतौ गत्यन्तरे वा सङ्गमति तदा लभ्यते जघन्यतोऽन्तर्मुद्घर्त्तप्रमाणा कायस्थितिः, उत्कर्षतोऽनन्तं काल
 यावत्, तस्य धानन्तस्य कालस्य प्ररूपणा द्विधा, तद्यथा—कालतः क्षेत्रतश्च, तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्षिष्यवस-
 विष्यन्तः, उत्सर्षिष्यवसर्षिणीपरिमाणं च नन्द्यभ्ययनटीकातोऽयस्येय, तत्र सविस्तरमभिहितत्वात्, क्षेत्रतोऽनन्ता
 लोका, किमुक्तं भवति ?—अनन्तेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमभमेकैकप्रवेद्यापहारे क्रियमाणे यायत्योऽनन्ता उत्सर्षि-
 ष्यवसर्षिष्यो भवन्ति तावतीर्यायत् तिर्यक् तिर्यक्स्वेनावतिष्ठते, एतदेव कालपरिमाणं पुद्गलपरावर्त्तसङ्घातो निरू-
 पयति—असङ्घेयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, पुद्गलपरावर्त्तस्वरूपं च पञ्चसङ्घट्टीकायां विस्तरतरेकेणाभिहितमिति ततोऽन-
 धार्य, इह तु नामिधीयते, प्रत्यगौरधमयात्, असङ्घाता अपि पुद्गलपरावर्त्ताः कियत् इति विशेषसङ्घानिरूपणा-
 धर्माद्—'ते ण' इत्यादि, ते पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्घेयमागः, किमुक्तं भवति !—आयलिकाया अस-
 ङ्घेयतेमे मागे यायन्तः समयास्त्वान्तप्रमाणा असङ्घेयाः पुद्गलपरावर्त्ता इति, एतच्चैव कायस्थितिपरिमाणं धन-
 स्तल्पपेधया द्रष्टव्यं न द्वेषतिर्यगपेधया, धनस्तल्पपेधया च त्रैलोक्यप्रमाणं कायस्थितेरसमभात्

'तिरिक्खज्जीणि ण मते !' इत्यादि, इहोचरत्र च जघन्यान्तमुद्धर्षमावनानुसारेण स्वय
 मायनीया, उत्कर्षतस्त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाम्बधिकानि, कथ इति चेत् !, उच्यते, इह तिर्यग्बानु-
 व्याप्तां सञ्चिपथेन्द्रियाणामुत्कर्षतोऽप्यद्यौ मयाः कायस्थितिः "नरतिरिबाण सत्तद्ध मवा" [नरतिरिबां ससाद्यौ(वा)
 मवाः] इति वचनात्, तत्रोत्कर्षस्य चिन्त्यमानत्वात् अद्यावपि मया यथासमममुत्कृष्टस्थितिका परिगृह्यन्ते, अस-
 न्नेयवर्षानुष्कस्तु सूत्वा नियमतो देवलोकेपूपद्यते न तिर्यग्भु, तत सप्त मवाः पूर्वकोट्यायुपो वेदितव्या अष्टमस्तु
 पर्यन्तवर्षी देयकुर्वादिष्विति त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाम्बधिकानि भवन्ति 'एव मणुस्सेवि मणुस्सीवि'
 इति, एवं-तिर्यक्स्त्रीगतेन प्रकारेण मनुष्योऽपि मानुष्यपि च वक्तव्या, किमुक्त मवति ?—मनुष्यसूत्रे मानुपीसूत्रे च
 जघन्यतोऽन्तमुद्धर्षे उत्कर्षतस्त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाम्बधिकानि वक्तव्यानीति, सूत्रपाठस्त्वेष—'मणु-
 स्से ण मते ! मणुस्सच्चि कालओ केवच्चिर होइ ?, गोयमा ! जहन्नेण अतोमुद्धर्ष उक्कोसेण तिमि पळिओयमाइ पुव-
 कोटीपुडुचमम्महियाइ, मणुस्सी ण मते ! मणुस्सच्चि कालओ केवच्चिर होइ' इत्यादि, देवसूत्रे 'जदेव नेरइए' इति,
 यथैव नैरयिकः प्रागुक्तः तथैव देवोऽपि वक्तव्यः, देवस्यापि जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोप-
 माणि वक्तव्यानीति भावः, देवा अपि हि स्वभाश्रुत्वा न मृत्योऽनन्तर देवत्वेनोपपद्यन्ते "नो देवे देवेसु उवव-
 ज्जइ" [न देवो देवेपूपद्यते] इति वचनात्, ततो यदेव देवानामपि मवस्थितेः परिमाण तदेव कायस्थितेरपि,

देवीमूत्रे उत्कर्षत पञ्चपञ्चाशत्पत्योपमानीति, देवीनां भवस्थितेरुत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात्, एतथेशानवेव्यपे
 धया द्रष्टव्य, अन्यत्र देवीनामेतावत्याः स्थितेरसमभात् । सिद्धसूत्रे साधपर्यवसित इति, सिद्धत्वस्य क्षयासमभात्,
 सिद्धत्वादि व्यापयितु ईगा रागादयो, न च ते भगवत सिद्धस्य सम्भवन्ति, तन्निमित्तकर्मपरमाणवभावात्, तदभा-
 पद्य तेषां निर्मूलकापकपितत्वात् ॥ सम्प्रत्येतावतो नैरयिकादीन् पर्यासापर्यासविशेषणद्वारेण वि तयन्नाह—'नैर-
 ए ण मते !' इत्यादि, नैरयिको मदन्त ! अपर्यास इति—अपर्यासत्वपर्यायविशिष्टोऽविच्छेदेन कालतः कियन्त कालं
 यापञ्चयति ?, भगवानाह—गौतम ! इत्यादि, इहापर्यासावस्था जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तमुद्धर्तप्रमाणा, तत ऊर्ध्वे
 नैरयिकाणामप्य पर्यासापस्थामायात्, तत उक्त्वा 'जहन्नेणवि अतोमुदुत्' । 'एव जाय देवी
 णपञ्चत्तिया' इति, एव—नैरयिकोक्तेन प्रकारेणापर्यासास्त्रियगावयस्त्रावद्वक्तव्याः यायव्यव्यपर्यासिका, अपर्यासकदे-
 वीसुत्र यावदित्यर्थः, तत्र तिर्यक्षो मनुष्याश्च यद्यव्यपर्यासिका एव मृत्वा मूयोऽपर्यासत्वेनोपपद्यन्ते तथापि तेषा-
 मपर्यासावस्था नैरन्तर्येणोत्कर्षतोऽपि जन्तमुद्धर्तप्रमाणैव लभ्यते, यद्वक्ष्यति 'अपञ्चत्तए ण मते ! अपञ्चत्तएचि काल-
 तो केयधिर होइ ?, गोयमा ! जहन्नेण अतोमुदुत् उक्कोसेणयि अतोमुदुत्' इति, देवदेवीसूत्रे जन्तमुद्धर्तमावना
 नैरयिकन्त पक्तव्या । 'नैरय्यपञ्चत्तए ण मते !' इत्यादि, नैरयिकपर्यास इति—पर्यासो नैरयिक इत्येवमविच्छेदेन
 कालतः कियधिर मयति ?, भगवानाह—गौतम ! जघन्यतो यद्य पर्यसावत्प्रमाणैर्द्वर्तयामि जन्तमुद्धर्तमावना-

पर्यासावस्थार्यां गतत्वात्, अत एवोत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्यन्तमुद्घोर्णानि, तिर्यकश्चरे जघन्यतोऽन्तर्मु-
हर्षभावना प्रागिव, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमान्यन्तमुद्घोर्णानि, एतयोत्कटासुपो वेषकुर्याद्विमाथिनस्त्रिभोऽधिकृत्य
वेदनीय, अन्येषामेतावत्फाल्प्रमाणायाः पर्यासावस्थाया अविच्छेदेनाप्राप्यमाणत्वात्, अत्राप्यन्तर्मुद्घोर्णानि त्वमन्तमुद्घ-
र्षस्याद्यस्यापर्यासावस्थार्यां गतत्वात्, एव तिर्यकस्त्रीमनुष्यमानुपीसुत्रेष्वपि माथनीय । देवदेवीसुत्रयोस्तु जघन्यत
उत्कर्षतश्च फायस्वितिपरिमाण प्रागुक्तमेव अपर्यासावस्थामाथिनाऽन्तर्मुद्घोर्णेन हीन परिमाथनीय । गत गतिभार,
इदानीमिन्द्रियद्वारमभिधिसुरार—

संश्लिष्टं नं मते ! संश्लिष्टं कालतो केवचिरं होइ ?, गोयमा ! संश्लिष्टं दुविष्टं पञ्चसे, तंवाहा—अणारए वा अपञ्चव
सिए अणारए सपञ्चवसिए । एगिदिए न मते ! एगिदिएचि कालतो केवचिरं होइ ?, गोयमा ! जहभेणं
अंतोमुद्रुचं उक्कोसेनं अणंत कालं षणस्सइकालो ॥ वेइदिए नं मते ! येइदिएचि कालतो केवचिरं होइ ?, गोयमा ! जह-
भेणं अंतोमुद्रुचं उक्कोसेनं संखेज्जं कालं । एव वेइदियचउरिदिएचि । पंथिदिए न मते ! पंथिदिएचि कालतो केवचिरं
होइ ?, गोयमा ! जहभेणं अंतोमुद्रुचं उक्कोसेनं सागरोवमसइस्सं साइरेणं । अथिदिए नं पुच्छा, गोयमा ! साइए अपञ्च
वसिए । संश्लिष्टं पञ्चए नं मते ! संश्लिष्टं पञ्चएचि कालतो केवचिरं होइ ?, गोयमा ! जहभेणं अंतोमुद्रुचं उक्कोसेन
सागरोवमसतपुद्रुच साविरेणं । एगिदियपञ्चए नं मते ! पुच्छा, गोयमा ! जहभेणं अंतोमुद्रुच उक्कोसेन संखेज्जं

माससहस्राहं । वेददियपञ्चण्डं पुष्पा, गोयमा ! जहमेण अतोमुदुचं उक्कोसेण संखेज्जवासाह, तेइदियपञ्चण्डं
 पुष्पा, गोयमा ! जहमेण अतोमुदुचं उक्कोसेण संखेज्जाहं, षडरिदियपञ्चण्डं मते ! पुष्पा, गोयमा !
 जहमेण अतोमुदुचं उक्कोसेण संखेजा मासा । पचिदियपञ्चण्डं मते ! पचिदियपञ्चण्डं कालतो केवधिरं होइ ?,
 गोयमा ! जहमेण अतोमुदुचं उक्कोसेण सागरोवमसपपुदुच । सइदियअपञ्चण्डं मते ! पुष्पा, गोयमा ! जहमेणपि
 उक्कोसेणपि अतोमुदुच, एवं जाव पचिदियपञ्चण्डं । दारं ई (सूत्रं २३३)

'सइदिणं मते !' इत्यादि, सहेन्द्रिय यस्य येन वा स सेन्द्रिय, इन्द्रिय च द्विधा—लक्ष्मीन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय च,
 तत्रेह लक्ष्मीन्द्रियमवसेय, तद्विग्रहगतावप्यस्त्रि इन्द्रियपर्यासस्यापि च, ततो निर्बचनसूत्रमुपपद्यते, अन्यथा तदघट-
 मानकमेय स्यात्, निर्बचनसूत्रमेवाह—गौतम ! इत्यादि, इह यः ससारी स नियमात् सेन्द्रियः, ससारभानादिः
 इत्यनादिः सेन्द्रियः, तत्रापि य कदाचिदपि न सेत्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, सेन्द्रियत्वपर्यायस्य कदाचिदप्यव्यय
 ष्ठेरात्, यस्तु सेत्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, मुक्त्यवस्थायां सेन्द्रियत्वपर्यायस्याभावात् । एकेन्द्रियसूत्रे यदुक्त—
 'उक्कोसेय अगत काल' इति तमेवानन्तकाल सविशेष निरूपयति—'यणस्सइकालो' इति, यावान् वनस्पतिकालोऽप्रे
 वस्यते तावन्त काल यावदित्यर्थः, वनस्पतिकार्यैकेन्द्रियः, एकेन्द्रियपदे तस्यापि परिग्रहात्, स च वनस्पतिकालः
 एवप्रमाणः—'मगताओ उस्सप्यिणीओसप्यिणीओ कालओ खेषओ अफता ओगा असखेजा पोगलपरियहा से

ण पोगलपरियद्वा आयलियाए असखेच्चइमाणो' इति हीन्द्रियसूत्रे 'सखेज्ज काल'ति सङ्खेयानि वर्षसहस्राणीत्ययेः,
 'विगळिदियाण य थाससहस्ता सखेज्जा' [विकलेन्द्रियाणां वर्षसहस्राणि सखेयानि] इति षडनात्, एव श्रीन्द्रि-
 यषट्ठरिन्द्रिययोरपि सूत्रे षक्तव्ये, तत्रापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं उत्कर्षत सङ्ख्यकालमिति षक्तव्यमिति भावः, सङ्ख्ये-
 यश्च कालः सङ्खेयानि वर्षसहस्राणि प्रत्येतन्मानि । पञ्चेन्द्रियसूत्रे उत्कर्षतः सातिरेफ सागरोपमसहस्र, तद्य नैरयि-
 कतिर्यकूपञ्चेन्द्रियमनुम्यदेवमवम्रमणेन द्रष्टव्य, अधिक तु न भवति, एतावत एव कालस्य केवलत्रेदसोपलब्धत्वात् ।
 अनिन्द्रियो द्रष्टव्यमापेन्द्रियविकल स च सिद्ध एव सिद्ध साद्यपर्मषसित तस्य उक्त 'साइए अपज्जवसिए' इति ।
 'सइदियअपज्जत्तए ण' इत्यादि, इहापर्यासा लब्ध्यपेक्षया करणापेक्षया च द्रष्टव्या, उभययापि तत्पर्यायस्य जघ-
 न्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, एव तावद्वाच्य यावत्पञ्चेन्द्रियापर्यासक'—पञ्चेन्द्रियापर्यासकसूत्र, तद्य
 सुगमत्वात् स्वय परिभाषनीय, अनिन्द्रियोऽत्र न षक्तव्यः, तस्य पर्यासापर्यासयिद्येपणरहितत्वात् । 'सइदियपज्ज-
 चए ण भत्ते !' इत्यादि, इह पर्यासो लब्ध्यपेक्षया वेदिसम्यः, स हि विग्रहगतापि समवति, करणैरपर्यासस्वापि,
 तत उत्कर्षतः सातिरेफ सागरोपमगुत्तपृथक्त्वमिति यद्भिर्ब्रूषण तदुपपद्यते, अन्यथा करणपर्यासत्वस्योत्कर्षतोऽप्य
 न्तर्मुहूर्त्तानग्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणतया लभ्यमानत्वात् यथोक्त निर्बचन नोपपद्यते, एवमुत्तरसूत्रेऽपि पर्यासत्व
 लब्ध्यपेक्षया द्रष्टव्य । एकेन्द्रियपर्याससूत्रे सङ्खेयानि वर्षसहस्राणीति, एकेन्द्रियस्य हि पृथिवीकायस्योत्कर्षतो

द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवस्वितिः अफ्कायस्य सप्त वर्षसहस्राणि वातकायस्य श्रीणि वर्षसहस्राणि वनस्पतिकायस्य
 दस्र वर्षसहस्राणि ततो निरन्तरकतिपर्ययास्रमवसकलनया सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि घटन्ते इति । द्वीन्द्रियपर्यो-
 तसूत्रे सङ्ख्येयानि वर्षाणि, द्वीन्द्रियस्य हि उत्कर्षतो भवस्वितिपरिमाणे द्वादश सयत्सराणि, न च सर्वेष्वपि मने
 पूष्टशस्वितिसमयः, ततः कतिपर्यनिरन्तरपर्यास्रमवसकलनयापि सङ्ख्येयानि वर्षाण्येव लभ्यन्ते न तु वर्षशतानि
 पर्यसहस्राणि वा । श्रीन्द्रियपर्यास्रसूत्रे सङ्ख्येयानि रात्रिन्द्रिधानि, तेषां च भवस्वितेरुत्कर्षतोऽप्येकोनपञ्चाशद्विनिमा-
 नतया कतिपर्यनिरन्तरपर्यास्रमवसकलनायामपि सङ्ख्येयाना रात्रिन्द्रिधानांमेव लभ्यमानत्वात्, चतुरिन्द्रियपर्यास्रसूत्रे
 सङ्ख्येयानासां, तेषां भवस्वितेरुत्कर्षत पर्यास्रप्रमाणतया कतिपर्यनिरन्तरपर्यास्रमवसकलनायामपि सङ्ख्ये-
 याना मासानां प्राच्यमाकल्प्यात् । पञ्चेन्द्रियसूत्रे सुपम । गतमिन्द्रियद्वार, इदानीं कायद्वारमभिधित्सुराह—

सकाश ए णं मते ! सकाशपि कालो केवचिर होइ ? गोयमा ! सकाश ए दुविदे पमसे, संजहा—अगाइए वा अपज्ज-
 पसिए अवाइए वा सपज्जवसिए ज्जहेण अंतोमुहुच उक्कोसेव दो सागरोवमसहस्वाइ संखेअवाससमग्गमहिमाई, अकाइए
 णं मते ! पुच्छा, गोयमा ! अकाइए तापिए अपज्जवसिए, सकाइएअपज्जए ण पुच्छा, गोयमा ! ज्जहेणपि उक्कोसेवसि
 अंतोमुहुचं, एवं जाव तसकाइएअपज्जए । सकथययत्ताए पुच्छा, गोयमा ! ज्जहेण अंतोमुहुचं उक्कोसेण सागरोवम-
 सयपुइएणं सातिरेग. इडविकाइए णं पुच्छा. गोयमा ! ज्जहेण अंतोमुहुचं उक्कोसेणं काणं अग्गजेअजाओ सपम-

प्यिओसपिणीओ कालतो खेचतो असंखेसा लोगा, एवं आउतेउवाउकाइयावि, वणस्तइकाइया ण पुच्छा, गोयमा !
 जहभेणं अंतोमुद्रुचं उक्कोसेणं अणंतं फालं अणंताओ उस्तप्यिणिवसप्यिणिओ कालओ खेचओ अयंता लोगा असंखेसा
 पुगलपरियहा ते ण पुगलपरियहा आवलियाए असंखेज्जइमागो ! पुढधिकाइए पज्जए पुच्छा, गोयमा ! जहभेणं अंतो-
 मुद्रुचं उक्कोसेमं संखेज्जाइ वाससहस्साइ, एव आउवि, तेवकाइए पज्जए पुच्छा, गोयमा ! जहभेण अंतोमुद्रुच उक्कोसेणं
 संखेज्जाइ राइदियाइं, वाउकाइएपज्जए ण पुच्छा, गोयमा ! जहभेण अंतोमुद्रुचं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइ,
 वणस्तइकाइएपज्जए पुच्छा, गोयमा ! जहभेण अंतोमुद्रुच उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं, तसकाइएपज्जए पुच्छा,
 गोयमा ! जहभेणं अंतोमुद्रुचं उक्कोसेणं सागरोबमसयपुद्रुचं साविरेणे दारे ङं । (सूत्रं २३४)

'सकाइए ण मते !' इत्यादि, सह कायो यस्य येन वा स सकायः सकायः सकायः सकार्यिकः आर्पत्यात् स्वार्थे इक-
 प्रत्ययः, कायः—शरीर, तथौदारिकथैक्रियाहारकतैजसकर्मणमेवात् पञ्चबा, तत्रेह कर्मण तैजस वा द्रष्टव्य, तस्यै-
 वाऽऽससारमाधात्, मन्यथा विग्रहगतौ यर्चमानस्य शरीरपर्यात्या पर्यासस्य च श्रेपधरीरासमवादकायिकत्व स्यात्,
 तथा च सति निर्वचनसूत्रप्रतिपादित द्वैबिध्य नोपपद्यते, अथ निर्वचनसूत्रमाह—'सकाइए दुधिहे पन्नत्ते' इत्यादि,
 तत्र यः ससारपारगामी न भविष्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः फदाचिदपि तस्य कायस्य व्यषष्टेदासमवात् यस्तु
 मोक्षमधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः तस्य मुक्त्यवस्थाममये सर्वोत्मना शरीरपरित्यागात्, पृथिव्यतेजोवायुवनस्य-

तिस्रश्रुषि सुगमानि, अन्यत्रापि तदर्थस्य प्रतीतत्वात्, तथा चोक्तं—'असखोसपिणिओसपिणीओ एगिदियाण
 उ वउण्ह । ता खेव उ अणत्ता षणत्सईए उ षोद्धवा ॥ १ ॥ [असख्या उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एकेन्द्रियाणां चतु-
 र्णां । ता एषानन्ता वनस्पतौ षोद्धव्याः ॥ १ ॥] ननु यदि वनस्पतिकालप्रमाणं असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्चस्वितो
 यद्वीयते सिद्धान्ते—मरुदेवाजीवो यामखीवभाष वनस्पतिरासीदिति, तत्कथं स्यात् ? , कथं वा वनस्पतीनामना-
 दित्त्वं, प्रतिनियतकालप्रमाणतया वनस्पतिमाचक्षानादित्त्वविरोधात्, तथाहि—असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्चस्वेषाम
 वक्ष्यानमान, तत एतावति कालेऽतिक्रान्ते नियमात् सर्वेऽपि कायपरावर्चं कुर्वन्ते, यथा स्वस्थितिकालान्ते सुरादय ,
 उक्तं च—'अहं पुग्गलपरियद्वा सख्खाईया षणत्सईकालो । तो अषतवणस्सईणमणाइयत्तमहेतुओ ॥ १ ॥ न य
 मरुदेवाजीवो जावखीव षणत्सई आसी । जमसखेजा पुग्गलपरियद्वा तत्पडवत्तयाण ॥ २ ॥ कालेणवइएण जम्हा
 कुषति काययत्तइ । सर्वेपि षणत्सईणो ठिइकाल्ते अहं सुराई ॥ ३ ॥ [यदि पुद्गलपरावर्चाः सख्यातीता वनस्प
 तिकालः । तदाऽऽत्यन्तवनस्पतीनामनादित्त्वमहेतुक ॥ १ ॥ न च मरुदेवाजीवो यावज्जीव वनस्पतिरासीत् ।
 यदसख्येयाः पुद्गलपरावर्चासिप्रावस्थान ॥ २ ॥ कालेनैतावता यस्मात् कुर्वन्ति कायपरावर्चं । सर्वेऽपि वनस्पतयः
 स्थितिकालान्ते यथा सुराद्याः ॥ ३ ॥] किं च—एष यद्वनस्पतीनां निर्लेपनमागमे प्रविपिद्धं तदपीदानीं प्रसक्त,
 कथमिति चेद् ? , उच्यते, इह प्रसिसमयमसङ्ख्येया वनस्पतिभ्यो जीवा उद्धर्षन्ते वनस्पतीनां च कावस्थितिपरि

भाणमसद्भेयाः पुद्रलपरायर्षास्तौ षाषन्दोऽसद्भयपु पुद्रलपरायर्षेणु समपास्वरम्यस्त्रा पृकसमपावृ पा ३७७
 ममन्ति तापत्यरिमाणमागत वनस्पतीनां, ततः प्रतिनियतपरिमाणतया सिद्ध निर्देषन, प्रतिनियतपरिमाणत्यादेय
 च गच्छता कालेन सिद्धिरपि सर्वेषां मभ्यानां प्रसक्ता, तत्रप्रसक्तौ च मोक्षपयव्यवच्छेदोऽपि प्रसक्तः, सर्वमभ्यसि-
 द्विगमनानन्तरमन्यस्य सिद्धिगमनायोगात्, आह च—“कायद्विष्कालेण तेसिमसंखेज्जवाषधारेण । निष्ठेभणमाषन्न
 सिद्धीपि य सवमषाण ॥ १ ॥ पइसमयमसखेज्जा जेणुषहृति तो तदम्भया । कायद्विष्कालेण तेसिमसंखेज्जवाषधारेण । निष्ठेभणमाषन्न
 परिमाण ॥ २ ॥ [कायस्थितिकालेन वेयामसंखेयकापधारेण । निर्देषनमापन्न सिद्धिरपि च सर्वमभ्यानां ॥ १ ॥
 प्रतिसमयमसस्येया येनोद्धर्षन्ते ततस्त्रदम्बस्त्राः । कायस्थितेः समयाः पनस्पतीनां च परिमाण ॥२॥] न चैतदस्ति,
 यनस्पतीनामनादित्वस्य निर्देषनप्रतिषेधस्य सर्वमभ्यासिसिद्धेर्मोक्षपयान्यव्यवच्छेदस्य च तत्र तत्र प्रदेसे; सिद्धान्तेऽपिधा-
 नात्, उच्यते, इह द्विविधा जीवाः—सांख्यवहारिका असांख्यवहारिकाश्चेति, तत्र ये निगोदावषयात् उद्धृत्य पृथि-
 वीकायिकादिभेदेषु धर्षन्ते ते लोकेषु वृष्टिपयभागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिग्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका
 उच्यन्ते, ते च यद्यपि मूयोऽपि निगोदावष्यामुपयान्ति तथापि ते सांख्यवहारिका एव, सम्यवहारे पतितत्वात्,
 ये पुनरनादिकालादारम्य निगोदावष्यामुपगता एषावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपयातीतत्यादसांख्यवहारिकाः, कथमे-
 तदपवर्षीयते ? द्विविधाः जीवाः सांख्यवहारिकाः असांख्यवहारिकाश्चेति, उच्यते, युक्तिवशात्, इह प्रत्युत्पन्नवन-

स्वप्तीनामपि निर्लेपनमागमे प्रतिपिद्धं, किं पुनः सकलधनस्पतीनां, तथा मन्थानामपि, य(त)च्च यद्यसंन्यवहारि-
 करान्निपतिता अत्यन्तधनस्पतयो न स्युः ततः कथमुपपद्येत ? , तस्मादवसीयते अस्यसंन्यवहारिकराशिरपि
 यद्गतानां वनस्पतीनामनादिता, किं धेयमपि गाथा गुरुपदेशादागता समये प्रसिद्धा—“अल्पि अणता जीवा
 जेहिं न पणो तसाइपरिणामो । तेवि अयताणता निगोयवासं अणुवसति ॥ १ ॥” [सन्त्यनन्ता जीवा येन प्राप्त
 ससादिपरिणामः । तेऽप्यनन्तानन्ता निगोववासमनुवसन्ति ॥ १ ॥] तत इतोऽप्यसंन्यवहारिकराशिः सिद्धः,
 उक्तं च—“पशुप्लवणस्सर्षण निछेवण न मवाण । छुच होइ न त जइ अषतवणस्सई नल्पि ॥ २ ॥ एव-
 मणादिवणस्सर्षणमल्पिसमत्यमो सिद्ध । मणइ [य] इमावि गाहा गुरूवपसागथा समये ॥ २ ॥ अल्पि अणता
 जीवा०” [प्रत्युत्पन्नधनस्पतीनां तथा मन्थाना निर्लेपन न । दुक्तं भवति न तद् यद्यत्यन्तधनस्पतिर्नास्ति ॥ १ ॥
 एवमनादिवनस्पतीनामस्त्वित्थमर्थता सिद्ध । मण्यते चैपाऽपि गाथा गुरुपदेशागता समये ॥ २ ॥] इत्यादि, तत्रेद
 सूत्रं सांन्यवहारिकानविच्छ्रुत्साधसेयं, न चासांन्यवहारिकान्, अविपयत्वात् सूत्रस्य, न चैतत् स्वमनीषिकायिजुम्मित,
 यत आहुः जिनमद्रगजिषुमाभ्रमणपूज्यपादाः—“तद् कायद्विइकालादजो विसेसे पडुष किर जीवे । नाणाइवणस्स
 इणो जे सववहारपाहिरया ॥ १ ॥” [तथा कायस्थितिकालादयो विश्वेयान् प्रतीत्य किल जीवान् । नानादिवनस्प
 तीन् वे सम्यवहारपाणा ॥ १ ॥] अप्रादिसुब्धात् सर्वैरपि जीवैः श्रुतमनन्तश्च स्पृष्टमित्यादि यदस्वामेव प्रज्ञाय-

नायां वक्ष्यति प्रागुक्तं च तत्परिग्रहः, ततो न कश्चिदोपः । असकायसूत्रं सुप्रतीति ॥ एतानेव असकायिकादीन् पर्या-
 सापर्याप्तविशेषणविशिष्टान् चिन्तयन्नाह—‘सकाशयअपञ्चए ण भते !’ इत्यादि, सुगम, नभरं तेजःकायसूत्रे उत्क-
 र्णतः सङ्घेयानि रात्रिन्दिबानीति, तेजःकायस्य हि भवस्थितिरुत्कर्णतोऽपि प्रीणि रात्रिन्दिबानि, ततो निरन्तरक-
 त्तिपपर्याप्तमवकालसकलनायामपि सङ्घेयानि रात्रिन्दिवान्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षाणि वर्षसहस्राणि वा । सम्प्रति
 कायद्वारान्तःप्रवेशसमवाप्तुं सूक्ष्मकायिकादीप्तिरूपयितुकाम आह—

सुदुमे णं भते ! सुदुमेपि कालतो केवचिरं होति !, गो० ! जह० अंतो० उ० असंखेजं काल असंखेजामो उस्सप्पिणि-
 ओसप्पिणीतो कालतो खेसवो असंखेजा लोगा, सुदुमपुढविकाशे सुदुमआउका० सुदुमतेउका० सुदुमवाउका० सुदुम
 यणफ्फकाशे० सुदुमनिगोदेपि अ० अंतोसुदुचं उक्को० असंखेजं कालं असंखिजाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीतो कालतो
 खेपवो असंखेजा लोगा, सुदुमे णं भते ! अपत्तएपि पुच्छा, गो० ! अ० उ० अतोसुदुच, पुढविकाशयआउकायतेउ-
 कायवाउकायवणफ्फकाशरण ए एवं चेद, पत्तसियाणवि एवं केव महा ओदियाणं । वादरे णं भते ! वादरेपि कालतो
 केवचिरं होति !, गो० ! जह० अतो० उक्को० असंखेज कालं असंखेजामो उस्सप्पिणिओसप्पिणीतो कालओ खेचओ
 असुत्तस असंखेजविमाणं, वादरपुढविकाशे णं भते ! पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्को० सत्परि सागरोवमकोठाको-
 ठीतो, एवं वादरआउकाशपवि वाव वादरेतेउकाशपवि वादरवल्लकाशपवि, वादरवणफ्फकाशेते वादर० पुच्छा, गो० !

व० अंतो० उक्तो० असंख्येण कालं व्याध खेचओ अगुलस्स असंखेज्जतिमाग, पत्थेयसरीरवादरवगण्णकारकाइरणं भंते !
 पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्तो० सचरि सागरोवमकोढाकोढीसो । निगोदेणं भवे ! निगोएणि केवधिरं होति ?,
 गो० ! जह० अंतो० उक्तोसेण० अणंताओ उस्सप्यिणिओसप्यिणीओ कालतो खेचवो अट्टाज्जा पोगलपरियट्ठा,
 वादरनिगोदेणं भंते ! वादर० पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्तो० सचरि सागरोवमकोढाकोढीसो । वादरतसकाइयाणं
 भंते ! वादरतसकाइयसि काल० केवधिरं होए ?, गो० ! जह० अंतो० उक्तो० दो सागरोवमसइस्साइ संखेअवासमग्ग-
 हियाइ, एतेसिं चेष अपज्जणगा सभेवि जह० उक्तो० अतो०, वादरपज्जणं भंते ! वादरपज्जण० पुच्छा, गो० ! जह०
 अंतो० उक्तो० सागरोवमसवपुडुचं सातिरेणं, वादरपुडुविकाइयपज्जणं भंते ! वादर० पुच्छा, गो० ! जह० अतो० उक्तो०
 संखिआइं वाससइस्साइं, एवं आठकाइयवि, वेठकाइयपज्जणं भंते ! वेठकाइयपज्जण० पुच्छा, गो० ! ज० अंतो० उक्तो०
 संखिआइं राईदियाइं, वाठकाइयवणस्साइयपथेयसरीरवादरवगण्णकारावे पुच्छा, गो० ! ज० अंतो० उ० संखेआइं
 वाससइस्साइं, निगोवपज्जणंते वादरनिगोदपज्जणं पुच्छा, गो० ! दोण्हवि ज० अन्तो० उक्तो० अंतो० । वादरतसकाइ-
 यपज्जणं भंते ! वादरतसकाइयपज्जणं कालतो केवधिरं होति ?, गो० ! ज० अंतो० उ० सागरोवमसवपुडुचं
 सातिरेणं । दाह०४ (सूत्रं २३५)

'सुडुमे ण भंते !' इत्यादि 'सूस्मः' सूस्मकायिको मइत ! सूस्म इति सुधमत्वपर्यायविक्षिप्तः सप्तव्यवच्छेदेन का-

लतः कियथिर मयति, मगवानाह—गौतम ! 'जहन्नेण'मित्यादि, एतदपि सूत्र सांन्यषट्कारिकजीवविषयमवसातव्य,
 अन्यथा उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालमिति यन्निर्वचनमुक्तं तन्नोपपद्यते, सूक्ष्मनिगोदजीवानामसांन्यषट्कारिकराश्विनिपति
 स्वानामनावितायाः प्रागुपपादितत्वात्, 'स्वेच्छतो असङ्ख्येया लोका' इति, असङ्ख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्र-
 वेक्षापहारे यायत्स उत्सर्षिण्यवसर्षिण्यो भयन्ति ताषत्रमाणा असङ्ख्येया उत्सर्षिण्यवसर्षिण्य इत्यर्थः । सूक्ष्मवन-
 स्पतिकायसूत्रमपि प्रागुक्तयुक्तिवशात् सांख्यषट्कारिकजीवविषय व्याख्येय । तथा सूक्ष्माः सामान्यतः पृथिवीकायि
 कादियिज्ञेयवशिष्टाश्च पर्यासा अपर्यासाश्च निरन्तर मयन्तो जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तं काल यावत् न पर-
 मपि, ततस्त्रयिपयसूत्रकवन्बके सर्वत्रापि जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तमुक्ते, भावरसामान्यसूत्रे यदुक्तम् 'असङ्ख्ये
 ज्वफाल' तस्य विज्ञेयनिरूपणार्थमाह—असङ्ख्येया उत्सर्षिण्यवसर्षिण्यः, इव कालतः परिमाणमुक्तं, क्षेत्रत्र आह—
 'अगुलस्स असङ्ख्येयभागो' इति, अङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागः, किमुक्तं मयति ?—अङ्गुलस्यासङ्ख्येयतमे भागे यावन्त
 आकाशप्रदेशेषां प्रतिसमय एकैकप्रदेशापहारे यायन्त्योऽसङ्ख्येया उत्सर्षिण्यवसर्षिण्यो भवन्ति तावत्स इति,
 अथ कर्षं अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रस्यापि प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे असङ्ख्येया उत्सर्षिण्यवसर्षिण्यो लगन्ति ?,
 उच्यते, क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्, उक्तं च—“सुदुमो य होइ फालो तत्तो सुदुमयरय इयइ खिच”मित्यादि, [सूक्ष्ममव
 मयति कालस्वतः सूक्ष्मतरक मयति क्षेत्र] एतच्च भावरवनम्पतिकायापेक्षयाऽवसातव्य, अन्यस्य चादरस्यैतावत्का-

यस्थितेरसम्मवात्, श्रेयसूत्राणि द्वारसमार्तिं यावत् सुगमानि । गतं कायद्वारम्, इदानीं योगद्वारमभिविस्तुराह—
सजोगी नं मते ! सजोगिणि काल० ? गो० ! सजोगी दुषिहे प०, स०—अषादीए वा अपञ्चवसिते अणादीए वा
सपञ्चवसिते, मणजोगी नं मते ! मणजोगीणि कालतो० ? गो० ! ज० एक समयं उक्खो० अतो०, एवं वज्जोगीवि,
कायजोगी नं मते ! काल० ? गो० ! जहक्षेणं अतो० उक्खो० षण्फ्फकालो, अजोगी णं मते ! अजोगिणि कालजो
केवधिरं होति ? गो० ! सादीए अपञ्चवसिते । द्वारं पं (सूत्र २३६)

‘सजोगी नं मते !’ इत्यादि, योगाः—मनोपाषायव्यापाराः, योगा एषा सन्तीति योगिनः मनोपाषायाः सह
योगिनो यस्य येन या स सयोगी, अत्र निर्धचन ‘सजोगी दुषिहे प०’ इत्यादि, अनाद्यपर्यवसितो यो न जातुचिदपि
मोक्ष गन्ता स हि सर्वकालमवश्यमन्यतमेन योगेन सयोगी ततोऽनाद्यपर्यवसितो, यस्तु मास्यति मोक्ष सोऽनादिस-
पर्यवसितः, मुक्तिपर्यायप्रादुर्भावे योगस्य सर्वथापगमात्, मनोयोगिसूत्रे जघन्यतः एक समयमिति—यदा कश्चिदोवा-
रिक्काययोगेन प्रथमसमये मनोयोग्यान् पुद्गलानावाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणमम्य सुखति तृतीयसमये चोपरमते
त्रिपते वा तदा एक समय मनोयोगी लभ्यते, उत्कर्षतोऽन्तर्मुद्घर्षे, निरन्तर मनोयोग्यपुद्गलाना प्रवृत्तिनिर्गमौ कुर्वन्
तत ऊर्ध्वं सोऽवश्य जीवत्वामाव्यादुपरमते, उपरम्य च मूयोऽपि प्रवृत्तिनिर्गमौ करोति, पर कालचौस्म्यात् कदा-
पिच स्वसुषेदनपथमायाति, तत उत्कर्षतोऽपि मनोयोगोऽन्तर्मुद्घर्षमेव, एवं ‘अव्यजोपीषि’ इति, एव मनोबोगीव

वाग्योग्यपि वक्तव्य, तद्यथा—'वज्रयोगी नं मते । वज्रयोगीति कालजो केषचिरे द्वेति ? गो० । अह० एष समय
 उक्तो० अतोमुत्तमिति तत्र यः प्रथमसमये काययोगेन भाषायोग्यानि प्रव्याणि यद्वाति द्वितीयसमये तानि
 मापात्वेन परिणमय्य मुञ्चति तृतीयसमये चोपरमते त्रियते वा स एक समय वाग्योगी लभ्यते, आह च मूल-
 टीकाकारः—'पहमसमये कायजोगेण गहियाण मासावबाण बिइयसमये वज्रजोगेण निसग काकण उयरमतस्व
 मरतस्व वा यगसमयो लम्भइ' इति, वन्तमुद्धर्त्ते निरन्तर ग्रहणनिसर्गो कुर्वन् तदनन्तर चोपरमते, तथाजीव-
 स्वामान्वात्, काययोगी जवन्त्यतोऽन्तमुद्धर्त्तेमिति, इह द्वीन्द्रियादीनां वाग्योगोऽपि लभ्यते, सत्रिपथेन्द्रियाणा मनो-
 योगोऽपि ततो यदा वाग्योगो भवति मनोयोगो वा तदा न काययोगप्राधान्यमिति सादिसपर्यथसितत्वभावात्
 जयन्त्यतोऽन्तमुद्धर्त्ते काययोगी लभ्यते, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स च प्रागेवोक्तः, वनस्पतिकार्यिकेषु रि काय-
 योग एव केषजो न वाग्योगो मनोयोगो वा, ततः त्रेपयोगसम्भवात्कायस्थितेः सतत काययोग इति मत,
 जयोगी च सिद्धः, स च साधपर्यथसित इत्ययोगी साधपर्यथसित उक्तः । गत योगद्वारमिदानीं वेदद्वार प्रतिपि-

पादयिपुराह—

सवेदए नं मते ! सवेदएचि० ? गो० ! सवेदए चिविधे पं०, तं०—अगादीए वा अपज्जवसिते अगादीए वा सपज्जव-
 सिए सादीए वा सपज्जवसिए, तत्थ नं वे से सादीए सपज्जवसिए से अह० अंतो० उक्तो० अर्गतं काल जगंसाओ उस्त-

प्पिबिओसप्यिणीतो कालतो खेपतो अवहुं पोगलपरिमहं देसुणं, इत्थिवेदे ण मते ! इत्थिवेदेपि कालं?, गो० ! एगेणं
 आदेसेणं जह० एकं समयं उक्को० दसुत्तरं पलिओवमसतं पुबकोट्टिपुट्टमम्महियं?, एगेणं आदेसेणं जह० एग समयं
 उक्को० अट्टारसपलितोबमाई पुबकोट्टिपुट्टमम्महियाई २, एगेणं आदेसेणं ज० एगं समयं उक्को० षउत्तस पलिओवमाई
 पुबकोट्टिपुट्टमम्महियाई ३, एगेणं आदेसेणं ज० एगं समयं उक्को० पलिओवमसतं पुबकोट्टिपुट्टमम्महियं ४, एगेणं
 आदेसेणं जह० एग समय उक्को० पलितोबमपुट्टं पुबकोट्टिपुट्टमम्महियं ५, पुरिसवेदे णं मते ! २?, गो० ! जह०
 अंतो० उक्को० सागरोवमसतपुट्टं सातिरेगं, नपुसगवेए णं मते ! नपुसगवेदेपि, पुच्छा, गो० ! ज० एग समयं
 उक्को० षणस्सइकलो, अवेदए णं मते ! अवेदे इविवे पं०, तं०—सादीए वा अपल्लवसिए
 साइए वा सपल्लवसिते, तत्त णं जे से साइए सपल्लवसिते से जहण्णेणं एगं समयं उक्को० अंतो० । दारं ४(सूत्रं २३७)

‘सवेदए ण मते’ इत्यादि, सह वेदो यस्य येन वा स सवेदकः, ‘क्षेपाद्धे’ति कप्रत्ययः, स च त्रिविधः, तथाया—
 अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः सादिसपर्यवसितश्च, तत्र च’ उपश्रमध्रेणि क्षपकध्रेणि वा जातु—कदाचिदपि न
 प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, कदाचिदपि तस्य वेदोदयम्वच्छेदासम्मवात्, यस्तु प्राप्स्यति उपश्रमध्रेणि क्षपक-
 ध्रेणि वा सोऽनादिसपर्यवसितः, उपश्रमध्रेणिप्रतिपत्तौ क्षपकध्रेणिप्रतिपत्तौ वा वेदोदयम्वच्छेदस्य मायित्वात्,
 यस्तपश्रमध्रेणि प्रतिपद्यते तत्र चावेदको मृत्वा मय उपश्रमभेभीतः प्रतिपत्तन् सवेदको भवति स सादिसपर्यवसितः;

स च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, कथमिति चेत्?, उच्यते, इह यदा कोऽपि उपश्रमश्रेणिं उपपद्य त्रिविधमपि वेदमुपश्रम-
स्यावेदको भूत्वा पुनरपि श्रेणीतः प्रतिपत्तन् सवेदकत्वं प्राप्य ऋटित्युपश्रमश्रेणिं कार्मप्रान्त्यिकाभिप्रायेण ऋपकश्रेणिं वा
प्रतिपद्यते प्रतिपद्य च वेदत्रयमुपश्रमयति ऋपयति वा अन्तर्मुहूर्त्तेन तदा जघन्येनान्तर्मुहूर्त्ते सवेदकः उत्कर्षतोऽपार्द्ध-
पुत्रलपरावर्त्तं देशेन, अपगतमर्द्धं यस्य सोऽपार्द्धः देशेनः—किञ्चिद्भूतः, उपश्रमश्रेणितो हि प्रतिपत्तित एतायन्त
काल सप्तारे पर्यटति, ततो ययोः फलुत्कर्षतः सादिसपर्यवसितस्य सवेदकस्य कालमानमुपपद्यते । स्त्रीवेदविषये च
पञ्चादेश्वास्त्रान् क्रमेण निरूपयति—‘एगेण आवेसेण’मित्यादि, तत्र सर्वत्रापि जघन्यतः समयमात्रभायनेय—का-
चित् युपतिरुपश्रमश्रेण्यां वेदत्रयोपश्रमेनावेदकत्वं मनुभूय ततः श्रेणेः प्रतिपत्तन्ती स्त्रीवेदोदयमेकसमयमनुभूय द्विती
यसमये काल कृत्या देवेषूपपद्यते, तत्र च तस्याः पुस्त्यमेव न स्त्रीत्वं तत एव जघन्यतः समयमात्रं स्त्रीवेदः, उत्क-
र्षवितायामिव प्रथमादेश्वास्त्रायना—कश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चपान् भवान् अनु-
भूय ईशाने कल्पे पञ्चपञ्चाशत्प्रमाणपत्योपमोत्कृष्टस्थितिष्वपरिगृहीतासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नस्वतः स्यादुः
क्षये स्युत्वा मूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्वतो मूयोऽपि द्वितीय धार ईशाने
देवलोके पञ्चपञ्चाशत्पत्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कासुपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नस्वतः परमवश्यं वेदान्तरमेव
गच्छति, एव वशोऽपर पत्योपमश्चत पूर्वकोटिपृष्ठपञ्चाश्वधिकं प्राप्यते, अत्र पर आह—तनु यदि देवकुलुषरकुर्वा-

द्विपु पत्योपमप्रवस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये समुपपद्यते ततोऽधिकाऽपि स्त्रीवेदस्य स्थितिरयाप्यते, ततः किमित्येता-
 पत्योपदिष्टाः, तदनुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्, तथाहि—इह तावदेवीम्यभ्युत्या असह्येयवर्षायुष्कासु स्त्रीषु मध्ये
 नोत्पद्यते, देययोनिभ्युतानां असह्येयवर्षायुष्केषु मध्ये उत्पादप्रतिषेधात्, नाप्यसह्येयवर्षायुष्का सती योपित्
 उत्कृष्टासु देवीषु जायते, यत् उक्त मूलटीकाकृता—“अत्रो असह्येयवासाडया उक्तोसद्विर् न पावेद” इति,
 ततो पयोक्त्रमाणैयोत्कृष्टा स्थितिः स्त्रीवेदसायाप्यते, द्वितीयादेशवादिनः पुनरेयमाहुः—नारीषु तिरस्त्रीषु वा
 पूर्णोद्यायुष्कासु मध्ये पञ्चपान् मवान् अनुभूय पूर्वप्रकारेणैयानवेदलोकेषु धारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीषु मध्ये
 उत्पद्यमाना नियमतः परिगृहीतासेयोत्पद्यते नापरिगृहीतासु ततस्त्रन्मतेनोत्कृष्टमयस्थान स्त्रीवेदसायाद्वय पत्योप-
 मानि पूर्वकोटिपुपत्य च, तृतीयादेशवादिनां तु सौयर्मदेवलोके परिगृहीतासु सप्तपत्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कासु
 धारद्वय समुत्पद्यते, ततस्त्रन्मतेन षट्पूर्व पत्योपमानि पूर्वकोटिपुपत्याम्यधिकानि स्त्रीवेदस्य स्थितिः, षट्पूर्वदेश-
 पादिनां तु मतेन सौयर्मदेवलोके पद्याद्यत्पत्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कासुपरिगृहीतदेवीष्वपि पूर्वप्रकारेण धारद्वय देवी-
 त्वेनोत्पद्यते, ततस्त्रन्मतेन पत्योपमद्यत पूर्वकोटिपुपत्याम्यधिकमयाप्यते, पद्यमादेशवादिनः पुनरिदमाहुः—नाना-
 मप्रमाणद्वारेण यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमयस्थान चिन्त्यते तर्हि पत्योपमपुपत्यमेव पूर्वकोटीपुपत्याम्यधिक प्राप्यते
 न ततोऽधिक, कथमेतदिति चेत् ?, उच्यते, नारीषु तिरस्त्रीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्त मयान्तुमुत्कृष्टमयमे

देयकुर्वावितु त्रिपत्योपमस्थितिषु स्त्रीमध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्यते, ततो मृत्वा सौधर्मे देवलोके ष्वन्वत्खितिकासु
 देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते, तदनन्तर घावस्य वेदान्तरमभिगच्छति इति, अमीयां पञ्चानामावेदानामन्यतमावे-
 श्वसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयत्रयानिभिः सर्वोत्कृष्टयुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते, ते च मगधदार्यद्रयामप्रतिपत्तौ
 नासीरन्, केवल तत्कालोपेक्षया ये पूर्वतमाः सूरयस्रत्कालमाविग्रन्त्यपौर्षोपर्यर्षोलोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य
 स्थितिं प्ररूपितयन्तस्त्रेयां सर्वेयामपि प्राषचनिकसूरीणां मतानि मगधानार्यद्रयाम उपविष्टवान्, तेऽपि च प्राषचनि-
 कसूरवः स्वमतेन सूत्र पठन्तो गौतमप्रभमगवस्त्रिष्वेधनरूपतया पठन्ति, ततस्त्रदवस्थान्येव सूत्राणि लिखता गौतमा !
 इत्युक्तं, अन्यया मगधति गौतमाय निर्देष्टरि न सधयकथनमुपपद्यते, मगधतः सकलसशुभातीतत्वात्, पुरुषवेदसूत्रे
 जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति, यदा काश्मिदन्यवेदेभ्यो जीवेभ्य उद्धृत्य पुरुषवेदेपूत्यद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं सर्षायुर्जीवित्वा
 गत्सन्तरे बन्धवेदेषु मध्ये समुत्पद्यते तदा पुरुषवेदस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमवस्थान लभ्यते, उत्कृष्टमान कण्ठ्यं
 [ग्रन्थ्यात्र १००००], ननुसकवेदसूत्रे जघन्यतः एकः समयः स्त्रीवेदस्येव भावनीयः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स च
 प्रागेयोक्तः, एतच्च सांख्यषडारिकजीवानधिष्ठस्य यदा चिन्ता क्रियते यदा त्वसांख्यषडारिकजीवानधिष्ठस्य चिन्ता
 क्रियते तदा द्विविधा नपुस्रकवेदाश्चा, काश्मिदधिष्ठानाद्यपर्यवसाना, ये न जातुचिदपि सांख्यषडारिकाराधौ निप-
 तिव्यन्ति, काश्मिदधिष्ठस्य पुनरनादिसपर्यवसाना, ये असांख्यषडारिकाराधेः कृत्य सांख्यषडारिकाराधावागमिष्यन्ति,

अथ किमसंन्यवहारिकराशेरपि विनिर्गत्य सांन्यवहारिकराशावागच्छन्ति येनैव प्ररूपणा क्रियते ? उच्यते, आगच्छन्ति, कथमेतदयसेयमिति चेत् ? उच्यते, पूर्वाचार्योपदेशात्, तथा चाह दुष्पमान्वकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान् जिनमद्रगणिसुमाश्रमण—“सिञ्चति जचिया किर इह सववहारजीवरासीओ । एति अणाइवणस्सइरासीओ तच्चिया तमि ॥ ६॥” [सिच्यन्ति यायन्तः फिल इह सांन्यवहारिकजीवराशेः । आयान्ति अनाविषनस्पतिरान्त्रितस्नायन्तस्सस्मिन्] ॥ ४ ॥ अवेदको द्विधा—साद्यपर्ययसितः सादिसपर्ययवसितश्च, तत्र यः क्षुपकश्रेणिप्रतिपद्यायेदको भवति स साद्यपर्ययसितः, क्षुपकश्रेणेः प्रतिपातासम्भवात्, यस्तूपश्रमश्रेणि प्रतिपद्यावेदको जायते स सादिसपर्ययवसित, स च जयन्येनैक समय, कथमेक समयमिति चेत् ? उच्यते, यदा एकसमयमवेदको मूल्या द्वितीयसमये पञ्चत्वमुपागच्छति तदा तस्मिन्नेव पञ्चत्यसमये देवेपूत्पन्नः पुरुषवेदोवयेन सेवेदको भवति, तत एव जयन्यत एक समयमवेदकः, उत्कर्षतोऽन्तर्मुद्घर्षे, परतोऽवशय श्रेणीतः प्रतिपाते वेदोदयसम्भवात् इति । गत वेदद्वारमिदानीं कपायद्वार, तत्रेदमादिसूत्रम्—

सकसाई णं भंते ! सकसादिपि कालं ? गो० ! सकसाती विविधे प०, वं०—अपावीए वा अपज्जवसिते अणादीए वा सपज्जवसिते सादीए वा सपज्जवसिते जाव अवहुं पोगलपरियट्ठं देघुणं, कीहकसाई णं भंते ! पुच्छा, गो० ! सह० उष्ठी० अतोघुदुच, एवं जाव माणमायकसाती, लोमकसाई णं भंते ! लोम० पुच्छा, गो० ! जह० एक समयं उष्ठी०

अंतोऽहं, अकसाई ण भते ! अकसादीदिषि कालं ? गो० । अकसादी दुविदे पं०, व०-सादीए वा अपज्जवसित्ते सादीए वा सपज्जवसित्ते, तस्य णं जे से सादीए सपज्जवसित्ते से जइ० एगं समय उक्खो० अंतो० । वारं ७ । (सूत्रं २३८)

‘सकसाई ण भते !’ इत्यादि, सह कपायो येषां यैर्धां ते सकपाया—जीवपरिणामविशेषास्ते विद्यन्ते यस्य स सकपायी, इद सकलमपि सूत्र सर्वदसूत्रवदविशेषेण भावनीय, समानमावेनोक्तत्वात्, ‘कोहकसाई ण भते !’ इत्यादि, अव्यन्तोऽप्यन्तमुद्गर्चं इति उत्कर्षतोऽप्यन्तमुद्गर्चमिति—क्रोधकपायोपयोगस्य अव्यन्त उत्कर्षतो वाऽन्तमुद्गर्चप्रमाणत्वात्, तथाजीवस्वामाभ्यात्, इदं च सूत्रचतुष्टयमपि विशिष्टोपयोगापेक्षमिति, लोभकपायी अव्यन्तैक समयमिति, यदा फण्डिपुपशमक उपशमश्रेणियपर्यवसाने उपशान्तधीतरागो मूत्वा श्रेणीत प्रतिपतन् लोभाणुप्रथमसमयं सवेदनकाल एव कालं कृत्वा देवलोकैकपूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकपायी मानकपायी मायाकपायी वा भवति तदा एक समय लोभकपायी लभ्यते, अथैव क्रोधादिव्येकसमयता कस्मान्न लभ्यते ? उच्यते, तथास्वामाभ्यात्, तथाहि—श्रेणीतः प्रतिपतन् मायाणुवेदनप्रथमसमये मानाणुवेदनप्रथमसमये क्रोधाणुवेदनप्रथमसमये पा यदि कालं करोति कालं च कृत्वा देवलोकैकपूत्पद्यते तथापि तथास्वामाभ्यात् येन कपायोदयेन कालं कृतवान् तमेव कपायोदयं तत्रापि गतः सन्नन्तमुद्गर्चमनुवर्षयति, एतथावसीयते अधिकृतसूत्रप्रामाण्यात्, ततोऽनेकसमयता क्रोधादिव्यति । अकपायसूत्रं येदसूत्रमपि भावनीय । गतं कपायद्वारमधुना लेश्याद्धार, तत्रेदमादिसूत्रम्—

सलेसे णं मते ! सलेसेषि पुच्छा, गो० ! सलेसे दुखिसे यं०, तं०—अणादीए षा अपज्जवसिते अणादीए षा सपज्जव-
 सिसे, कण्हलेसे ण मते ! कण्हलेसेचि कालतो केवचिरं होइ १, गो० ! जह० अंतो० उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतो-
 म्मुदुपमम्महियाइं, नीललेसे णं मते ! नीललेसेषि पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्को० दस सागरोवमाइं पलितोवमा-
 संखिज्जहमागमम्महियाइं, काललेसे णं पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्को० तिष्णि सागरोवमाइ पलितोवमासंखिज्जति-
 मागमम्महियाइं, तेतलेसे णं पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्को० दो सागरोवमाइ पलितोवमासंखिज्जतिमागमम्महि-
 याइं, पम्मलेसे ण पुच्छा, गो० ! जह० अंतो० उक्को० दस सागरोवमाइं अंतोम्वुदुपमम्महियाइं, सुक्कलेसे णं पुच्छा०,
 गो० ! जह० अंतो० उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोम्वुदुपमम्महियाइं, अलेसे णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपज्जव-
 सिसे । दारं ट । (सूत्रं २३९)

'सलेसे ण मते' इत्यादि, सह लेख्या यस्य येन वा स सलेख्यः, स द्विविधः प्रज्ञसः, तद्यथा—अनादिरपर्यवसितो
 यो न जातुचिदपि ससारम्यपच्छेद कर्त्तुं अनादिसपर्यवसितो यः ससारपारगामी, 'कण्हलेसे ण मते !' इत्यादि,
 इदं तिरस्त्रां मनुष्याणां च लेख्याद्रम्याण्यन्तर्मुहूर्त्तचिकानि, ततः परमवश्य लेख्यानंतरपरिणामं भजन्ते, देवनैरयिकाणां
 तु पर्यमपथरमान्तर्मुहूर्त्तार्त्तदारम्य परमवाथमन्तर्मुहूर्त्तं यावत् अवस्थितानि ततः सर्वत्र जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्मनुष्या-
 पेक्षया द्रष्टव्यमुत्कृष्ट देवनैरयिकापेक्षया, तत्र विचित्रमिति माव्यते, तत्र यदुक्तं—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मु-

दृष्टान्म्यधिकानीति तत्सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया द्रष्टव्य, तत्रत्या हि नैरयिकाः कृष्णलेश्याकाः, तेषां च स्थितिरुच्छ्रष्टा
 प्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, यत्तु पूर्वोत्तरमवगते ययाक्रमं चरमाथे अन्तर्मुद्गर्चे ते द्वे अप्येक, अन्तर्मुद्गर्चेत्यासङ्घातभेद-
 भिन्नत्वात्, तथा चान्यत्रान्युक्तम्—‘मुद्गचद्व द्वे जहद्वा तिचीसं सागरा मुद्गचद्विया । उच्छोसा होइ ठिई नायवा
 कण्ठलेसाए ॥१॥ [मुद्गर्चार्थं तु जघन्या त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युच्छ्रष्टा । मुद्गर्चाधिका भवति स्थितिः कृष्णलेश्यायाः
 ॥ १ ॥] अत्र ‘मुद्गचद्विया’ इति चूर्णिकृता व्याख्यातमन्तर्मुद्गर्चाधिकेति, नीलेश्यासूत्रे यानि दश सागरोपमाणि
 पत्योपमासङ्घेयमागाम्यधिकान्युक्तानि तानि पञ्चमपृथिव्यपेक्षया वेदितव्यानि, तत्र हि प्रथमप्रसूटे नीलेश्या
 ‘पचमियाप मीसा’ [पचम्वां मिथा] इति पचनात्, तस्मिंश्च प्रथमप्रसूटे स्थितिरुत्कर्षत एतावती, ये तु पूर्वोत्तर-
 मवगते अन्तर्मुद्गर्चे ते पत्योपमासङ्घेयमागे एवान्तर्गते इति न पृथग्विषयव्यतिरेकः, एयसुत्तरत्रायि द्रष्टव्यं, कापोत्तलेश्या-
 सूत्रे त्रीणि सागरोपमाणि पत्योपमासङ्घेयमागाम्यधिकानि तृतीयनरकपृथिव्यपेक्षयाऽवसातव्यानि, तृतीयपृथि-
 न्यामपि प्रथमप्रसूटे कापोत्तलेश्याया मायात्, ‘तईयाप मीसिया’ [तृतीयस्यां मिथा] इति पचनात् तत्र चोत्कृष्ट-
 स्थितेरेतायत्याः सम्मयात्, तेजोलेश्यासूत्रे द्वे सागरोपमे पत्योपमासङ्घेयमागाम्यधिके ईशानदेशलोकेदेवापेक्षया
 वेदितव्ये, ते हि तेजोलेश्याका उत्कर्षत एतावत्स्थितिकाः, पञ्चलेश्यासूत्रे दश सागरोपमाणि अन्तर्मुद्गर्चाभ्यधि
 कानि त्रस्रलोकापेक्षया मावनीयानि, तत्र हि देवानां स्थितिरुच्छ्रष्टा दश सागरोपमाणि लेश्या च पञ्चलेश्या, ये च

पूर्वोत्तरभवगते अन्तमुद्भूते ते किलैकमन्तमुद्भूर्धमिति अन्तमुद्भूर्त्तार्थमधिकानीत्युक्तं, शुक्लेश्यासूत्रे त्रयस्त्रिंशत्सागरोप-
 माणि अन्तमुद्भूर्त्तार्थमधिकानि अनुत्तरसुरापेक्षया, तेषामुत्कर्षतः स्थितेः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात्, अन्तमुद्भू-
 र्त्तार्थमधिकत्यभावना च प्राग्वत्, अलेश्यः—अयोगिकेवली सिद्धश्च, ततो न तस्मामप्यवस्थायामलेश्यत्वव्याघात
 इति साधपर्यवसित । गत लेश्याद्वारम्, इदानीं सम्यक्त्वद्वार, तत्रेदमादिसूत्रम्—

सम्मदिद्वी णं मते ! सम्मरि० काल० !, गो० ! सम्मदिद्वी दुविहे प०, तं०—सादीए वा अपञ्जवसिते सादीए वा सप
 छवसिते, तस्य णं जे से सादीए सपञ्जवसिते से जह० अतो० चको० छावट्टि सागरोपमां साशेरां, मिच्छादिद्वी ण
 मंते ! पुच्छा०, गो० ! मिच्छादिद्वी त्रिविधे पं०, तं०—अणाए अपञ्जवसिए वा अणादीए वा सपञ्जवसिए सादीए
 वा सपञ्जवसिए, तस्य णं जे से सादीए सपञ्जवसिते से जह० अतो० उको० अणतं काल अणताओ उस्सण्णिणिओस
 प्पिणीओ कालतो खेत्तवो अवहुं पोग्गलपरिपहं देसूणं, सम्मामिच्छादिद्वी ण पुच्छा, गो० ! जह० अतो० चको० अतो० ।
 वारं ९। (सूत्रं २४०)

‘सम्मदिद्वी ण मते !’ इत्यादि, सम्यग्—अधिपर्यवसा इतिः—जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्इति,
 स चान्तरकरणकालमाधिना औपन्नमिकसम्यक्त्वेन सासादनसम्यक्त्वेन विशुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयसम्मविधायोपग्र
 भिकसम्यक्त्वेन सफलवर्धनमोहनीयस्यसमुत्पत्त्याधिकसम्यक्त्वेन वा द्रष्टव्यो, निर्बचन—सम्यग्इतिर्द्विविधः प्रज्ञप्तः,

तथया—‘साद्यपर्यवसितः’ एष ध्यायिके सम्यक्त्वे उत्पादिते सति वेदितव्यः, तस्य प्रतिपातामायात्, ‘सादिसपर्यवसितः’ एष सायोपश्रमिकाविसम्यक्त्वापेक्षया, तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितः सम्यग्दृष्टिः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्ते, परतो सिध्यात्वगमनात्, उत्कर्षतः पट्टदृष्टिः सागरोपमाणि सात्तिरेकाणि, तत्र यदि वारद्वय विजयाविषु षतुर्व्यप्रतिपतितसम्यक्त्य उत्कृष्टस्थितिको देव उत्पद्यते वेलाप्रथ पाऽप्युत्तदेवलोके ततो देवमवैरेय पट्टदृष्टिः सागरोपमाणि परिपूर्णानि भवन्ति, ये तु मनुष्यभवाः सम्यक्त्वसद्विज्ञानात्तदधिक्या इति तैः सात्तिरेकाणीति, उक्तं च—“दो वारे विजयाद्दु गयस्स तिन्निऽशुद अहव ताइ । अइरेग नरमयिय” इति [द्वे वारे विजयाविषु गतस्य तिल्लो धारा अच्युते ऽपया तानि । अतिरेक नरमधिक] ‘भिञ्जाविट्ठी ण मते’ इत्यादि, मिथ्या—विपर्यया दृष्टिः—जीवारद्वियस्तुतस्वप्नतिपत्तिर्यस्य भक्षितत्पूरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तियत् स मिथ्यादृष्टिः, ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चिद् भक्ष्यं भक्ष्यतया जानाति पेय पेयतया मनुष्य मनुष्यतया पशु पशुतया ततः स कथं मिथ्यादृष्टिः ?, उच्यते, भगवति सर्वज्ञे तस्य प्रत्ययामायात्, इह हि भगवदर्हत्प्रणीत सकलमपि प्रथचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोषयति तदानीमप्येव मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाद्वतः, उक्तं च—“सुत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सुत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥” किं पुनः ज्ञेयो भगवदर्हदभिहितं यथायद् जीवाजीयादिष्वस्तुतस्वप्रतिपत्तिविकलः, ननु सकलप्रथचनार्थमभिरोचनत् तद्गतकतिपयार्थानां धारोचना-

देय न्यायत सम्यग्निमग्न्यादृष्टिरेव मधित्तुमर्हति कथं मिथ्यादृष्टिः ? तदसत्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह यदा सकल वस्तु जिनप्रणीततया सम्यक् भ्रदते तदानीमसौ सम्यग्दृष्टिर्यदा त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा मतिदौर्ब-
 त्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्यापरिज्ञानाभापतो न सम्यक्भ्रदान नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः तदा सम्य-
 ग्निमग्न्यादृष्टि, उक्तं च श्रुतकथुदृष्टौ—“जहा नालिकेरीदीववासिस्स सुहाइयस्सवि एत्थ समागयस्स पुरिसस्स
 ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उभरिं न रुई न प निदा, जेण तेज सो ओयणाइओ आहारो ण
 कयाइ विट्ठो नापि सुवो, एष सम्मामिच्छद्विद्विस्सवि जीवाइयत्थाण उभरिं न य रुई नावि निद”सि, यदा पुनरे-
 कस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा एकान्ततो विप्रतिपद्यते तदा मिथ्यादृष्टिरेवेत्यवोपः, स च त्रिविधः, तद्यथा—अना-
 धर्यपर्यसितोऽनाधिसपर्यवसितः साधिसपर्यवसितश्च, तत्र यः कदाचनपि सम्यक्त्व नावाप्स्यति सोऽनाधपर्यव-
 सित, यस्त्ववाप्स्यति सोऽनाधिसपर्यवसितः, यस्तु सम्यक्त्वमासाद्य भूयोऽपि मिथ्यात्व याति स साधिसपर्यव-
 सितः, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तर कस्यापि भूयः सम्यक्त्वावाप्तेः, उत्कर्षतोऽनन्त काल, तमेवानन्त काल
 द्विधा प्ररूपयति—कालतः क्षेत्रतश्च, तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यसर्धिणीर्यायत्, क्षेत्रतोऽपार्श्वपुद्गलपरावर्त्त-
 देऽनोन, अत्र क्षेत्रत इति निर्देशात् क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः परिभाषो, नतु द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तद्वयः, एष पूर्वोत्तरत्रापि च
 माधनीय, ‘सम्मामिच्छादिद्वी ष’मित्यादि, सम्यग्निमग्न्या दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्निमग्न्यादृष्टिः स जघन्यत उत्कर्षतो

वा अन्तर्गुह्यै, परतोऽवश्य तत्परिणामविष्यसात्, तथा जीयस्वामाव्यात् । गत सम्यक्त्यद्वारभिवानी ज्ञानद्वार, तत्रे-
दमादिसुश्रम्—

णाणी न मते ! आम्बिधि कालः, गो० ! भाषी इविधे पं०, त०—सावीते वा अपञ्जवसिते साइए वा सपञ्जवसिते,
तस्य नं जे से सावीए सपञ्जवसिते से जहण्येणं अतो० उक्को० छावट्टि सागरोवमाइं साइरेगाइं, आमिनिबोहिय्याणी नं मते !
पुच्छा, गो० ! एव वेव, एव सुयणाणीवि, ओहिनानीवि एवं वेव, नवरं जहण्येणं एगं समयं, मणपञ्जवणाणी नं मते !
[पुच्छा] मणपञ्जवणाभिधि कालतो०, गो० ! जह० एगं समय उक्को० देसुजा पुषकोडी, केवलणापी ण पुच्छा, गो० !
सातिए अपञ्जवसिते । अणाभी मतिअणाणी सुतअणाणी पुच्छा, गो० ! अणापी मइअणाणी सुयअणाणी तिविधे
पं०, तं०—अणाइए वा अपञ्जवसिए अणावीए वा सपञ्जवसिते सादीए वा सपञ्जवसिते, तत्य नं जे से सादीए सपञ्ज-
वसिते से जह० अतो० उक्को० अणंतं कालं, अणंताओ तस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो खेतओ अवहुपोगलपरियट्टं
देसुणं, विमंगणाणी णं मते ! पुच्छा, गो० ! जहण्येणं एगं समयं उक्कोसिणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसुणाते पुषकोडीते
अम्महिताइ । दारं श्ठे ॥ (सूत्रं २४१)

‘नाणी ण मते’ इत्यादि, ज्ञानमस्यास्तीति ‘अतोऽनेकस्वरा’वित्तीन्, स द्विधा साद्यपर्यवसितः सादिसपर्यवसितम्,
तत्र केवलज्ञानापेक्षया साद्यपर्यवसितः, प्रतिपात्तामावात्, ज्ञेयज्ञानापेक्षया सादिसपर्यवसितः, ज्ञेयज्ञानानां प्रतिनि-

यतः काष्ठमाधित्यात्, स अपन्येनान्तर्मुद्गत्, परतो मिथ्यात्वगमनेन ज्ञानपरिणामापगमात्, उत्कर्षतः पट्टपट्टिसाग-
रोपमाणि सातिरेकाणि यावत्, तानि सम्यग्दृष्टेरिव मायनीयानि, सम्यग्दृष्टेरिव ज्ञानित्यात्, आभिनियोधिकञ्चानि
मूत्रे 'एयं चेय'ति यथा सामान्यतो ज्ञानी सादिसपर्यवसितो जघन्यत उत्कर्षतश्चोक्तज्ञापाऽऽभिनियोधिकञ्चान्यपि
यक्तव्यः, स वैय—'जह' अतो० लको० छावही सागरोवमाइ सातिरेगाइ' एव श्रुतज्ञान्यपि, अयधिज्ञान्यप्येव,
नपर स जघन्यत एक समय यक्तव्यः, कथमेकसमपताडयधिज्ञानसेति चेत्?, उच्यते, इह तिर्यक्पद्येन्द्रियो मनु-
ष्यो देवो वा विभङ्गज्ञानी सन् सम्यपत्य प्रतिपद्यते, तस्य च सम्यक्त्वप्रतिपत्तिसमये एव सम्यक्त्वमावृतो विभङ्ग-
ज्ञानपयधितानं जात, तए यदा देयस्य व्ययनेन मरणेनान्यस्यान्यथा याऽनन्तरसमये प्रतिपद्यति तदा भयत्यवधि-
ज्ञानस्यैकसमयता, उत्कर्षतः सातिरेकाणि पट्टपट्टिं सागरोपमाणि यावत्, तानि घाप्रतिपत्तितापधिज्ञानस्य पारद्वय-
पिजपाद्विषु गमनेन पारप्रयमभ्युतवेयलोफगमनेन वा वेदितव्यानि, मनःपर्यवज्ञानिन एकसमयता सयतस्याप्रम-
सादायां पक्षमानस्य मनापर्यायज्ञानमुत्पाद्यानन्तरसमये काल कुर्वतो मायनीया, उत्कर्षतो देवोना पूर्वकोटी, तत
ऊर्ध्वं सयमामायेन मनःपर्यवज्ञानस्याप्यमायात्, केवलज्ञानी साद्यसपर्यवसितः, प्रतिपातामावात् । अज्ञानी त्रिबिधः,
तद्यथा—अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः सादिसपर्यवसितः, तत्र यस्य कदाचनपि ज्ञानलामो न मायी सोऽ-
नाद्यपर्यवसितो, यस्तु ज्ञानमासावपिष्यति सोऽनादिसपर्यवसित', यः एतन्ज्ञानमासाद्य मग्ने मिथ्यात्वगमनेनाज्ञानि

रूपमधिगच्छति स सादिसपर्ययसितः, स च अधन्येनान्तर्मुहूर्त्ते, परतः सम्यक्त्वस्यासादनेनाज्ञानित्यपरिणामापगमस-
 म्मयात्, उत्कर्षतोऽनन्त कालमित्यादि प्राग्भवत्, तत् ऊर्द्धमपश्यं सम्यक्त्वावासेरज्ञानित्वापगमात्, एव मत्यज्ञानी
 द्युताज्ञानी च त्रिविधो भावनीयः, विमङ्गज्ञानी अधन्यत एक समय, कयमिति चेत्?, उच्यते, कश्चित्तिर्यक्पञ्चे
 न्द्रियो मनुष्यो देवो वा सम्यग्बृष्टित्वावधिविज्ञानी सन् मिथ्यात्व गतच्छिष्य मिथ्यात्वप्रतिपत्तिसमये मिथ्यात्वप्र-
 भायतोऽपधिविज्ञान विमङ्गज्ञानीभूत, “आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसमुक्त”मिति वचनात्, ततोऽनन्तरसमये
 देवस्य ध्ययेनेनान्यस्य मरणेनान्यया वा तद्विमङ्गज्ञान परिपतति, तत एषमेकसमयता विमङ्गज्ञानस्य, उत्कर्षतत्रय
 खिन्नत्वागरोपमाणि देशेनपूर्वकोऽभ्यस्यधिकानि, तथाहि—यदि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा
 पूर्वकोऽभ्यासुः कृत्तिपययर्पातिक्रमे विमङ्गज्ञानी जायते, जातश्च सन्नप्रतिपतितविमङ्गज्ञान एवाधिग्रहगत्या सप्तमनरक
 दृष्टिम्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको नैरथिको जायते तदा भवति यपोक्त्युत्कृष्ट मान, तत ऊर्द्धं तु सम्यक्त्व-
 प्रतिपत्त्याऽपधिविज्ञानमायतः सर्वथाऽपगमाद्वा तद्विमङ्गज्ञानमपगच्छति । गत ज्ञानद्वारम्, इदानीं दर्शनद्वार, तत्रैव
 मादिसुप्रम्—

षण्णसुदंसणी ण मंते ! पुच्छा, गो० ! अह० अतो० उक्कोसेणं सागरोपमसदृत्सं साविरेणं, अषक्खुदंसणी णं मंते ! अच
 षण्णसुदंसणिधि काल०, गो० ! अषक्खुदंसणी दुविहे पं०, तं०—अणादीए वा अपल्लवसिते अणादीए वा सपल्लवसिए,

ओहिदंसपी षं पुच्छा, गो० ! जह० एगं समय उक्को० दो छावहीओ सागरोषमाणं साहेरगाओ, केवलदसणी षं पुच्छा,
गो० ! सातीए अपखवसित ॥ वारं ११' । (२४२)

‘घम्सुदंसणी ष मते !’ इत्यादि, इह यदा श्रीन्द्रियादिश्वतुरिन्द्रियादिपूतपथ तत्र चान्त्युद्धर्षं स्थित्वा भूयोऽपि
श्रीन्द्रियादिषु मध्ये उत्पद्यते तदा घम्सुदंसनी अन्त्युद्धर्षं लभ्यते, उत्कर्षतः सातिरेक सागरोपमसहस्र, तद्यतुरिन्द्रि-
यतिर्यकूपशेन्द्रियनैरयिकादिभषमभेनावसातव्यम्, अघम्सुदंसनी अनाद्यपर्ययसितो यो फदाचिदपि न सिद्धिभाव-
मधिगमिष्यति, यस्त्वधिगन्ता सोऽनादिसपर्ययवसितः, तथा तिर्यकूपशेन्द्रियो मनुष्यो वा तपाविषाध्यवसायादवधि-
दर्शनमुत्पाद्यानन्तरसमये यदि काल करोति तदाऽवधिदर्शनं प्रतिपत्ति, तदाऽवधिदर्शनिन एकसमयता, उत्कर्षतो-
ऽवधिदर्शनी द्विपट्टपटी सागरोपमाणि सातिरेकाणि, कथमिति चेत् !, उच्यते, इह कश्चिद्विमङ्गज्ञानी तिर्यकूपशेन्द्रियो
मनुष्यो वाऽप्रतिपतितविमङ्गज्ञान एवाविप्रहयत्याऽथ सप्तमनरकृष्यिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिनैरयिको जात,
तत्र धौर्द्धर्षनाप्रत्यासधिकाले सम्यक्त्यमुत्पाद्य ततः परिग्रहस्ततोऽप्रतिपतितेन विमङ्गज्ञानेन पूर्वकोट्यायुक्केषु तिर्य-
कूपशेन्द्रियेषु समुत्पन्नस्तत्र च परिपूर्णं स्यादुः प्रतिपाल्य पुनरप्रतिपतितविमङ्ग एवाधःसप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरो-
पमस्थितिको नैरयिको जातस्तत्रापि शोबुत्तिप्रत्यासत्तौ सम्यक्त्यमासाद्य परित्यजति, ततो भूयोऽप्यप्रतिपतितविमङ्ग
एव पूर्वकोट्यायुक्केषु तिर्यकूपशेन्द्रियेषु जातस्तदेवमेका पट्टपट्टिः सागरोपमाजाममूत् सत्तत्र च तिर्यकूपशेन्द्रियेषु

ऽधिग्रहेणोत्पद्यते, विग्रहे विमङ्गलस्य तिर्यङ्मु मनुष्येषु च निषेधात्, यद्वस्यति—“विमङ्गनाणी पञ्चिदियतिरिक्त्वजोणिषा
 मणूसा आहारगणो अजाहारगा” इति, आह—किं सम्यक्त्वमेपोऽपान्तराले प्रतिपाद्यते?, उच्यते, इह विमङ्गलस्य
 स्थितिरुत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यम्बधिकानि, तथा चोक्तं प्राक्—“विमङ्गनाणी जह०
 एग समय उक्तो० तेचीस सागरोबमाई देखुगाए पुषकोचीए अम्बहियाई” इति, तत एतावन्त कालमचिच्छेदेन
 विमङ्गलसाप्राप्यमाणत्वात् अपान्तराले सम्यक्त्व प्रतिपाद्यते, ततोऽप्रतिपतितविमङ्ग एव मनुष्यत्वमथाप्य सयमं
 पालयित्वा द्वौ धारौ विजयादिपूत्पथमानस्य द्वितीया पद्मपट्टिः सागरोपमाणा सम्यग्रदृष्टेर्भवति, एव द्वे पद्मपट्टी
 सागरोपमाणामवधिदर्शनस्य, अथ विमङ्गावस्थायासवधिदर्शनं कर्मप्रकृत्यादिसु प्रतिपिद्ध ततः कथमिह विमङ्गे
 तद्भाव्यते?, नैष दोष, सूत्रे विमङ्गेऽप्यवधिदर्शनस्य प्रतिपादितत्वात्, तथा ह्यय सूत्राभिप्रायः—विशेषविषय विम-
 ङ्गज्ञान सामान्यविषयमवधिदर्शन, यथा सम्यग्रदृष्टेः विशेषविषयमवधिज्ञान सामान्यविषयमवधिदर्शनमुच्यते केवल
 विमङ्गज्ञानिनोप्यवधिदर्शनमनाकारमात्रत्वेनाविशिष्टत्वात् अवधिज्ञानिनोऽवधिदर्शनतुल्यमिति तदप्यवधिदर्शनमु-
 च्यते, न विमङ्गदर्शनमिति, आह च मूळटीकाकारोऽप्येतन्नायनायाम्—“दसण च विमङ्गोदीण जतो सुखमेव,
 अतो वेय दो छावट्टीवो साइरेगावो” इति, ततोऽस्माभिरपि विमङ्गेऽवधिदर्शनं मायित, कर्मप्रअन्विकाः पुनराहु-
 यद्यपि साकारेतरविशेषमावेन विमङ्गज्ञानमवधिदर्शनं च पृथगस्ति तथापि न सम्यग्भिषयो विमङ्गज्ञानेन, मिथ्यात्व-

रूपत्वात् नाप्यवधिदर्शनेन तस्यानाकारमात्रत्वात् किं तेन पृथग्रियवद्वितेनापीति तदभिप्रायेण न विमङ्गापस्या
 यामवधिदर्शनं, न चैतत् स्वमनीयिकाविभ्रुम्मितं, पूर्वस्वरिभिरप्येव मतपिभागस्य व्यवस्थापितत्वात्, उक्तं च विरो-
 पणवत्सां जिनमद्रगणिस्रमाश्रमणपूज्यपादैः—“सुप्ते विमगस्सवि परूविय ओहिदसण बहुसो । कीस पुणो पढि-
 सिद्धं कम्मप्पगळीपयरम्मि ॥ १ ॥ विमंगेवि दरिसण सामण्णधिसेसधिसयओ सुप्ते । त षडयिसिद्धमणागारमेत्त
 तोऽवधिधिमगाण ॥ २ ॥ कम्मपगळीमय पुण सागारेयरविसेसमावेयि । न विमगनाणदसणधिसेसणमणिच्छयत्त
 णओ ॥ ३ ॥” इति, [सुप्ते विमङ्गस्त्रापि प्ररूपितमवधिदर्शनं बहुशुभः । कथं पुनः प्रतिपिद्धं कर्मप्रकृतिप्रकरणे ॥ १ ॥
 विमङ्गेऽपि दर्शने सामान्यविशेषविधियतः सूत्रे । तथायिश्चिष्टमनाकारमात्रं ततोऽवधिधिमङ्गयोः ॥ २ ॥ कर्मप्रकृतिमत-
 पुनः साकारेतरविशेषमाधेऽपि । न विमङ्गज्ञानदर्शनविशेषोऽनिश्चयत्वात् ॥ ३ ॥] अन्ये तु व्याचक्षते—किं सप्तमनर-
 कृथिषीनिवासिनारककल्पनया ?, सामान्येनैव नारकतिर्यग्रामरमथेषु पर्यटत खल्वधधिधिमङ्गौ पृतायन्त काल-
 मवतस्यत ऊर्ध्वमपवर्गं इति । केषलदर्शनिनः सूत्रं केयलञ्जनिनः सूत्रवद्भावनीयः । गत दर्शनद्वारम्, इदानीं सयत-
 द्वार, तत्रेदमाविसूत्रम्—

संखए णं मंते ! संखतेपि पुच्छा, गो० ! अ० एगं समयं उक्को० देव्रणं पुव्वकोटिं, असवते णं मंते ! असंखएचि,
 पुच्छा, गो० ! असंखते विविधे यं०, तं०—अप्पातीए वा अपज्जवसित्ते अप्पातीए वा सपज्जवसित्ते सातीए वा सपज्जव

सिते, तस्य मं जे से साठीए सपसवसिते से जह० अं० उक्को० अणं० अर्पवाओ उस्सपिणिओसपिणीओ कालओ खेचवो प्रवट्टु योगलपरिमट्टं देसुमं, संबतासंबते णं पुच्छा, गो० ! जह० अतो० उक्को० देसुणं पुषकोठिं, नोसंजवेनो असंजवेनोसंखवासंबते णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपकवसिते । दारं इदि (सुयं २४३) सागारोवओगोवउचे णं मंते ! पुच्छा, गो० ! जह० उ० अं० । अणागारोवउचेवि, एवं केव । दारं इदि (सुयं २४४)

‘सजए ण मंते’ इत्यादि, जघन्यत एकसमयता सयतस्य चारिप्रपरिणामसमय एष कस्यापि कालकरणात्, असयतस्तु त्रिधा—अनाद्यपर्ययसितोऽनाधिसपर्ययसितः सादिसपर्ययसितश्च, तत्र यः समय कदाचनापि न प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्ययसितो, यस्तु प्राप्स्यति सोऽनादिसपर्ययसितो, यस्तु समय प्राप्य ततः परिश्रष्टः स सादिसपर्ययसितः, स च जघन्येनान्तमुद्भूतं, ततः परं कस्यापि पुनरपि समयप्रतिपत्तिभावात्, उत्कर्षतोऽनन्त कालमित्यादि प्राग्वत् सत ऊर्ध्वमथस्य समयप्राप्तिः, सयतासयतो—वेञ्चविरतः, स च जघन्यतोऽप्यन्तमुद्भूतं वेञ्चविरतिप्रतिपत्त्युपयोगस्य, जघन्यतोऽप्यन्तमौद्भिर्चिफत्यात्, वेञ्चविरतिर्हि द्विविधत्रिविधादिभङ्गबुद्ध्या ततस्तत्रतिपत्तौ जघन्येनाप्यन्तमुद्भूतं लगति, सर्वधिरतिस्तु सर्वे साधयमह न करोमीत्येवरूपा ततस्तत्रतिपत्त्युपयोग एकसाधयिकोऽपि भवतीति प्राक्क समयस्य एकसमयतोक्ता, यस्तु न सयतो नाप्यसयतो नापि संयतासयतः स सिद्ध इति साध्यपर्ययसित इति । गतसयतद्वारम्, इदानीमुपयोगद्वार, तत्रेवमादिसुत्रम्—‘सागारोवओगोवउचे ण मंते !’ इत्यादि, इह ससारिणामुप-

योगः साकारोऽनाकारो वा, जपन्यतोऽप्यान्तर्मुद्रार्चिकः उत्कर्षतोऽपि जपन्यत उत्कर्षतश्चान्त-
 र्मुद्रर्चमुक्, नस्तु केवलिनामुक् एकसामयिक उपयोगः स इह न विवक्षित इति । गत उपयोगद्वार, इदानीमा-
 हारद्वार, तत्रेदमादिसुत्रम्—

आहार्य णं मते ! पुच्छा, गो० ! आहार्य दुविधे० पं०, सं०—छठमत्थवाहार्य य केवलिआहार्य य, छठमत्थआहा
 र्य णं मते ! छठमत्थवाहार्यणि फाल० ? गो० ! ज० सुहागमवगण्यं दुसमयत्तं उक्त्त० असंखेस कालं असंखे-
 खाबो उस्सप्यिणीओसप्यिणीओ फालतो खेषतो अगुलस्स असंखेजतिमार्गं, केवलिआहार्य ण मते ! केवलिआहार्यणि
 फालतो० ? गो० ! ज० अतो० उ० देस्युं पुह० ! अणाहार्य णं मते ! अणाहार्यणि० ? गो० ! अणाहार्य दु०
 पं०, सं०—छठमत्थअणाहार्य य केवलिअणाहार्य य, छठमत्थअणाहार्य णं मते ! पुच्छा, गो० ! ज० एग समयं
 उक्त्त० दो समया, केवलिअणाहार्य णं मते ! केवलि० ? गो० ! केवलिअणाहार्य दुविधे पं०, सं०—सिद्धकेवलिव-
 णाहार्य य मवत्थकेवलिअणाहार्य य, सिद्धकेवलिअणाहार्य णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपसवसिए, मवत्थकेवलिअ-
 णाहार्य णं मते ! पुच्छा, गो० ! मवत्थकेवलिअणाहार्य दुविधे पं०, सं०—सवोगिमवत्थकेवलिअणाहार्य अब्जोगि
 मवत्थकेवलिअणाहार्य य, सवोगिमवत्थकेवलिअणाहार्य णं मते ! पुच्छा, गो० ! अज्जहण्यमणुक्कोसेणं विष्णु समया,
 अब्जोगिमवत्थकेवलिअणाहार्य णं पुच्छा, गो० ! ज० उक्त्त० अतो० । वारं इति । (सूत्र २४५)

'आहारो ण भते !' इत्यादि सुगम, नवर 'अवर्णेण सुहागमवगाहण दुसमकण'मिति इह यद्यपि चतुःसाम-
 यिकी पञ्चसामयिकी च विप्रहगतिर्भवति, आह च—“उज्जुया य पगवका, दुदुतोरंका गती विणिदिट्ठा । जुञ्जर
 तिचउपफावि नाम घटपचसमयाओ ॥ १ ॥” इति [ऋज्वी चैकयक्रा द्विघाषक्रा गतिश्च विनिर्विष्टा । युज्यते
 त्रिचतुर्थे अपि नाम घटुःपञ्चसमये ॥ १ ॥] तथापि यादुल्येन त्रिसामयिकी त्रिसामयिकी वा प्रवर्तते न चतु
 सामयिकी पञ्चसामयिकी वा प्रवर्तते ततो न ते विषयिते, तत्रोत्कर्षतत्रिसामयिक्यां विप्रहगतौ द्वायाद्यौ सम-
 याषनाहारक इत्याहारकत्वचिन्तायां सुष्ठुकमथग्रहण ताम्यां न्यूनसुक, ऋजुगतिरेकवक्रगतिश्च न विवक्षिता,
 सर्वजघन्यस्य परिचित्यमानत्वात्, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालमित्यादि सुगम, नवर पतावतः कालापूर्वमथस्य विप्र-
 हगतिर्भवति, तत्र चानाहारकत्वमित्यनन्त कालमिति नोक्त । केवलिसूत्रं सुगम, छम्भस्थानाहारकसूत्रे 'उक्कोसेण
 दो समया' इति त्रिसामयिकी विप्रहगतिमधिष्ठस्य, चतुःसामयिकी च विप्रहगतिर्न विषयितेत्य-
 मिहितमनन्तर, संयोगिमवस्येकवलिअनाहारकसूत्रे त्रयः समया अष्टसामयिकस्य केवलिसमुद्घातस्य तृतीयचतुर्थ-
 पञ्चमरूपाः, उक्त च—“वण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये । मन्यानमप तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे
 तु ॥ १ ॥ सहरति पञ्चमे त्वतरापि मन्यानमप तथा षष्ठे । ससमके तु कपाट सहरति ततोऽष्टमे वण्डम् ॥ २ ॥
 औदारिकप्रयोका प्रथमाष्टमसमययोरसाथिष्ट । मिथौदारिकयोका ससमपष्ठद्वितीयेषु ॥ ३ ॥ कार्मणश्चरीरयोगी

षट्पथके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥ ४ ॥” इति । गतमाहारद्वारं,

अधुना मापाद्धारमाह—

मासए ण पुच्छा, गो० ! ब्रह्मणं एगं समयं उक्को० अतो०, अमासए ण पुच्छा, गो० ! अमासए तिविधे पं०, तं०—
अणाइए वा अपञ्जवसिए अणाइए वा सपञ्जवसिए साइए वा सपञ्जवसिए, तत्थ णं वे से साइए वा सपञ्जवसिते से जह
ण्मेणं अं० उ० षण्फ्फकालो । दारं १५ (सूत्रं २४६) परिचए ण पुच्छा, गो० ! परिचे दुविहे पं०, सं०—कायपरिचे य
संसारपरिचे य, कायपरिचे णं पुच्छा, गो० ! जह० अतो० उक्को० असं० पुढविकालो असंखेज्जाओ उस्सय्यिणिओस-
य्पिणीतो, संसारपरिचे णं पुच्छा, गो० ! ज० अतो० उ० अणतं कालं जाव अवहं पोगलपरियहं देसुणं । अपरिचे णं
पुच्छा, गो० ! अपरिचे दु० पं०, सं०—कायअपरिचे य संसारअं, कायअपरिचे णं पुच्छा, गो० ! ज० अतो० उ०
बणत्सइकालो, संसारअपरिचे णं पुच्छा, गो० ! संसारअपरिचे दु० पं०, सं०—अणादीए वा सपञ्जवसिते अणादीए
वा अपञ्जवसिते, नोपरिचेनोअपरिचे ण पुच्छा, गो० ! सादीए अपञ्जवसिते, दारं १६ (सूत्रं २४७) पञ्जचए णं पुच्छा,
गो० ! ज० अं० उ० सागरोवमसवपुपुचं सातिरेगं, अपञ्जचए ण पुच्छा, गो० ! ज० उ० अतो०, नोपञ्जचएनोअपञ्ज-
चए णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपञ्जवसिते । दारं १७ (सूत्र २४८) सुडुमे णं भते ! सुडुमिणि पुच्छा, गो० ! ज०
अतो० उ० पुढविकालो, वादरे ण पुच्छा, गो० ! ज० अं० उ० असंखेज्जं कालं जाव खेचओ अंगुलस्स असंखेज्जाति

मार्गं, नोमुमुनोपादरे णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपखवसिते । दारं १८ (सूत्रं २४९) सण्णी णं मते ! पुच्छा, गो० ! सं० अंतो० उ० सागरोधमसवपुटुचं साविरेगं, असण्णी णं पुच्छा, गो० ! अ० अंतो० उक्को० वथस्सइकालो, नोसण्णीनोअस ण्णी णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपखवसिते । दारं १९* (सूत्रं २५०) मवसिद्धिए णं पुच्छा, गो० ! अणादीए सपखवसिते, अमवसिद्धिए णं पुच्छा, गो० ! अणादीए अपखवसिते, नोमवसिद्धिएनोअमवसिद्धिए णं पुच्छा, गो० ! सादीए अपखवसिते । दारं ३७ । (सूत्रं २५१) घम्मतिकफाए णं पुच्छा, गो० ! सबद्धं, एवं जान अद्दासमए । दारं २१* (सूत्रं २५२) चरिमे णं पुच्छा, गो० ! अणादीए सपखवसिते, अचरिमे णं पुच्छा, गो० ! अचरिमे दुविधे वं०, सं०—अणादीए वा अपखवसिते सावीते वा अपखवसिते । दारं ३३ । (सूत्रं २५३) पण्यवणाए मगवईए अद्दारसमं कायट्ठिइनामपयं समत्तं ॥ १८ ॥

‘मासए ण मते !’ इत्यादि, इह जघन्यत एकसमयता उत्कर्षत आन्तमुद्दृष्टिकता च वाग्योगिन इषावसातव्या, जमापकस्त्रिविधस्तद्यथा—अनाद्यपर्यवसितः अनादिसपर्यवसितः सादिसपर्यवसितश्च, तत्र यो न जातुचिदपि माप-
कत्व प्राप्सति सोऽनाद्यपर्यवसितो यस्तथाप्सति सोऽनादिसपर्यवसितः, यस्तु मापको भूत्वा भूयोऽप्यमापको
भवति स सादिसपर्यवसितः, स च जघन्येनान्तमुद्दृष्टे, मापित्या कश्चित्कालमवस्थाय पुनर्मापकत्वोपलब्धेः, अथवा

धीन्द्रियादिमापक परेन्द्रियादिव्यमापकेपूत्यद्य तत्र चान्तमुद्गर्चे जीयित्वा पुनरपि यदा धीन्द्रियादिरेधोत्यद्यते तदा
 जघन्यतोऽन्तमुद्गर्चमापक, उत्कर्षतो घनस्पतिकालः, स च प्रागेयोक्त इति नोपदर्श्यते । गतं मापकद्वार, इदानीं
 परीतद्वार, परीतो द्विषिषः—कायपरीत ससारपरीतश्च, तत्र य प्रत्येकशरीरी स कायपरीतो, यस्तु सम्यक्त्वा
 दिना कृतपरिमितससार स ससारपरीतः, कायपरीतो जघन्यतोऽन्तमुद्गर्चे, स च यदा कश्चिद्विगोदादुद्भूत्य प्रत्येक
 शरीरिषु समुत्पद्य च तत्र चान्तमुद्गर्चे स्थित्वा भूयोऽपि निगोदेपूत्यद्यते तदा लभ्यते, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येय काल, स
 वासङ्ख्येयः कालः पृथिवीकालो, यावान् पृथिवीकायस्थितिकालस्त्वावान् वेदितव्य इत्यर्थः, तमेव कालतो
 निरूपयति—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, ससारपरीतो जघन्यतोऽन्तमुद्गर्चे तत ऊर्ध्वमन्तकृत्केषल्लिखयोगेन मुक्ति-
 मायात्, उत्कर्षतोऽनन्त काल, तमेव निरूपयति—‘अर्जताग्नौ’ इत्यादि प्राग्यत्, तत ऊर्ध्वमवश्य मुक्तिगमनात्,
 कायापरीतोऽनन्तफायिकः, संसारापरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमितसंसारः, कायापरीतो जघन्येनान्तमुद्गर्चे,
 स च यदा कश्चित्प्रत्येकशरीरिभ्य उद्भूत्य निगोदेषु समुत्पद्यते तत्र चान्तमुद्गर्चे स्थित्वा भूयोऽपि प्रत्येकशरीरिपूत्य
 द्यते तदाऽपसातन्म्यः, उत्कर्षतो घनस्पतिकालो वाच्यः, स च प्रागेवोपदर्शितः, तत ऊर्ध्वं नियमाप्यत उद्भूतेः,
 ससारपरीतो द्विषा—अनापपर्ययसितो यो न कदाचनपि संसारव्यवच्छेद करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽना-
 दिसपर्ययसित, नोपरीतो नोअपरीतश्च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसित एव । पर्याप्तद्वारे पर्याप्तो जघन्येनान्तमुद्गर्चे, तत

ऊर्ध्वमपर्यासत्वप्रसङ्गे, उत्कर्षतः सातिरेक सागरोपमशतपूपपत्न, पृतापन्त कालं पर्यासलब्ध्यवस्थानसम्भवात्,
 अपर्यासो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुद्गर्षे, तत ऊर्ध्वमवश्य पर्यासलब्ध्युत्पत्तेः, नोपर्यासो नोअपर्यासश्च सिद्धः, स च
 साधपर्यवसितः, सिद्धत्वस्याप्रच्युतेः । सूक्ष्मद्वारे सूक्ष्मसूत्रे उत्कर्षतः पृथिवीकाल इति, यावान् पृथिवीकायिकका-
 यस्थितिकासत्त्वापान् पक्ष्म्यः । वादरसूत्रं सुगम, अनयोश्च माषना प्रागेव कृता, नोसूक्ष्मो नोषादरश्च सिद्धस्ततः
 साधपर्यवसितः । सन्निहारे सन्निहारे जघन्यतोऽन्तर्मुद्गर्षमिति, यवा कश्चिज्जन्तुरसन्निह्य लङ्घ्य सन्निपु समुत्पद्यते
 तत्र चान्तर्मुद्गर्षे जीवित्वा मूयोऽपि असन्निपूत्पद्यते तदा लभ्यते, उत्कृष्टं सुगम । असन्नी जघन्यतोऽन्तर्मुद्गर्षे, स
 वैष—कश्चित् सन्निह्य लङ्घ्यसासन्निपूत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुद्गर्षे स्थित्वा मूयोऽपि सन्निपु मध्ये समागच्छति, उत्क-
 र्षतो वनस्पतिकालो, वनस्पतिकायस्याप्यसन्निग्रहणेन ग्रहणात् नोसन्निहोअसन्नी च सिद्धः, स च साधपर्यवसितः ।
 मयसिद्धिकद्वारे 'मवसिद्धिए ञ'मित्यादि, मये सिद्धिर्यस्यासौ मवसिद्धिको मव्य इत्यर्थः, स चानादिसपर्यवसितः,
 अन्यथा मन्यत्वायोगात्, अमवसिद्धिकोऽमव्यः, स चानाद्यपर्यवसितः, अन्यथाऽमव्यत्वायोगात्, नोमव्योनो-
 अमव्यश्च सिद्धः, ततः साधपर्यवसितः । अस्त्रिकायाः पश्चापि सर्वकालमाशिनः, अद्वासमयोऽपि प्रवाहायेक्षया,
 तत उत्कं 'एय जाव अद्वासमए,' चरमो मवो मविष्यति यस्य सोऽमेदाश्चरमो—मव्यश्चद्विपरीतोऽचरम स चामव्य-
 स्तस्य चरममवाभावात्, सिद्धश्च, तस्यापि चरमत्वायोगात्, तत्र चरमोऽनादिसपर्यवसितोऽन्वया चरमत्वायोगात्,

अधरभो द्विपिघोऽनाघपर्ययसितः साधपर्ययसितश्च, तत्रानादिवर्षसितोऽमन्य, साधपर्ययसितः सिद्धः । इति श्रीमलयगिरिविरचितायां प्रज्ञापनादौ अष्टादश पद समाप्तम् ॥

एकोनविंशतितम सम्यक्स्वपद प्रारभ्यते ॥ १९ ॥

तरेष व्याख्यातमष्टादश पद, साम्प्रतमेकोनविंशतितममारभ्यते, अस्य वायमभिसन्धः—इहानन्तरपदे काय स्थितिरुक्ता, अत्र तु फर्सा कायस्थितौ कतिषिघाः सम्यग्रुक्त्वाविसेदेन जीवा भवन्तीति चिन्त्यते, तत्रेद सत्रम्—जीवा न मंते ! किं सम्मविद्भी मिच्छादिद्भी सम्मामिच्छादिद्भी ? , गोयमा ! जीवा सम्मदिद्भीवि मिच्छादिद्भीवि सम्मामिच्छादिद्भीवि । एवं नेरुपावि । असुरकुमारादि एवं केव स्वाव ऋषियकुमारा । पुठवीकाइया षं पुच्छा, गोयमा ! पुठवीकाइया जो सम्मविद्भी मिच्छादिद्भी जो सम्मामिच्छादिद्भी, एवं जाव षणस्तइकाइया । वेईवियाण पुच्छा, गोयमा ! वेईविया सम्मविद्भी मिच्छादिद्भी जो सम्मामिच्छादिद्भी, एवं जाव षउरिंदिया, पंदिदियतिरिच्छजोगिया मणुस्सा षाण मंतरजोइसियवेसाणिया य सम्मविद्भीवि मिच्छादिद्भीनि सम्मामिच्छादिद्भीनि, सिद्धा नं पुच्छा, गोयमा ! सिद्धा सम्मविद्भी, जो मिच्छादिद्भी जो सम्मामिच्छादिद्भी । (सूत्रं-२५४) पञ्चवणामगवईए सम्मपपदं समर्पं ॥ १९ ॥

‘जीवा ण मते । किं सम्मदिट्ठी’ इत्यादि सुगम आपदपरिसमाप्तेः, नवर सासादनसम्यक्त्वयुक्तोऽपि सुश्राभि-
 प्रायेण वृषिभ्यादियु नोत्पद्यते, “उमयामाषो पुढ्याइएसु” [उमयामाषः पृथ्व्यादियु] इति वचनात्, द्वीन्द्रिया-
 दियु सासादनसम्यक्त्वयुक्त उपपद्यते, ततः पृथिव्यादयः सम्यग्दृष्टयः प्रतिपिद्धाः, द्वीन्द्रियादयोऽभिहितः, सम्य-
 ग्मिथ्यादृष्टिपरिणामः पुनः संक्षिपञ्चेन्द्रियाणा मयति, न श्रेयाणां, तथास्वामाभ्यात्, अत उमयेऽपि सम्यग्मिथ्या-
 दृष्टयः प्रतिपिद्धाः ॥ इति श्रीमलयगिरिधिरचितायां प्रज्ञापनाटीकायामेकोनविंशतितम पदम् समाप्तम् ॥

अथ विंशतितममन्तक्रियापद प्रारभ्यते ॥

व्याख्यातमेकोनविंशतितम पद, अधुना विंशतितमं आरभ्यते, अस्य धायमभिसंबन्धः—शहानन्तरपदे सम्य-
 क्त्यपरिणाम उक्तः, अत्र तु परिणामसाम्याद् गतिपरिणामविश्लेषोऽन्तक्रियाऽभिधीयते, तत्रेयमादौ अधिकार-
 द्वारगाथा—

नेरुय अंतकिरिया अपन्तरं एगसमय उरुहा । त्तिस्वगरचक्किषल्देववासुदेवमठलियरयणा [य] ॥ १ ॥ द्वारगाहा । षीधि

णं मते ! अंतकिरियं करेखा !, गोयमा ! अत्येगए करेखा, अत्येगए णो करेखा । एव नेरइए जाव वेमाणिए ।
 नेरइए णं मते ! नेरइएसु अंतकिरियं करेखा !, गोयमा ! नो इण्ठे समंठे । नेरइया ण मते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं
 करेखा !, गोयमा ! नो इण्ठे समंठे । एवं जाव वेमाणिपट्टु । नवरं मणुसेसु अंतकिरियं करेखाणि पुच्छा, गोयमा !
 अत्येगए करेखा अत्येगए णो करेखा । एवं असुरकुमारा जाव वेमाणि । एवमेव चउवीस २ दठगा मवन्ति ।
 (सूत्रं २५५) नरइया णं मते ! किं अणतरागया अंतकिरियं करेति परंपरागया अंतकिरियं करेति !, गोयमा ! अणंत-
 रागयाधि अंतकिरियं करेति परंपरागयाधि अंतकिरियं करेति । एव रयणपमापुठविनेरइयाधि जाव पंकपमापुठवी-
 नेरइया, धूमपमापुठवीनेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! णो अणंतरागया अंतकिरियं पकरेति, परंपरागया अंतकिरियं पक-
 रेति, एवं जाव अहेसचमापुठवीनेरइया । असुरकुमारा जाव वणियकुमारा पुठवीवाउवणस्सइकाइया य अणन्तरागयाधि
 अंतकिरियं पकरेति परंपरागयाधि अंतकिरियं पकरेति, तेउवाउवेइविचउरिदिया णो अणंतरागया अंतकिरियं
 पकरेति परंपरागया अंतकिरियं पकरेति । सेसा अणतरागयाधि अंतकिरियं पकरेति परंपरागयाधि अंतकिरियं
 पकरेति । (सूत्र २५६)

'नेरइय अंतकिरिया' इत्यादि, प्रथमतो नेरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विधतिसानेषु अन्तक्रिया चिन्तनीया । ततोऽ-
 नन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परागता वा ? इत्येवमन्तर चिन्तनीयं, ततो नेरयिकादिभ्योऽनन्तरमागता

क्तिन्त एकसमयेनान्तक्रियां कुर्वन्तीति चिन्त्यते, सत 'उषट्ठा' इति उषट्ठाः सन्तः कक्षां योनाद्युत्पद्यन्ते इति
 यक्य, तथा यत उषट्ठास्वीर्यकरामक्रवर्तिनो बलदेया वासुदेया माण्डलिकाश्चक्रवर्तिनो रत्नानि च—सेनापतिप्र-
 मुखानि भवन्ति ततस्त्वानि क्रमेण यक्यभ्यानि इति द्वारगायासधेयार्थः । विश्वरार्थे तु सूत्रकृदेय यक्ष्यति, तत्र प्रय-
 मतोऽन्तक्रियामभिधित्सुराह—'जीपे ण भते !' इत्यादि, जीवो 'ण'मिति वाक्यालङ्कृतौ भवन्त ! 'अन्तक्रिया'मिति
 अन्त—अयसान, तद्य प्रस्थापादिह कर्मणामयसातव्य, अन्यप्राग्मेऽन्तक्रियाशब्द(वाच्यतया त)स्य रुढत्वात्, तस्य
 क्रिया—करणमन्तक्रिया—कर्मान्तकरण मोक्ष इति भावार्थः, 'कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः' इति यचनात्, तां कुर्यात् ?,
 मगधानाह—गौतम ! अस्त्वेकको यो न कुर्यात्, इयमत्र भावना—यस्यपाविधमव्यत्वपरिपा-
 कयद्यतो मनुष्यत्यादिकामविकलां सामग्रीमवाप्य तत्सामर्थ्यसमुद्भूतातिप्रयलधीर्योह्लासवन्नतः क्षपकथ्रेणिसमारोहणेन
 केवलज्ञानमासाधायातीन्यपि कर्माणि क्षपयेत् स कुर्यात्, अन्यस्तु न कुर्यात्, विपर्ययादिति । एव नैरयिकादि
 चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण तावद् भावनीया भावद् यैमानिकाः, सूत्रपाठस्त्वेवम्—'नेरइण ण भते ! अतकिरिय करेज्जा ?,
 गोयमा ! अत्येगइए करेज्जा अत्येगइए नो करेज्जा' इत्यादि । इदानी नैरयिकेषु मध्ये वर्तमानोऽन्तक्रियां करोति
 किं वा न करोति ? इति पिपृच्छिपुरिदमाह—'नेरइण ण भते' इत्यादि, मगयानाह—गौतम ! नायमर्थं समर्थः,
 नायमर्थो युक्त्युपपन्न इत्यर्थः । कथमिति चेत् ?, उच्यते, इह कृत्स्नकर्मक्षयः प्रकर्षप्राप्तात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमु-

दायाद् भवति, न च नैरयिकापस्थार्यां चारिप्रपरिणामः, तथा भवस्वामाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु वैमानिक-
 पर्ययसानेषु प्रतिषेधो यच्छक्य । मनुष्येषु तु मध्ये समागतः सन् कश्चिदन्तक्रियां कुर्यात्, यस्य परिपूर्णां चारि-
 त्रादिसामग्रीं स्वात्, कश्चिन्न कुर्यात्, यस्त्वद्विकल इति । एवमसुरकुमारादयोऽपि वैमानिकपर्ययसाना प्रत्येक नैर-
 यिकादिचतुर्विंशतिदण्डक्रमेण वक्तव्याः, तत एवमेते चतुर्विंशतिदण्डकाश्चतुर्विंशतयो भवन्ति ॥ अथैते नैरयिका
 दय स्वसनैरयिकादिमयेभ्योऽनन्तर मनुष्यमये समागताः सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किंवा तिर्यगादिमयव्ययधानेन
 परपरागता इति निरूपयितुकाम आह—'नैरय्या ण मते।' इत्यादिप्रसूत्र सुगम, मगयानाह—गौतम ! अनन्त
 रागता अपि अतक्रियां कुर्वन्ति परस्परागता अपि, तत्र रत्नशर्कराधालुकापङ्कप्रमाम्भ्योऽनन्तरागता अपि परस्परा-
 गता अपि, धूमप्रभापृषिन्त्यादिभ्यः पुनः परस्परागता एव, तथास्वामाव्यात्, एनमेव विशेषे प्रतिपिपादयिषुः सूत्र-
 सप्तकमाह—'एव रयणप्पभापुड्धीनैरय्यावि' इत्यादि, सुगम । असुरकुमारादयः स्वनितकुमारपर्ययसानाः पृथि-
 म्यन्वनस्यतयश्चानन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परस्परागता अप्यन्तक्रियां कुर्वन्ति, उभयथाऽप्यागतानां
 तेषामन्तक्रियाकरणाविरोधात्, तथा केवलचक्षुषोपच्छब्धे । तेजोवापुष्विचिचतुरिन्द्रियाः परस्परागता एव, न त्वन-
 न्तरागताः, तत्र तेजोवायूनामानन्तर्येण मनुष्यत्वस्यैवाप्राप्तेः, द्वीन्द्रियादीनां तु तेषामवस्वामाव्यादिति । श्रेयास्तु
 तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादयो वैमानिकपर्ययसाना अनन्तरागता अपि परस्परागता अपि । अथ नैरयिकाविमयेभ्योऽनन्तर-

मागताः फियन्त एगसमयेऽन्तक्रियां कुर्यन्ति इत्येवरूप तृतीय द्वारमभिधित्सुराह—

अमतरागवा नेरइया एगसमये केषइया अंतक्रियं पकरेति?, गोयमा! जहअणं एगो वा दो वा तिभि वा उक्कोसेणं दस,
रणप्यमापुढवीनरइयावि एवं चेष, जाप वालपप्यमापुढवीं, अणस० मंते! पंकपमापुढवीनेरइया एगसमयेण केवतिया
अंतक्रियं पकरेति?, गोयमा! जहअणं एको वा दो वा तिभि वा उक्कोसेणं चचारि, अणन्तरागया णं मंते! असुरकु
मारा एगसमये केषसिआ अंत० पकरेति?, गोयमा! जह० एको वा दो वा तिभि वा उक्कोसेणं दस, अणंतरागया णं
मंते! असुरकुमारीओ एगस० केष० अंत० पकरेति?, गोयमा! जह० एको वा दो वा तिभि वा उक्कोसेणं पच, एवं
जहा असुरकुमारा तदेवीया तथा जाप यणिय०। अणतरागया णं मंते! पुढवि० एगसमये केषइया अंतक्रियं पकरेति?,
गोयमा! जह० एको वा दो वा तिभि वा, उक्कोसेणं चचारि, एव आउक्काइयाधि चचारि, वणस्सइकाइया छप, यंधिवि
यतिरिचखजोगिमा दस, तिरिचखजोगिणीओ दस, मणुस्सा दस, मणुस्सीओ वीस, मणुस्सीओ वीस, वाणमंतरा दस, वाणमंतरीओ पच,
ओइसिआ दस, जोइसिणीओ वीस, वेमाणिआ अइसयं, वेसाणिणीओ वीसं। (यत्रं २५७)

‘अणतरागया ण मंते!’ इत्यादि, नेरयिकमवादनन्तर—अन्यवधानेन मनुष्यमयमागता अनन्तरागताः, नेर-
यिका इति प्रारम्भपर्यायेण व्यपदेशः सुरादिप्राग्भवपर्यायप्रतिपत्तिव्युदासार्थः, एवमुचरत्रापि तच्चप्राग्भवपर्यायेण

व्यपदेशे प्रयोजन चिन्तनीयमिति । श्रेय कण्ठ्य । सम्प्रति तस्य उदुर्घाः कक्षां योनादुत्पद्यन्ते ? इति घटुर्थं द्वारम-
भिधित्तुरार—

नेरइए णं मंते ! नेरइएहिंत्तो अणत्तरं उवह्तिष्ठा नेरइएसु उववख्जेष्ठा !, गोयमा ! नो इण्ठे समंठ्ठे, नेरइए णं मंते ! नेरइ-
एहिंत्तो अणत्तरं उवह्तिष्ठा अमुरकुमारोसु उववख्जेष्ठा !, गोयमा ! नो इण्ठे समंठ्ठे । एव निरंतरं आव चउरिदिएसु पुञ्जा,
गोयमा ! नो इण्ठे समंठ्ठे । नेरइए णं मंते ! नेरइएहिंत्तो अणत्तरं उवह्तिष्ठा पंचिवियतिरिक्खजोणिएसु उववख्जेष्ठा !,
अत्येगतिए उववख्जेष्ठा अत्येगए णो उववख्जेष्ठा, वे णं मंते ! नेरइएहिंत्तो अणत्तरं पंचिवियतिरिक्खजोणिएसु उवव
से णं मंते ! केवल्लिपअचं घम्मं तमेष्ठा सवणयाए !, गोयमा ! अत्येगतिए तमेष्ठा अत्येगतिए णो तमेष्ठा, वे णं
मंते ! केवल्लिपअचं घम्मं तमेष्ठा सवणयाए से णं केवलं बोहिं दुग्गेष्ठा !, गोयमा ! अत्येगतिए दुग्गेष्ठा अत्येगतिए णो
पुग्गेष्ठा । वे णं मंते ! केवलं बोहिं दुग्गेष्ठा से णं सरेष्ठा पत्तिएष्ठा रोएष्ठा !, गोयमा ! सरेष्ठा पत्तिएष्ठा
रोएष्ठा, वे णं मंते ! सरेष्ठा पत्तिएष्ठा रोएष्ठा से णं आमिणियोहियनाणसुयणाणां उप्पाटेष्ठा !, इंवा गोयमा !
उप्पाटेष्ठा, वे णं मंते ! आमिणियोहियनाणसुयणाणां उप्पाटेष्ठा से णं संघाएष्ठा सीलं वा षयं वा गुणं वा वेरमणं वा
पबबत्तार्यं वा पोसहोववासं वा पट्टिवज्जिअए !, गोयमा ! अत्येगतिए संघाएष्ठा अत्येगतिए णो संघाएष्ठा, वे णं
मंते ! संघाएष्ठा सीलं वा आव पोसहोववासं वा पट्टिवज्जिअए से णं ओहिंत्तावं उप्पाटेष्ठा !, गोयमा ! अत्येगतिए

उपाढेळा अत्येगतिए णो उपाढेळा, वे ण मते ! ओढिनाणं उपाढेळा से णं संचाएळा से णं संचाएळा आगाराओ
 अणगारियं पवइत्तए ? , गोयमा ! नो इण्ढे समढे ॥ नेरइए ण मते ! नेरइएहिंठो अणंतरं उवट्टिचा मणुस्सेसु उववञ्जे
 छा ? , गोयमा ! अत्येगतिए उववञ्जेळा अत्येगतिए णो उववञ्जेळा, वे ण मते ! उववञ्जेळा से णं केवल्लिपअचं घम्मं
 लमेळा सवअयाए ? , गोयमा ! जडा पंचिदिचतिरिक्खओणिएसु खाव वे णं मते ! ओढिनाणं उपाढेळा से णं संचा
 एळा मुंढे मविषा आगाराओ अणगारियं पवइत्तए ? , गोयमा ! अत्येगतिए संचाएळा अत्येगतिए णो संचाएळा, वे णं
 मते ! संचाएळा मुंढे मविषा आगाराओ अणगारियं पवइत्तए से णं मणपअवनानं उपाढेळा ? , गोयमा ! अत्येगतिए
 उपाढेळा अत्येगतिए णो उपाढेळा, वे णं मते ! मणपअवनाण उपाढेळा से णं केवल्लानं उपाढेळा ? , गोयमा !
 अत्येगतिए उपाढेळा अत्येगतिए णो उपाढेळा, वे णं मते ! केवल्लान उपाढेळा से णं सिक्खेळा पुज्जेळा सुषेळा
 सवदुक्खानं अंतं करेळा ? , गोयमा ! सिक्खेळा बाव सवदुक्खानमंतं करेळा ! नेरइए णं मते ! नेरइएहिंठो अणंतरं
 उवट्टिणा वाणभंतरओइसियेवेमाणिएसु उववञ्जेळा ? , गोयमा ! नो इण्ढे समढे । (सूत्रं २५८)

नेरइए ण मते !' इत्तादि सुगम, नवर 'केवल्लिपअच घम्म लमेळा सवणयाए' इति केवल्लिना—सर्थेज्जेन प्रञ्ज-
 सो-देवित्तः केवल्लिप्रज्ञप्तो धर्मः—श्रुतधर्मधारिप्रधर्मश्च त लभेत श्रवणतया—भूयते इति श्रवणं भावे अनट्टप्रत्ययः
 श्रवणस्य—श्रवणशब्दस्य मायः—प्रवृत्तिनिमित्तं श्रुतिरेव श्रवणता श्रवणमेवैत्यर्थः, "भावे त्वतलौ" इत्यत्र हि 'तस्येति

द्रष्टरूपस्य भापः—प्रवृत्तिनिमित्तं इत्यपि व्याख्यानमस्ति, तथा भवणतया ? , भगवानाह—‘अत्येगतिप’ इत्यादि, पुनरपि प्रभवति—यस्तु भवन्त ! केवलप्रभवस धर्मं लभेत भवणतया ‘से ण केवल बोहिं बुज्जेज्जा’ इति, इह बोधि —धर्माधातिरुच्यते, तस्या निमित्तमृतो यः द्रष्टव्यसदर्मः सोऽपि कारणे कार्योपचाराद् बोधिः, स च केवलिना साक्षात्परस्परया बोपदिष्ट इति केवलिकः, स केवलप्रभवस्य धर्मस्य श्रोता णमिति पूर्ववत् केवलिकी बोधि—ययोक्तरूपां बुच्येत—सदर्यं जानीयादित्यर्थः ? , भगवानाह—‘अत्येगतिप’ इत्यादि । पुनरपि प्रभवति—यो भवन्त ! केवलिकी बोधिमर्षतोऽवगच्छति सोऽर्पतस्त्वां भवधीत—द्रव्याधिपयां कुर्यात्, तथा प्रत्येत्—प्रतीतिविपयां कुर्यात्, रोचयेत्—षिकीर्षामि इत्येवमच्यवसेत् ? , भगवानाह—‘अत्येगइए’ इत्यादि, पुनः प्रभवति—यस्तु भवन्त ! भवधीत प्रत्येत् रोचयेत् स आमिनिबोधिकमुत्त्वाने उत्पादयेत् ? , भगवानाह—‘इत्ते’त्यादि, [अनुमतौ] वृता गौतम ! उत्पादयेत्, केवलप्रभवसधर्मभ्रवणभ्रदानादयस्य तयोर्भावात्, मूयः प्रभवति—यो भवन्त ! आमिनिबोधि-कमुत्त्वाने उत्पादयति स ‘सचाएज्जा’ शकुभात् ‘शील’ प्रवचये ‘अत’ चित्र द्रम्यादिविषयनियमरूप गुण—उत्तर गुण भायनादिरूप विरमण—विरतिरतीतस्थूलप्राणातिपातादेः प्रत्याख्यान—अनागतस्य स्थूलप्राणातिपातादेरेव, पोष—धर्मपोष दधाति—क्षतीतीति पोषध—अष्टम्यादिपर्व तस्मिन्नुपवासः पोषधोपवासः त प्रतिपद्यु शकुभात् ! । भगवानाह—‘अत्येगइए’ इत्यादि, इह विरथां मनुष्याणां च भवप्रत्ययतोऽवधिर्नोपजायते किन्तु गुणतः, गुणाश्च

श्रीलप्रतादयोऽस्यापि विद्यन्ते ततः किमस्वाधधिज्ञानमुत्पद्यते किं वा न ? इति प्रश्नयति, 'जे ण मंते !' इत्यादि,
 यस्य शीलप्रताविधिपयविप्रकृष्टपरिणामभावात् भवधिज्ञानावरणकर्मणः क्षयोपशम उपजायते स उत्पादयेत्, श्रेयस्तु
 नेत्यर्थः ॥ अधधिज्ञानानन्तरं च मनःपर्ययज्ञानं द्रष्टव्यं, मनःपर्ययज्ञानं चाभ्यारस्य भवति "तं सजयस्स सवप्प-
 मायरहियस्स विधिहरिद्धिमतो" [तत् सयतस्स सर्वप्रमादरहितस्य विधिधर्द्धिमतः] इति वचनात्, ततोऽनगा
 रतामेव प्रभयति—'जे णं मत !' इत्यादि, सुण्हो द्विधा—द्रव्यतो मावतम्, द्रव्यतः केशाद्यपनयनेन मावतः सर्व-
 सङ्गपरित्यागेन, तत्रेह द्रव्यसुण्हत्वात्समयाद् भाषणुण्ड परिच्छद्यते, सुण्हो सूत्या अगारात्—स्वाश्रयरूपाद् विनि
 र्गस्य न विद्यते अगार—गृह द्रव्यतो भावतम् यस्यासौ अनगरः तद्भाषोऽनगरता तां प्रमज्जितुं शक्नुयात् ?, मग-
 घानाह—नायमर्थः समर्थः, तिरश्चां सवस्वमायतः तयारूपपरिणामासमवात्, अनगरताया अभावे मनःपर्ययज्ञा-
 नस्य चाभाषः सिद्ध एव । यया च तिर्यकूपधेऽत्रयविषय सृष्टकदम्बकमुक्तं तथा मनुष्यविषयमपि वक्तव्यं, नपर
 मनुष्येषु सर्वभाषसंभवात् मनःपर्ययज्ञानकेवलज्ञानसूत्रे अधिकं प्रतिपादयति—'जे ण मंते ! सचापञ्जा मुहे मवित्ता'
 इत्यादि सुगम, नपर 'सिञ्छेज्जा' इत्यादि, सिञ्च्येत—समस्त्राणिमैश्वर्यादिसिद्धिमाक् भवेत् बुध्येत—लोकालो
 कस्वरूपमन्त्रेपमवगच्छेत् बुध्येत—भवोपमादिकर्मभिरपि, किमुक्तं भवति ?—सर्वदुःखानामन्तं कुर्यात् । धान-
 मन्तरज्योतिष्कैमानिकेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः, नैरयिकस्य भवस्वामाभ्यात्रैरयिकेधमभवयोग्यायुर्षन्धवासमवात् ।

तदेव नैरयिका नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तिताः, साम्प्रतमसुरकुमारान्नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—

असुरकुमारे णं मते ! असुरकुमारोहिंवि अणंतर उव्वञ्जेखा !, गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे ! असुरकुमारे णं मते ! असुरकुमारोहिंवि अणतर उव्वञ्जेखा !, गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे, एव जाव यणियकुमारेसु । असुरकुमारे णं मते ! असुरकुमारोहिंवि अणतर उव्वञ्जेखा !, इत्वा गोयमा ! अत्येगए उव्वञ्जेखा अत्येगए णो उव्वञ्जेखा । ने ण मते ! उव्वञ्जेखा से णं केवल्लिधं घम्मं लभेखा सवणयाए !, गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे ! एवं आउवणस्सइसुवि । असुरकुमारा णं मते ! असुरकुमारोहिंवि अणंतर उव्वञ्जेखा सेउव्वञ्जेखा !, गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे, अवसेसेसु णं चसु णं चिदियतिरिस्सुजोणिइसु असुरकुमारोसु अहा नेरइओ, एवं जाव यणियकुमारा (सुत्रं २५९)

‘असुरकुमारा ण मते !’ इत्यादि प्राग्वत्, नवरमेते पृथिव्यध्वनस्पतिव्वप्युत्पद्यन्ते, ईशानान्तदेवाना तेपूपादापिरोघात्, तेषु चोत्पन्ना न केवल्लिप्रद्वसं घर्मं लभन्ते अघणतया, अघणेन्द्रियस्यामावात्, अघे सर्वं नैरयिकवत्, एव ‘जाय यणियकुमारा’ इति एवमसुरकुमारोकेन प्रकारेण तावद्दुग्ध्य यावत्स्त्रानितकुमाराः ।

पुठ्ठीकाप्र ए णं मते ! पुठ्ठीकाइएहिंवि अणंतर उव्वञ्जेखा !, गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे, एवं असुर-

इमारेष्टवि, जाव यणियकुमारोसुवि । पुढवीकाइए णं मंते ! पुढवीकाइएहिंतो अणंतरं उवट्टिणा पुढवीकाइएसु उववसे
 ष्णा ? गोयमा ! अत्येगतिए उववसेष्णा अत्येगतिए णो उववसेष्णा, जे णं मंते ! उववसेष्णा से णं केवलियअचं घम्मं
 लमेष्णा सवणयाए ? गोयमा ! नो इण्ठे समंठे । एवं आउक्काइआदिस्सु निरंतरं माभियवं जाव षउरिदिस्सुं । पंचिदिस्सु
 तिरिखखओणिसमणुस्तेसु बहा नेरइए । वाणमंतरओइससंयमाणिस्सु पच्छिसेहो । एवं जहा पुढवीकाइओ मयिओ उहेव
 माउक्काइओवि, जाव यणस्सइकाइओवि माणियवो ॥ तेउक्काइए णं मंते ! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उवट्टिणा नेरइएसु
 उववसेष्णा ? गोयमा ! गो इण्ठे समंठे, एवं असुरकुमारोसुवि, जाव यणियकुमारोसु, पुढवीकाइआउवाउतेउववणयेइदि-
 योइदिस्सुचउरिदिस्सु अत्येगतिए उववसेष्णा अत्येगतिए णो उववसेष्णा, जे णं मंते ! उववसेष्णा से णं केवलियअचं
 घम्मं लमेष्णा सवणयाए ? गोयमा ! नो इण्ठे समंठे । तेउक्काइए णं मंते ! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उवट्टिणा पंचि-
 दिस्सुतिरिखखओणियस्सु उववसेष्णा ? गोयमा ! अत्येगतिए उववसेष्णा अत्येगतिए णो उववसेष्णा, से णं केवलियअचं
 घम्मं लमेष्णा सवणयाए ? गोयमा ! अत्येगतिए लमेष्णा अत्येगतिए णो लमेष्णा, जे णं मंते ! केवलियअचं घम्मं
 लमेष्णा सवणयाए से णं केवलि पोहिं पुग्गमेष्णा ? गोयमा ! नो इण्ठे समंठे ॥ मणुस्सवाणमतरओइस्सियवेमाजियस्सु पुच्छा,
 गोयमा ! नो इण्ठे समंठे । एवं जेहेव तेउक्काइए निरंतरं एवं वाउक्काइएवि (सुत्रं २६०)

पुषिषीकापिका नेरयिकेसु देवेसु च प्रतिपिच्यन्ते, तेयां विचियमनोद्रभ्यासमथतस्सीप्रसहेयविशुद्धाध्यवसायासा-

धात्, द्वेषु तु सर्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते, तद्योग्याध्यवसायस्थानसमधात्, तत्रापि च तिर्यक्पक्षेत्रियेषु मनुष्येषु च नैरयिकयद् वक्तव्य, प्रथमशक्तिका यनस्पतिकायिकाश्च वक्तव्याः । तेजस्कायिका धायुकायिकाश्च मनुष्येष्वपि प्रतिषेधनीयाः, तेषामानन्तर्येण मनुष्येषूपत्पादासमधात्, असमयश्च क्लिष्टपरिणामतया मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीमनुष्यायुर्बधासमधात्, तिर्यक्यक्षेत्रियेषूपत्पन्ना केवलप्रज्ञस धर्मं भवणतया लभेरन्, भवणेत्रियस्य माधात्, पुनश्चां केवलिकी धीर्धि नापनुष्येरन्, सक्लिष्टपरिणामत्वात् ।

क्षेत्रियेणं मते ! क्षेत्रियर्हितो अर्णतरं उब्रष्टिवा नेरयसु उववजेजा !, गोयमा ! ज्वरा पुढवीकाश्चा ! नवरं मणुस्सेसु जाव मणपञ्जवनाण उप्याजेजा । एवं तेक्ष्विया चउरिदियावि जाव मणपञ्जवनाणं उप्याजेजा । जे णं मणपञ्जवनाणं उप्याजेजा से णं केवलनाणं उप्याजेजा !, गोयमा ! नो इण्ठे समंठे । (सूत्रं तद्वै ?) पक्षिदियतिरिखखबोगिया ण मते ! पक्षिदियतिरिखखबोगियेर्हितो [अर्णतरं] उब्रष्टिवा नेरयसु अर्णतरं उववजेजा !, गोयमा ! अत्येगइए उववजेजा अत्येगइए णो उववजेजा, से णं केवलपण्णर्षं धम्मं लमेजा सवणयाए !, गोयमा ! अत्येगइए लमेजा अत्येगइए णो लमेजा, जे णं केवलपण्णर्षं धम्मं लमेजा सवणयाए से णं केवलं बोहिं पुग्गेजा !, गोयमा ! अत्येगतिए पुग्गेजा अत्येगतिए णो पुग्गेजा, जे ण मंठे ! केवलं बोहिं पुग्गेजा से ण सवरेजा पचिएजा रोएजा !, इंता गोयमा ! जाव रोएजा, जे णं मंठे ! सवरेजा० से णं आमिधिवोइियनाणसुपनाणयोदिनाणां उप्याजेजा !, इंता गोयमा ! जाव उप्या-

देजा !, च न मते ! आभिनिवीहिपनाजमुपनाथबोहिनाजाई उप्पादेजा से षं संचाएजा सीले वा जाव पछिविञ्चिए ? , गोयमा ! नी इण्हे समंढे । एवं असुरकुमारोसुधि, जाव यजियकुमारोसु । एगिदियधिगलिदिएसु जहा पुढवीकाइजा । धंधियतिरिखबोणिएसु मणुस्सेसु य जहा नेरइए । वाणभंतरबोइसियवेमाणिएसु जहा नेरइएसु [उववज्जए] पुष्ठा मणिया एवं मणुस्सेवि, वाणभतरबोइसियवेमाणिएसु जहा असुरकुमारे । (सुत्रं २६२)

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पृथिवीकायिकवत् देयनैरयिकवर्जेषु श्रेषु सर्वेष्वपि स्थानेषूत्पद्यन्ते, नयर पृथिवीकायिका मनुष्येव्यागता भन्तक्रियामपि कुर्युः ते पुनरन्तक्रियां न कुर्वन्ति, तयामवस्वमावात्, मनापर्यवज्ञान पुनरुत्पाव-येयुः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याम सर्वेष्वपि स्थानेषूत्पद्यन्ते, तद्वक्यता च पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योतिष्कबैमानिका असुरकुमारवद् मायनीयाः । गत चतुर्थ्यं द्वार । इदानीं पञ्चम तीर्थकरत्वषकम्भताठक्षण द्वारमभिधित्सुराह-

रयण्यमापुढवीनेरइए नं मंते ! रयण्यमापुढवीनेरइएहिंती अणतरं उवहिचा वित्यगरचं लमेजा !, गोयमा ! अत्येग इए लमेजा अत्येगइए णो लमेजा, से केण्ढेणं मंते ! एवं शुभइ—अत्येगइए लमेजा अत्येगइए णो लमेजा !, गो० ! अस्स षं रयण्यमापुढवीनेरइवस्स वित्थगरनामगोयाई कम्माई पढाई पुढाई निषपाई कढाई पढावियाई निविद्दाई अभिनिविद्दाई अभिसममागयाई उदिभाइ णो उवसंवाई इवंति से षं रयण्यमापुढवीनेरइए रयण्यमापुढवीनेरइएहिंती अणतरं उवहिचा वित्थगरचं लमेजा, अस्स षं रयण्यमापुढवीनेरइएसु वित्थगरनामगोयाई णो पढाई जाव णो उदिभाइ

उवसंताइ इवंति से णं रयणप्पमापुढ्ठीनेरइए रयणप्पमापुढ्ठीनेरइएहिती अणंतरं उवट्टिचा तित्थगरणं णो लमेज्जा, से
तेण्ठेणं गोयमा ! एव बुवइ-अत्येगतिए लमेज्जा अत्थेगतिए णो लमेज्जा । एवं सक्कप्पमाखावालुयप्पमापुढ्ठीनेरइए-
हिती तित्थगरणं लमेज्जा । पंक्कप्पमापुढ्ठीनेरइए णं मंते ! पंक्कप्पमा०हिती अणंतरं उवट्टिचा तित्थगरणं लमेज्जा ।,
गोयमा ! णो इण्ठे समड्ढ, अंतकिरियं पुण करेज्जा, घूमप्पमापुढ्ठी० पुच्छा, गोयमा ! णो इण्ठे समड्ढे, सबविरइ पुण लमे
ज्जा, समप्पमापुढ्ठीपुच्छा, विरयाविरइं पुण लमेज्जा, अइसपमपुढ्ठीपुच्छा, गोयमा ! णो इण्ठे समड्ढे, सम्मचं पुण
लमेज्जा । असुरकुमारस्त पुच्छा, णो इण्ठे समड्ढे, अंतकिरिय पुण करेज्जा । एवं निरंतरं जाव आउकाइए । तेउकाइए
णं मंते ! तेउकाइएहिती अणंतरं उवट्टिचा उववज्जेज्जा (तित्थगरणं ल०), गो० ! णो० ति०, केवल्लिपमचं घम्मं
लमेज्जा सवणपावे, एवं वाउकाइएवि, वयसइकाइए णं पुच्छा, गो० ! णो० ति०, अतकिरियं पुण करेज्जा, वेइविय-
तेइवियउरिदिए णं पुच्छा, गो० ! नो० ति०, मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा, पंथिवियतिरिखबोणियमसूसवाणमंतरजो-
इसिए ण पुच्छा, गो० ! णो० ति०, अंतकिरियं पुण करेज्जा, सोइस्मगदेवे ण मंते ! अणंतरं वचं वइचा तित्थगरणं
लमेज्जा, गो० ! अत्ये० ल० अत्ये० नो ल०, एवं जइा रयणप्पमापुढ्ठीनेरइए एव जाव सबट्टिसिद्धगदेवे ॥ (सूत्रं २६३)

‘रयणप्पमापुढ्ठीनेरइया ण मते !’ इत्यादि सुगम, नवर ‘बद्धानि’ सूचीकटाप इव सूत्रेण प्रथमतो बद्धमा-
त्रानि, तदन्तरमधिसपर्कानन्तर सच्छत् घनकुट्टितसूचीकटापवत् स्थानि ‘निषत्थानि’ उद्धर्तनापवर्तनाजञ्जेवकर-

णायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीति भावार्थः 'कृतानि' निकाधितानि सकलकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः
 'प्रस्थापितानि' मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिप्रसबादरपर्याप्तसुमगादेययज्ञःकीर्तिनामसहोदयत्वेन व्यवस्थापितानीति
 भावः 'निविष्टानि' तीप्रानुभावजनकतया स्थितानि 'अभिनियुष्टानि' विशिष्टविशिष्टतराभ्यवसायभावतोऽतिती
 प्रानुभावजनकतया व्यवस्थितानि 'अमिसमन्वागतानि' उदयाभिसुखीभूतानि 'उदीर्णानि' विपाकोदयमागतानि
 'नोपशान्तानि' न सर्वथाऽमाषमापन्नानि निकाधिताद्यवस्योद्रेकरहितानि षा न भवन्ति, श्रेय समस्तमपि कण्ठ्य,
 एव शर्कराप्रमाषाण्टकाप्रमाधिपये अपि सूत्रे वक्तव्ये । पङ्कप्रमापृथिवीनैरयिकस्ततोऽनन्तरमुद्बुधः तीर्थकरत्व न
 लभते, अन्तक्रिया पुनः कुर्यात्, धूमप्रमापृथिवीनैरयिकोऽन्तक्रियामपि न करोति, सर्वविरतिं पुनर्लभते, तम-
 प्रमापृथिवीनैरयिकः सर्वविरतिमपि न लभते, विरत्यधिरतिं—देशविरतिं पुनर्लभते, अधःसप्तमपृथिवीनैरयिक पुन-
 स्सामपि देशविरतिं न लभते, यदि परं सम्यक्त्वमात्र लभते । असुरादयो यावद्भनस्पतिकाया अनन्तरमुद्बुधाः तीर्थ
 करत्व न लभन्ते, अन्तक्रिया पुनः कुर्युः । वसुदेवचरिते पुनर्नागकुमारैर्म्योऽप्युद्बुचोऽनन्तरमैराधतक्षेत्रेऽस्याभेवावस-
 रिण्यां चतुर्थिश्चतितमस्वीर्थकर उपदर्शितः, तदत्र तत्त्व केवलिनो विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्बुधाः अन्तक्रि-
 यामपि न कुर्वन्ति, मनुष्येषु तेषामानन्तर्येणोत्पादाभावाद्, अपि च ते तिर्यक्षपन्नाः केवलिप्रज्ञप्त धर्म श्रवणतया
 लभेरन्, न तु धोघत इत्युक्तं प्राक्, धनस्पतिकायिका अनन्तरमुद्बुधास्वीर्थकरत्व न लभन्ते, अतक्रियां पुन कुर्युः,

द्वित्रिचतुरिन्द्रिया अनन्तरमुद्बुत्तास्त्रामपि न कुर्वन्ति, मनःपर्यायज्ञान पुनरुत्पादयेयुः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुप्यव्यन्त
रज्योतिष्का अनन्तरमुद्बुत्तास्त्रीर्येकरत्न न लभन्ते, अन्तक्रियां पुन कुर्तुं, सौधमोदयः सर्वार्थेसिद्धिपर्यवसाना नैर-
यिकपद्मकन्याः । गत तीर्थेकरद्वार, सम्रति चक्रवर्त्तित्वादीनि द्वाराण्युच्यन्ते—

रपण्यमापुढयिनेरए णं मते ! अणतरं उबद्विषा षक्यद्विचं लमेज्जा, गो० ! अत्ये० लमेज्जा अत्ये० नो लमेज्जा, से
क्रेणट्टेणं मते ! एवं बु० !, गो० ! बहा रण्यप्यमापुढयिनेरएयस्त वित्थगरणं । सक्करप्यमानेरए अणतर उबद्विषा चक्य
द्विचं लमेज्जा !, गो० ! नो० ति०, एवं जाव अवेसत्तमापुढयिनेरए, तिरियमण्यएहिंतो पुञ्जा, गो० ! गो० वि०, मव
णपतिपाणमंतरज्जेतिसियेयमाणिएहिंतो पुञ्जा, गो० ! अत्ये० ल० अत्ये० नो लमेज्जा, एवं बल्लवेचंपि, णवरं सक्करप्य
मापुढयिनेरएपि लमेज्जा, एवं वामुदेचं दोहिंतो पुढयीहिंतो येमाणिएहिंतो य अणुत्तरोषवाइयवजेहिंतो, सेसेसु नो ति०,
मंढलियत्त अवेसत्तमा वेउवाज्जवजेहिंतो, सेणावरयणचं गाहावरयणचं वट्टुतिरयणचं पुरोहियरयणचं इत्थियरण(णचं)
च एय षेव, णवरं अणुत्तरोषवाइयवजेहिंतो, आत्तरयणचं इत्थियरणचं—र्यणप्यमाओ-प्पिरंतरं—जाव-सहस्सारी, अत्ये०
लमेज्जा अत्ये० नो लमेज्जा, चक्करयणचं छत्तरयणत्त चम्मरयणत्त दंढरयणचं अत्थियरणचं मणियरणचं कागिणिय
णचं एवसिभं अमुत्तुमारोहिंतो आत्त निरंतरं जाव ईसाणाओ उवमाओ, सेसेहिंतो नो तिप्पट्टे समट्टे (सुत्तं २१४-)
तत्र चक्रवर्त्तित्प रत्तप्रमानैरयिकमयनपतिव्यन्तरज्योतिष्कैभानिकेभ्यो न ज्ञेयेभ्यो, बल्लदेववासुदेवत्वे षकंरातोऽपि,

नपर यासुदेयस्य वैमानिकेभ्योऽनुष्ठरोपपातवर्जेभ्यः, मण्डलिकुत्वमघ-सप्तमतेजोवायुवर्जेभ्यः श्वेपेभ्यः सर्वेभ्योऽपि
 स्वानेभ्यः, सेनापतिरत्नस्य गाथापतिरत्नस्य वार्द्धकिरत्नस्य पुरोहितरत्नस्य खीररत्नस्य बाघःसप्तमपृथिवीतेजोवायुबनु
 चरोपपन्नदेववर्जेभ्यः श्वेपेभ्यः स्वानेभ्यः, अश्वरत्नस्यद्विखिलत्वे रत्नप्रभात आरम्य निरन्तर यावदासहस्रारात्, चक्र-
 रत्नत्वं छत्ररत्नस्य घर्मरत्नत्वं दण्डरत्नत्वमसिरत्नस्य मणिरत्नस्य काकणिरत्नस्य चासुरकुमारादारम्य निरन्तर यावदीश्रा-
 नात्, संयत्र विधियास्ये 'आयेगइए लमेजा' इति वक्तव्य, प्रतिपेधे 'जो इणहे समडे'
 इति । तदेवमुक्तानि द्वाराणि, सम्प्रति उपपातगत किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति तदमिधित्सुराह—

अह मते ! असंख्यमवियदबदेयाणं अविराहियसंजमाणं अविराहियसंजमाणं अविराहियसंजमाणं विराहियसंजमासं-
 जमाणं असुष्णीर्णं तावत्सत्त्वं कंदम्पियाणं चरगपरिष्ठापमाणं किञ्चित्पियाणं तिरिच्छियाणं आखीवियाणं आभिञ्जोरियाणं
 सुस्तिगीणं दंसणवावण्णमाणं देवलोगेसु उवणज्जमाणार्णं कत्स कहि उववाओ पण्णचो?, गो! असंख्यमवियदबदेवाणं
 जहण्णेणं मवणवासीसु उक्को० उवरिमगेवेजाएसु, अविराहियसंजमाणं जह० सोहम्मो कल्पे उक्को० सवट्ठसिद्धे, विराहियसं-
 जमाणं जह० मवणवासीसु उक्को० सोहम्मो कल्पे, अविराहियसंजमाणं जह० सोहम्मो कल्पे उक्को० अशुए कल्पे,
 यिराहितसंजमाणं ज० मवणवासीसु उक्को० जोत्तिसिएसु, असम्भीणं जहणेणं मवणवासीसु उ० वायमंतरेसु, ताव-
 सार्णं ज० मवणवासीसु उक्को० जोहसिएसु, कंदम्पियाणं ज० मवणवासीसु उ० सोहम्मो कल्पे, चरगपरिष्ठापमाणं ज०

मवणवासीसु उ० बंमठीए कप्ये, किंघिसियाणं बह० सोहमे कप्ये उ० छैतए कप्ये, तिरिच्छियाणं बह० भवणवासीसु उ० सहसारे कप्ये, आषीवियाणं ब० मवणवासीसु उ० अयुए कप्ये, एवं आमिओगाणवि, सलिगीणं वंसपवावणा-
गार्णं ब० मवणवासीसु उ० उवरिमगेवेजएणु (सूत्रं २६५)

‘अह मते !’ इत्यादि, अपेति परप्रश्ने ‘असंजयमवियदददेवाण’मिति असयताः—घरणपरिणामशून्या मय्या—
देयत्ययोग्या अत एव द्रव्यदेयाः, समासशेष—असयताश्च ते मव्यद्रव्यदेवाश्चासंयतमव्यद्रव्यदेवास्तेषां, तत्रैके प्राहुः—
एते फिलासयतसम्यग्दृष्टयो देयेषूपपादात्, उक्तं च किलेषमागमे—“अणुषयमहबयहि य बालतवोकामनिज्वराए
य । देपाउय निबधइ सम्महिदी य जो जीवो ॥ १ ॥” [अणुप्रतमहाप्रतैर्बालतयोऽकामनिर्जरा च । देवायुष्कं
निषणाति सम्यग्दृष्टिश्च यो जीवः ॥१॥] तदयुक्तम्, यतोऽमीयासुत्कृत उपरितनम्रैरेयकेषूपपातो वस्यते, सम्यग्द-
ष्टीनां तु देशयिरतानामपि न तत्रोपपातोऽस्ति, देश्विरतश्रावकायामप्यभ्युताईर्कमगमनात्, नाप्येते निहवास्तेषामि-
द्वैव भेदेनाभिधानात्, तस्मान्मिथ्यावृष्टय एवामय्या मन्या वा श्रमणगुणधारिणो निखिलसामाचार्यनुष्ठानसुक्ता द्रव्य-
लिङ्गधारिणोऽसयतमव्यद्रव्यदेवाः प्रतिपत्तव्याः, तेऽपीहास्त्रिलकेषलक्रियाप्रमाथत उपरितनम्रैरेयकेषूपपात एवेति,
असंयताश्च ते सत्यव्यनुष्ठाने धारित्रपरिणामशून्यत्वात्, ‘अथिराद्वियसजमाण’मिति प्रप्रज्याकाळादारम्यामग्रचारि-
त्रपरिणामानां सज्यलनफपायसामर्थात् प्रमत्तगुणस्यानकवन्नाद्वा स्वल्पमायादिवोपसम्भवेनापि अनाचरितसर्वथाच-

रणोपघातानामित्यर्थः, तथा 'विराहियसजमाण'ति
 भूषः सन्वितः सयमो वैश्वे विराधितसयमास्तेषां 'आ
 श्विरतिपरिणामानां धामकाणां 'विराहियसजमासज
 द्विचप्रतिपत्त्या पुनर्नवीकृतः सयमासयमो वैश्वे विराधि
 मन्निर्धरायतां तथा 'तापसाण'ति परिश्रुतितपत्राद्युपमो
 हासः स एषामस्ति तेन वा ये धरन्ति ते कान्वर्षिकाः,
 फारकाः, उक्त च—“कदप्ये कुकुण्ड दवसीले यापि हार
 कदकदकदस्स हसण कदप्यो अणिहुया य उछावा। कद
 दसणच्छेदिं फरपायकणमार्हिं । तं त करेइ जद जद
 जपइ जेण इस्सए लोओ । गाणाविहजीयरुते कुघइ सुहरए चेष ॥ ४ ॥ मासइ दुय २ गच्छए य दरिओ(य)गो
 य सो सरए । सध दध कुणइ [कारी] फुहर धदि(मरि)ओ य दप्येण ॥ ५ ॥ वेसवपणेहिं हास जणयंतो अप्पणो
 परेसिं च । अह हासणोत्ति मणइ घयणोच छले नियच्छतो ॥ ६ ॥ सुरजालमाइएहिं तु विम्हय कुणइ तधिदज-
 णस्स । तेसु न विम्हइ य सय आइहुक्कहठएसु च ॥ ७ ॥ जो सजओवि पयासु अप्पसत्थासु भावण कुणइ । सो

पयचित्तप्रतिपत्त्या
 रम्याखणित्तवे-
 तो न पुनः प्राय
 ररहितानामका
 ऽन्वप्यः—परि-
 र्वकौकुम्यादि-
 कुणइ ॥ १ ॥

१ २ ॥ सुमनयणवयण-
 १ ॥ चंपणा अहसं ॥ ३ ॥ धाराइ कुकुओ पुण त
 ४ ॥ मासइ दुय २ गच्छए य दरिओ(य)गो
 ५ ॥ वेसवपणेहिं हास जणयंतो अप्पणो
 ६ ॥ सुरजालमाइएहिं तु विम्हय कुणइ तधिदज-
 ७ ॥ जो सजओवि पयासु अप्पसत्थासु भावण कुणइ । सो

तद्विदेसु गच्छइ सुरेसु माइओ धरअहीणो ॥ ८ ॥” [कन्दर्पे कौकुम्भे द्रवशीलघापि हासकरम्ब । विस्मापयन् पर
 कान्दर्पी भायनां करोति ॥ १ ॥ फहकहकहेतिहसन कन्दर्पः अनिधतामोक्षापाः । कन्दर्पकयाकयन कन्दर्पोपवेद्यप्रथंसे
 च ॥ २ ॥ भ्रूनयनयदनदशनच्छदैः करपादकर्णाविभिः । तत्तत्करोति यया यया हसति पर आत्मनाऽहसन् ॥ ३ ॥
 पाषा कुकुषः पुनस्वत् जल्पति येन हसति लोकः । नानाविधजीषरतान् करोति सुखदुर्याणेष्वेव ॥ ४ ॥ मायन्
 द्रुत २ गच्छति च दूषो गौरिष सरति सः । सर्वे द्रव्य करोति स्फुटति च भृतो दर्पेण ॥ ५ ॥ वेपथचनास्यां हास
 जनयन् आत्मनः परेषा च । असौ हसन इति भवयते घृतम इय छलानि गयेपयन् ॥ ६ ॥ इन्द्रजालादिभिस्तु
 पिसय करोति तथाविधजनानां । तैर्न विस्मयते स्वय आहस्योत्कथनेन स्वगकम्ब ॥ ७ ॥ यः सथतोऽप्येतास्वप्रद्व-
 स्वासु भावनां करोति । स तद्विषेषु गच्छति सुरेषु भक्तधरणहीनः ॥ ८ ॥] तेषां कान्दर्पिकाणां, ‘धरगपरिबाय-
 याण’ति धरकपरिमाजका—धाटिमैद्योयजीविनस्त्रिदयिद्धन, अथवा चरकाः—कच्छोटकादयः परिमाजकाः—
 कपिलयुनिसूनयः, धरकाश्च परिमाजकाश्च तेषां, तथा ‘किविसियाण’ति किस्त्रिय—पाप तदस्ति येषां ते किस्त्रि-
 यिकास्ते च भ्यवहारतत्करणवन्त एव ज्ञानाद्यवर्ष्यधादिनः, उक्त च—“नाणस्व केवलीण धम्मायरियस्व सबसाहण ।
 माई अवण्णवाई किविसिय मावण कुणइ ॥ १ ॥ कापा घपा य ते विय ते चैव पमाय अप्यमाया व । मोषस्त्राहि-
 गारियाण जोइसजोणीई किं कच्च ? ॥ २ ॥ एगसरमुप्पाए अण्णोण्णावरणया हुवेणहपि । केवलदसबनाणाणमे-

गकाले ष षगच ॥ ३ ॥ अथार्थेहि अवणण विहसइ षट्टइ नयावि लयषाप । अहिओ छिह्वेही पगासवार्ई अपणु-
 कूलो ॥ ४ ॥ अथिसहणाहुरियगई अणणुवची य अवि गुरुणपि । खणमेचपीइरोसा गिहवच्छलगा य सजइया
 ॥ ५ ॥ गइइ आयसहाव घायइ य गुणे परस्स सतेवि । घोरोष सवसकी गूढायारो यितहमासी ॥ ६ ॥
 [ज्ञानस्य केषलिनां धर्माचार्यस्यसाधूनां । मास्यवर्षवादी किल्बिपिकीं सावनां करोति ॥ १ ॥ काया प्रतानि च
 तान्येष तावेष प्रमादाप्रमादौ । मोक्षाधिकारिणां ज्योतिर्योनिभिः किं कार्यं ॥ २ ॥ एकान्तरोत्पादे अन्योऽन्यावरप्यता
 इयोरपि । केवलज्ञानवर्धनयोरेककालत्वे चैकत्व ॥ ३ ॥ जात्यादिभिरवर्णं (वदति) वर्चसे न चाप्युपपाते । अहित-
 त्थिप्रप्रेषी प्रकाशवादी अननुकूलः ॥ ४ ॥ अविपहना मन्दगतयो अननुष्टयो गुरुष्णामपि । खणमात्रप्रीतिरोपा
 गइयत्सलकाश्च सयतका ॥ ५ ॥ गूहृत आत्मस्वमाव घातयति च गुणान् परेषां सतोऽपि । घोर इष सर्वशङ्की
 गूढाचारो यितयमापी ॥ ६ ॥] तेषां, 'तिरिच्छियाण'ति तिरसां—गवादीनां देवपिरत्तिमाजां 'आजीवियाण'ति
 आजीविकाः—पाखण्डविशेषा गोशालमतानुसारिणः अथवाऽऽजीवन्ति ये अविवेक्तो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिश्च-
 रणादीनि इत्याजीविकाः तेषां, तथा 'आभियोगियाणं'ति अभियोजनं—विधामन्नादिभिः परेषां पश्रीकरणादि
 अभियोगः, स च द्विया, यदाह—“दुषिहो सल्लु अभिमोगो दवे माधे य होइ नायधो । दधमि होति जोगा
 विच्चा मता य माधम्मि ॥ १ ॥” [द्विपिधः खल्वभियोगो ब्रह्मे भावे च भयति ज्ञातव्यः । ब्रह्मे भवन्ति योगा

विद्या मन्नाथ माये ॥ १ ॥] सोऽस्ति येषां तेन वा चरन्ति ये ते अभियोगिका आभियोगिका वा, ते च व्यवहार-
रतश्चरणयन्त एव मन्नादिप्रयोकारः, उक्त च—“कोऽथ भूर्धर्ममे पसिणापसिणे निमिषमाजीवी । इदिरससाय-
गरुजो अभिमोग माधव कुण्ड ॥ १ ॥” कौतुक—सौभाग्याद्यर्थे रूपन मृतिकर्मे—ज्वरितादिसृतिदान प्रजाप्रसा-
स्वप्नप्रियादि, ‘सर्लिंगीण’मिति रजोहरणादिसाधुलिङ्गयतां, किंविधानामित्याह—‘दसणवावण्णगण’ति दर्शन—
सम्यक्त्य व्यापन्न—भ्रष्टं येषां ते तथा तेषां, निह्वानामित्यर्थः, ‘देवलोगेषु उषवज्जमाभाज’ति जनेन देवत्वाद्-
न्यत्रापि यथाऽऽश्चयसायसुत्पादो भवतीति प्रतिपादितं, ‘विराडियसज्जमाणं जहण्णेषेण मरणवासीसु उळोसेण
सोऽहम्मे’ इति, अत्र कथिदाह—विराधितसयमानामुत्कर्षेण सौधर्मे कल्पे इति यहुक तत्कथ्य घटते ? , प्रौपद्याः
सुकुमालिकामये विराधितसयमाया अपि ईशानकल्पे उत्पादश्चवणात्, नैय दीयः, तस्या हि सयमविराधना उत्तर-
गुणविषया षकुश्लमात्रकारिणी न मूलगुणविराधना, सौधर्मोत्पादश्च प्रमूतरतसयमविराधनायां भवति, यदि पुन-
र्विराधनामात्रमपि सौधर्मोत्पत्तिकारण स्यात् तदा षकुशादीनामुत्तरगुणादिप्रतिसेवावतां कथमन्युतादिपुत्पत्तिरुपप-
द्यते ? , कथञ्चिद्विराधकृत्याच्चेपामिति । असङ्गी देवैपुत्यद्यते इत्युक्त, स वायुया इति तवायुर्निरूपयति—

कतिविदे णं मंते ! असण्णियाउए पण्णसे ? , गो० ! षडविधे असण्णिमाउए पं०, सं०—नेरुमअसण्णिमाउए आध वेव-
असण्णिमाउए । असण्णी ण मंते ! जीने किं नेरुमाउर्न पक्केसि ? , गो० ! नेरुमाउर्न पक्केसि

आष देयाउय पकरोति, नेरइयाउं पकरोमाणे जह० दस वाससहस्ताइ उ० पलिओवमस्स असंखेअइमाणं पकरोति, तिट्ठि-
 षवजोभियाउयं पकरोति, तिरिक्खजोभियाउयं पकरोमाणे जह० अयो० उक्खो० पलितोवमस्स असंखेअइमाणं पकरोति, एवं
 मणुस्साउयंपि, देवाउयं बहा नेरइयाउयं । एयस्स णं मंते ! नेरइयअसण्णियाउयस्स आष देवअसण्णियाउयस्स कत्तरे-
 २ हित्तो अप्पा वा ४ ? गो० ! सवत्थोवे देवअसण्णियाउए मणुसअसण्णियाउए असंखेअगुणे तिरिक्खजोभियअसण्णि-
 आउए असंखे० नेरइयअसण्णियाउए असंखे० । (सूत्रं २६४) पण्णवणाए धीसइर्म पद समर्चं ॥ २० ॥

'कइयिहे ण'मित्थादि व्यक्त, नयर 'असण्णियाउए'सि असंझी सन् यत्परमवयोग्यमायुर्वभाति तवसंज्ञयायुः,
 'नेरइयअसन्नियाउए'इति नैरयिकप्रायोग्यमसंज्ञयायुर्नैरयिकासंज्ञयायुरेवमन्यान्यपि, इहासंज्ञयायुरसंज्ञयस्थानुभूयमानम-
 प्युष्यते न चेदमत्र प्रकृतमतस्तत्कृतलक्षणसम्बन्धविशेषनिरूपणार्थमाह—'असण्णी' इत्यादि, व्यक्त नयर 'पकरोइ'
 इति पत्ताति, 'दस पाससहस्ताइ' इति रत्नप्रमात्रयमप्रसूटमधिकृत्य 'उक्खोसेण पलिओवमस्स असंखेअइमाण'
 इति पत्तए रत्नप्रमात्रयप्रतरे मध्यमस्थितिक नारकमधिकृत्य, प्रथमप्रसूटे हि जयन्या स्थितिर्वेश वर्षसहस्राणि
 उत्कृष्टा नयतिः सहस्राणि, द्वितीये दस लक्षाणि जयन्या उत्कृष्टा नवतिर्लक्षाणि, ततोऽत्र पत्योपमासहस्रेयभागो मध्यमा स्थितिर्भ-
 पूर्णकोटी, एतेष चतुर्थे जयन्या उत्कृष्टा सागरोपमस्य दशभाग, ततोऽत्र पत्योपमासहस्रेयभागो मध्यमा स्थितिर्भ-
 यति, तिर्यक्सूत्रे पत्योपमासहस्रेयभागो मिथुनकतिरश्वोऽधिकृत्य, 'एव मणुयाउयपि' इति जयन्येनान्तर्गुर्धर्ममुत्क-

र्पत्ताः पत्योपमासङ्क्षेपभागमित्यर्थः, अत्रापि पत्योपमासङ्क्षेपेयमागो मिथुनकनरानामित्य प्रतिपद्यन्व्यः, 'देवाद्य जह
 नेरइयावय'मिति देवासन्यायुक्त्या षड्भ्यः यथा नैरयिकासन्यायुर्जघन्यतो वद्व षर्पसहस्राणि सत्कर्पतः पत्योपमा-
 सङ्क्षेपेयमागप्रमाण षड्भ्यमिति भावः, 'एयस्व ण मते !' इत्यादिना यवसंन्यायुपोऽप्यबहुत्वं तदस्य ब्रह्मदीर्घित्थे
 प्रतीत्य ॥ इति धीमळयगिर्यौषाधिविरचितायां श्रीप्रज्ञापनाष्टौ विंशतितमं पद समाप्तम् ॥ २० ॥

अथ षड्कविंशतितम शरीरपद प्रारभ्यते ॥ २१ ॥

न्याख्यात विंशतितम पद, इदानीमेकविंशतितममारभ्यते—अस्य धायममित्त्वन्व्यः, इहानन्तरपदे गतिपरि-
 णामविधेयोऽन्तर्क्रियारूपपरिणाम उक्त, इहापि गतिपरिणामविधेय एव शरीरस्य सत्वानादिर्नरकादिगतिपूत्पन्नानां
 प्रतिपाद्यते, अत्र धेयमधिकारगाया—

विहिसंठापमाने योगलक्षिण्या सरीरसंयोगे । वक्ष्यपदसुऽप्यबहुं सरीरोगाहृजऽप्यबहुं ॥ १ ॥ कति वं मते ! सरीरया
 पञ्चा ? गो० ! पंच सरीरया पं०, वं०—ओराळिष १ वेउषिष २ आहारय ३ वेपय ४ कम्मय ५, ओराळिषसरीरे वं

मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—एगिदियओरालियसरीरे जाव पंचिवियओरालियसरीरे, एगिविय-
 ओरालियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—पुढविकाइयएगिदियओरालियसरीरे जाव षण
 प्फकाइयएगिदियओरालियसरीरे, पुढविकाइयएगिदियओरालियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! दुविधे पं०,
 तं०—सुहुमपुढविकाइयएगिदिमओरालियसरीरे चादरपुढविकाइयएगिदियओरालियसरीरे य, सुहुमपुढविकाइयएगिविय-
 ओरालियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! दु० पं०, तं०—पञ्चषण्णसुहुमपुढविकाइयएगिदियओरालियसरीरे
 य अपञ्चषण्णसुहुमपुढविकाइयएगिदिमओरालियसरीरे य, चादरपुढविकाइयायि एवं बेव, एवं जाव षणस्सइकामयएगि
 दियओरालियसि, षेइदियओरालियसरीरे ण मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! दुविधे पं०, तं०—पञ्चषण्णेइदियओरालि
 यसरीरे य अपञ्चषण्णेइदियओरालियसरीरे य, एवं षेइदिया चउरिदियायि । पंचिदियओरालियसरीरे णं मंते ! कति-
 विधे पं० !, गो० ! दुविधे, पं०, तं०—तिरिक्खओणियपंचिदियओरा० मणुस्सपंचिदियओरा०, तिरिक्खओणियपंचि-
 दियओरालियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! तिविधे पं०, तं०—जलयरतिरिक्खओणियपंचि० ओरालिय०
 यउयरतिरिक्खओणियपंचिदियओरा० खइयरति० पंचि० ओरा०, जलयरतिरि० पं० ओरालियसरीरे ण मंते ! कति
 विधे पं० !, गो० ! दुविधे, पं०, तं०—संमुच्छिमजल० पं० तिरि० ओरालि० गम्मवकतिजलयरपंचि० तिरि० ओरा
 लियसरीरे य, संमुच्छिमजल० तिरि० पंचिदियओरालियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! दुविधे पं०, तं०—
 पञ्चषण्णसंमुच्छिमपंचि० तिरि०ओरा० अपञ्चषण्णसंमुच्छिम० पं०ति०ओरालि०, एवं गम्मवकतिपि, जलयरपंचि०

तिरिक्ख०ओराळियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० !, गो० ! दुबिहे पं०, सं०—षउप्पयसलयर० तिरि० पधि० ओरा०
 परिसप्पसल० तिरि० पं० ओ०, षउप्पयसल० तिरि० पधि० ओराळियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० ? , गो० !
 दुबिहे पं०, सं०—ससु० षल० षउप्पयतिरि० पं०ओरा० गग्मवकतियषउप्पयसल० ति०पं०ओरा०, संसुच्छिमसउ०
 ओराळियसरीरे क्खविहे पं० !, गो० ! दुबिधे पं०, सं०—पससससु० षउ० यल० तिरि० पधि० ओरा० अपज्जच-
 संसुच्छिमसउ० षल० तिरि० पंधि० ओरा०, एवं गग्मवकंतिपधि, परिसप्पसलयरतिरि० पंधि० ओरा० मंते ! कति-
 विधे पं० ? , गो० ! दु० पं०, तं०—उरपरिसप्पसल० पं० तिरि० ओरा० सुयपरिसप्पसलपं० तिरि० ओराळियसरीरे
 य, उरपरिसप्पयसल० पंधि० तिरि० ओराळियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० ? , गो० ! दु० पं०, सं०—ससुच्छिमसउ०
 षल० पंधि० तिरि० ओरा० गग्मवकंतिषउ० षल० तिरि० पंधि० ओरा०, संसुच्छिमे दुबिहे पं०, तं०—अपसससं-
 सु० उर० षल० तिरि० पंधि० ओराळियसरीरे य पसससंसुच्छिमसउरपरिसप्पसलयरतिरि० पंधि० ओराळि०, एवं गग्म-
 वकंतिउरपरिसपे षउक्खो मेओ, एव सुयपरिसप्पाधि संसुच्छिमगग्मवकवियपससा अपससा य, सुइयरा दुविधा,
 पं०, सं०—संसुच्छिमा य गग्मवकंतिपा य, संसुच्छिमा दुविधा पं० ? , पससा अपससा य, गग्मवकंतिपाधि पससा
 उपससा य । मसुसपंधिदियओराळियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० ? , गो० ! दुबिहे पं०, सं०—संसुच्छिमममसुसपंधि०
 य गग्मवकंतिपमसुसपंधि० ओराळि०, गग्मवकंतिवम० पंधि० ओराळियसरीरे णं मंते ! कतिविधे पं० ? , गो० !
 ०, सं०—पसससंसुच्छिमवकंतिपमसुसपंधिदियओरा० अपससपससम० मसुसपंधिदियओरा० (षल० ५.९०)

'विद्विसृष्टाणपमाने' इत्यादि प्रथम विधयो—मेवा शरीराणां वक्तव्या, तदनन्तर सस्थानानि, ततः प्रमाणानि, तदनन्तर कतिम्यो दिग्म्य शरीराणां पुद्गलोपचयो भवतीत्येवं पुद्गलचयन वक्तव्य, ततः कस्मिन् शरीरे सति किं शरीरमवश्यमाधीत्येवयोगो वक्तव्यः, ततो द्रव्याणि च प्रवेशाच्च द्रव्यप्रवेशाः ते च द्रव्याणि च प्रवेशाच्च द्रव्यप्रवेशाः 'समानानामेकशेष' इत्येकशेषस्यैरल्पपदुत्यं वक्तव्यं, किमुक्तं भवति ?—द्रव्यार्थतया प्रवेशार्थतया द्रव्यार्थप्रवेशार्थतया च पञ्चानामपि शरीराणामल्पपदुत्वमभिघातव्यमिति, ततः पञ्चानामपि शरीराणामवगाहनानि धिपयमल्पपदुत्य वाच्यमिति गायासद्वेषेपर्यः । तत्र 'ययोद्देश निर्देश' इति प्रथमतो विधिद्वारमभिधित्सुरावौ शरीरमूलभेवान् प्रतिपादयति,—'कश्च न मते !' इत्यादि, कति—किपरिमाणानि णमिति वाक्यालङ्कारे मवन्त ! शरीर्यन्ते—प्रतिषण विन्नरारुमाप विन्नतीति शरीराणि, शरीराण्येव शरीरकाणि, तथा स्वार्थे कप्रत्ययः, मगवानाह—गौतम ! पञ्च शरीराणि प्रवृत्तानि मया अन्येषु द्वैपेस्वीर्यकृत्विः, तान्येव नामत आह—'ओरालिण्' इत्यादि, उबारं प्रधानं, प्राधान्य चास तीर्यकरणघरशरीराण्यधिकृत्य, ततोऽन्यस्यानुषरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उबारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाण, बृहत्त्वा चास वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहस्रजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उचरवैक्रिय योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेव औदारिक धिनयाविपाठादिकण्, तथा विधिधा पिसिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भव वैक्रिय, तथाहि—तदेकं मूत्वा अनेक भवति अनेक मूत्वा एक

तथा अणु भूत्वा महद्भवति महच्च भूत्वा अणु तथा खचरं भूत्वा भूमिचर भूत्वा खचर तथा दृश्य
भूत्वा अदृश्य भवति अदृश्य भूत्वा दृश्यमित्यादि, तच्च द्विविध—औपपातिकं लब्धिप्रत्यय च, तत्रौपपातिकमुपपा-
तजन्मनिर्मित, तच्च देवनारकाणां, लब्धिप्रत्ययं तिर्यग्मनुष्याणां, तथा 'आहारण' इति आहारकं चतुर्विधपूर्वयिदा
तीर्थंकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिभवादाश्रित्ये—निर्वर्त्यते इत्याहारक, 'कृद्बहुल'-
भिति यचनात् कर्मणि बुध्, यथा पादहारक इत्यत्र, उक्त च—“कञ्चमि समुष्पणो सुयकेवलिषा विसिद्धलक्ष्मी ।
अ एत्य आहरिज्जइ मणित आहारग त तु ॥ १ ॥” [कार्यं समुत्पन्ने श्रुतकेयलिना विशिष्टलब्ध्या । यदत्राश्रियते
मणितमाहारक तत् ॥ १ ॥] कार्यं देवसू—“पाण्डियरिद्धिदसणसुदुमपयतथायगहणशेट बा । ससयवोच्छेयत्य
गमण जिणपायमूलमि ॥ २ ॥” [प्राणिवदवर्द्धिर्बर्धनसुस्मपदार्थीषगाहनहेतोश्च । सन्नयव्यवच्छेदार्थं गमन जिनपादमूले
॥ १ ॥] तच्च वैक्रियशरीरापेक्षया अत्यन्तशुभ स्वच्छस्फटिकधिलेष शुभ्रप्रुलसमूहघटनात्मक, तेज इति—सैजस
तेजसः—तेजःशुभ्रलाना विकारसैजसं 'विकार' इत्यत्र, तत् कम्पलिज्ज मुक्काहारपरिणमनकारण, तद्ब्रह्माश्च विश्वि
एतपःसमुत्पलब्धिषियेपस्य पुससेज्जोलेस्पाधिनिर्णयः, उक्त च—“सवस्स उम्हसिद्ध रसाइमाहारपाकज्जणग च ।
तेगलद्धिनिमित्त च तेयगं होइ नायव ॥ १ ॥” [सर्वस्वोष्मसिद्ध रसाद्याहारपाकजनक च । तेजो लब्धिनिमित्त
च तेजसं भवति ज्ञातव्यम् ॥ १ ॥] 'कम्मए' इति कर्मणो ज्ञात कर्मज, किञ्चक भवति ?—कर्मपरमाणव एवा-

त्मप्रदेशैः सह ये क्षीरनीरपत् अन्वोऽन्यानुगताः सन्त शरीररूपतया परिणवास्ते कर्मज शरीरमिति, अत एवैतद-
 न्यत्र कार्मणमित्युक्तं, कर्मणो विकारः कार्मणमिति, तथा चोक्तम्—“कर्मण्यगारो कम्मणमद्विविधपिचिचकम्म
 निष्फन्न । सधेसिं सरीराण कारणभूत सुणेयव ॥ १ ॥” [कर्मविकारः कार्मणमटपिचिविचित्रकर्मनिष्पन्न । सर्वेषां
 शरीराणां कारणभूत सुणितन्व ॥ १ ॥] अत्र ‘सधेसि’मिति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूत—धीज-
 भूत कार्मणशरीर, न खल्वामूलसमुच्छिन्ने मवप्रपञ्चप्ररोहपीजभूते कार्मणे यपुपि श्लेषशरीरप्रादुर्भावः, इदं च कर्मज-
 शरीर जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतम कारण, तथाहि—कर्मजनैव यपुपा तैजससहितेन परिकरितो जन्तुर्मरण-
 देशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति, ननु यदि तैजससहितकार्मणयपुःपरिकरितो गत्यन्तर सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्ना-
 गच्छन् वा कस्मान्न इष्टिपथमवतरति ?, उच्यते, कर्मपुलानां चातिसूक्ष्मतया बहुराशीन्द्रियागोचरत्वात्, तथा च
 परतीर्थिकैरन्युक्तम्—“अन्तरा मवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्यान्नोपलभ्यते । निष्कामन् प्रविशन् धापि, नाभावोऽनीधणा-
 दपि ॥ १ ॥” इति । सम्प्रति औदारिकशरीरस्य जीवजातिमेवतोऽवस्थामेवतश्च भवानभिधित्सुराह—‘ओरालिय-
 सरीरे ण मते !’ इत्यादि, औदारिकशरीरमेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियमेवात् पञ्चधा, एकैन्द्रियौदारिकशरीरमपि दृयिन्य-
 पूतेजोषापुषनस्पतिपेकैन्द्रियमेवात् पञ्चयिष, पृथिवीकायिकैकेन्द्रियौदारिकशरीरमपि सूक्ष्मेतरमेवात् द्विधा, पुनरे-
 कैक द्विधा पर्याप्तपर्याप्तमेवात्, एवमतेजोवायुवनस्पत्येकेन्द्रियौदारिकशरीराण्यपि प्रत्येकं चतुर्विधानीति सर्वसङ्ख्य-

येकेन्द्रियौदारिकशरीराणि विंशतिधा, द्वित्रिषट्पुरिन्द्रियौदारिकशरीराणि प्रत्येक पर्याप्तापर्याप्तमेदात् द्विमेवानि, पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर द्विविध—तिर्यग्मनुष्यमेदात्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर त्रिधा, जलचरस्यलघुचरस्यधरमेदात्, जलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर द्विविध—सम्बृष्टिमगर्भन्युत्क्रान्तिकमेदात्, एकैकमपि पुनर्द्विभेद—पर्याप्तापर्याप्तमेदात्, स्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि द्विधा—षट्पुण्ड्रपरिसर्पमेदात्, चतुष्पदस्यलघुचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि द्विधा—सम्बृष्टिमगर्भन्युत्क्रान्तिकमेदात्, पुनरैकैक द्विधा—पर्याप्तापर्याप्तमेदात्, परिसर्पस्यलघुचरतिर्यग्भोनिकपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि षट्परिसर्पमुज्जपरिसर्पमेदतो द्विभेद, पुनरैकैक द्विधा—सम्बृष्टिमगर्भन्युत्क्रान्तिकमेदात्, तत्रापि पुनः प्रत्येक द्वैविध्य पर्याप्तापर्याप्तमेदात्, सर्वसङ्ख्याऽष्टमेद परिसर्वस्य लघुचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर, स्युचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर सम्बृष्टिमगर्भन्युत्क्रान्तिकमेदात् द्विभेद, पुनरैकैक द्विधा—पर्याप्तापर्याप्तमेदादिति, सर्वसङ्ख्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर विंशतिभेद, मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर सम्बृष्टिमगर्भन्युत्क्रान्तिकमेदात् द्विभेद, पुनरैकैक द्विधा—पर्याप्तापर्याप्तमेदात् । एवमौदारिकस्य मेदा उक्ता, सम्प्रत्येतेषामेव यथाक्रम सस्यानान्याह—

ओराडियसरीरे णं भठे ! किंसठिते एयत्ते !, गो० ! षाणासंठाणसंठिते पं० ?

गो० ! षाणासंठाणसंठिते पं०, पुढविकाइयएगिदियञ्चोरा० किंसठिते पं० ?, गो० ! मधुरवंदसंठाणसंठिते पं०, एवं

सुदुमपुढविफाइयाणवि षादराणवि, एय चैव पञ्चषापञ्जचाणवि, [एयं चैव] आलफाइयएगिदियओरा० मंते ! किसंठिते
पं० !, गो० ! यियुक्किदिदुसंठाणसठिते पं०, एव सुदुमषादरपञ्चषापञ्जचाणवि, वेउक्काइयएगि० उरा० मंते ! किं-
सठिते पं० !, गो० ! सुईक्कावसंठाणसंठिते पं०, एवं सुदुमषादरपञ्चषापञ्जचाणवि, वाउक्काइयाणवि पढागासंठाणसं-
ठिते, एय सुदुमषादरपञ्चषापञ्जचाणवि, षणक्कइकाइयाण जाणासंठाणसंठिते पं०, एयं सुदुमषादरपञ्चषापञ्जचाणवि ।
येरदियओरा० मंते ! किसं० पं० !, गो० ! हुढसंठाणसंठिते पं०, एव पञ्चषापञ्जचाणवि, एवं तेईदियषउरिदिद्या
णवि । पंथिदियतिरिक्खओणियपंथि० ओरा० मंते ! किसंठा० पं० !, गो० ! छविइसंठाणसं० पं०, तं०—समच
उरंसंठाणसं० जाव हुंढसंठाणसंठितेवि, एवं पञ्चषापञ्जचाणवि ३, संमुच्छिमतिरिक्खओ० पंथि० ओरा० मंते ! किं-
सं० पं० !, गो० ! हुढसंठाणसंठिते पं०, एव पञ्चषापञ्जचाणवि, गम्मषक्कं० तिरिक्ख० पंथिदिय० ओरा० मंते ! किं-
संठा० पं० !, गो० ! छविइसंठाणसं० पं०, व०—समचउरंसे जाव हुंढसंठा०, एवं पञ्चषापञ्जचाणवि ३, एवमेते तिरि-
क्खओणियाण ओरियाण णव आलावगा, जलयरपं० तिरि० ओरा० मंते ! किसंठाणसंठिते पं० !, गो० ! छविइ-
संठाणसं० पं०, व०—समचउरंसे जाव हुंढे, एवं पञ्चषापञ्जचाणवि, संमुच्छिमजलयरा हुढसंठाणसंठिता, एतेसिं चैव
पञ्चषावि अपञ्चषगावि एय चैव, गम्मषक्कंतिपजलयरा छविइसंठाणसंठिता, एव पञ्चषापञ्जचाणवि, एवं थलयराणवि
णव सुत्ताणि एयं चउण्णययलयराणवि उरपरिसण्णयलयराणवि सुयपरिसण्णयलयराणवि, एव खइयराणवि णव सुत्ताणि,
नवरं सवत्थ संमुच्छिमा हुंढ संठाणसंठिता भाणितवा, इयरे छसुवि । मणुसपंथिदियओराणियसरीरे णं मंते ! किसंठाणसं-

छिठे पं० ? , गो० ! छविहसंठाणसंठिणे पं०, तं०—समचउरसे वाव हुंढे, पळचापज्जचाणवि एवं चेव, ग०मवकतिया
 णवि एव चेव, पळचापज्जचाणवि एवं चेव, संमुच्छिमाणं पुच्छा, गो० ! हुंढसंठाणसंठिठा पण्णचा (द्युत्र २६८)
 ‘ओराळिबसरीरे ण मंते !’ इत्यादि, नानासंस्थानसस्थित जीवजातिमेवतः सस्थानमेवमावात्, एकेन्द्रियौदारि-
 कश्चरीरे नानासंस्थानसस्थितता पृथिन्यादिषु प्रत्येक सस्थानमेवत्, तत्र पृथिवीकायिकानां सूक्ष्माणां वादराणां
 पर्याप्तानामपर्याप्तानां द्यौदारिकश्चरीराणि मसुरचन्द्रसस्थानसंस्थितानि, मसुरो—धान्यविशेष तस्य घन्द्रः—घन्द्रा-
 कारमर्द्धदल तस्यैव बत्सस्थान तेन सस्थितानि, अष्कायिकानां सूक्ष्मादिभेदतः षट्पूर्वेवानामौदारिकश्चरीराणि
 स्त्रियुक्तविन्दुसस्थानसंस्थितानि, स्त्रियुक्ताकारो यो विन्दुर्न पुनरितस्ततो वातादिना विक्षिप्तः स्त्रियुक्तविन्दुसस्थानेव यत्सं-
 स्थान तेन सस्थितानि, तैजसकायिकानां सूक्ष्मादिभेदतश्चट्पूर्वेवानामौदारिकश्चरीराणि सूक्ष्मकलापसस्थानसस्थितानि,
 धायुकायिकानां सूक्ष्मादिभेदतश्चट्पूर्वेवानामौदारिकश्चरीराणि पताकासस्थानसस्थितानि, वनस्पतिकायिकानां सूक्ष्मा-
 णां वादराणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां च प्रत्येकमौदारिकश्चरीराणि नानासस्थानसस्थितानि, वेद्यकालजातिभेदतः तेषां
 सस्थानानामनेकमेवभिन्नत्वात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येक पर्याप्तानामपर्याप्तानामौदारिकश्चरीराणि हुंढसस्थानस-
 स्थितानि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकश्चरीर सामान्यतः पञ्चिधसस्थानसस्थित, तदेवोपदर्शयति—‘समचउरससठाण
 संठिप’ इत्यादि, यावत्करणात् ‘नगोहपरिमहलसठाणसंठिप साइस० धामणसं० सुब्बसठाणसठिप हुंढसंठाणस-

ठिष्ट' इति परिग्रहः, तत्र समाः—सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणविषयादित्यन्वयतस्रोऽस्यः—चतुर्विंशतिमागोपल-
 क्षिताः शरीराययवा यस्य तत्समचतुरस्र, समासान्तोऽतप्रत्ययः, समचतुरस्र च तत्सस्थान च समचतुरस्रसस्थान तेन
 सस्थित समचतुरस्रसस्थानसस्थित, तथा न्यमोघयत्परिमण्डल यस्य तत् न्यमोघपरिमण्डल, यथा न्यमोघ उपरि
 सम्पूर्णप्रमाणोऽघस्तु हीनः तथा यत्सस्थान नामेरुपरि सम्पूर्णप्रमाण अघस्तु न तथा तन् न्यमोघपरिमण्डल, तथा
 आदिरिदोत्सेधास्त्रो नामेरघस्तनो देहमागो गृह्यते, ततः सह आदिना—नामेरघस्तनमागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन
 वर्धते इति सादि, यद्यपि सर्वे शरीरमादिना सह वर्धते तथापि सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमा-
 णलक्षणोपपन्न आदिरिह लभ्यते, तत उक्तं यथोक्तप्रमाणलक्षणेनेति, इदमुक्तं भवति—यत्सस्थान नामेरघः प्रमा-
 णोपपन्नमुपरि च हीनं तत्सादीत्ति, अपरे तु साधीति पठन्ति, तत्र साधीं प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते, ततः
 साधीष यत्सस्थान तत्साधिसस्थानं, यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धः काण्डमतिपुष्ट्युपरितना तद्वनुरूपा न महाधिष्ठा-
 ल्ता तदूदयस्यापि सस्थानस्याधोभागः परिरूणो भवति उपरितनभागस्तु नेति, तथा यत्र शिरोग्रीव हस्तपादादिक
 च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेत उरउदरादि च मूढम तत्कुञ्जसस्थानं, यत्र पुनरुउदरादि प्रमाणलक्षणोपेत हस्तपादा-
 दिक हीन तन्नामनसस्थान, यत्र तु सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिग्रहास्तद् शुण्डसस्थान, समास सर्वत्रापि पूर्व-
 पत्, एव 'पञ्चापञ्चत्तापि' इति, एव—उक्तप्रकारेण सामान्यतस्त्रिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामिय पर्यासानां अपर्यासानां

च प्रत्येक सूत्रे षक्य, तदेवमेतानि त्रीणि सूत्राणि, एवमेव च सामान्यतः सम्मूर्च्छितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि त्रीणि सूत्राणि षक्यानि, नवरं तेषु त्रिष्वपि सूत्रेषु दुण्डसंस्थानसंस्थितमिति षक्यं, सम्मूर्च्छिमाणामविशेषेण सर्वेषामपि दुण्डसंस्थानमावात्, त्रीणि सामान्यतो गर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि, नवरं तेषु त्रिष्वपि सूत्रेषु 'छविद-संठाणसंठिए पणत्ते' इत्यादि षक्यं, गर्भजेषु समचतुरस्राविसंस्थानानामपि सम्मवात्, तदेवमेते सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषया नप आलापकाः, अनेनैव क्रमेणैव जलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सामान्यतः स्यलचराणा षतुष्य-दस्यलचराणासुरःपरिसर्प्यस्यलचराणां मुजपरिसर्प्यस्यलचराणां स्वधरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा च प्रत्येक नप २ सूत्राणि षक्यानि, सर्वसङ्ख्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां त्रिपट्टिः ६३ सूत्राणि मनुष्याणा नव सर्वत्र सम्मूर्च्छिमेषु दुण्डसंस्थानं च षक्यमितरत्र षडपि संस्थानानि । तदेवमुक्तान्यौदारिकमेवानां संस्थानानि, साम्प्रतमवगाहनामानमाह—

ओरालियसरीरस्स ७ मंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पं० ? , गो० ! जहण्णेप अंगुलस्स असंखेत्थतिमागं उक्को० साविरेगं ओपणसहस्सं, एगिंदियओरालियस्सवि एवं धेव जहा ओरियस्स, पुठधिकारायएगिंदियओरालियसरीरस्स पं मंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पं० ? गो० ! ज० उ० अंगुलस्स असंखेत्थतिमागं, एवं अपज्जपयाणपि पज्जपयाणपि, एवं सुदुमार्गं पज्जपामचार्यं, पादरार्गं पज्जपामचार्याणपि, एव एत्तो नवओ मेदो सहा पुठधिकाराणं तथा आउक्काइयाणपि तेउक्काइयाणपि वाउक्काइयाणपि, धणस्सइकाइयओरालियसरीरस्स पं मंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पं० ?

गो० । अ० अंगुलस्त असंख्येज्जतिमागे उक्को० सातिरेगे ज्योषणसहस्रं, अपञ्चगणं अह० उक्को० अंगुलस्त असंख्येज्ज-
 तिमार्गे, पञ्चचगणं अह० अंगुलस्त असं० उक्को० सातिरेगं ज्योषणसहस्रं, षाट्ठगणं अह० अंगुलस्त असं० उक्को०
 ज्योषणसहस्रं सातिरेगं, पञ्चचगणं अह० उक्को० अंगुलस्त असं०, सुदुमाणं पञ्चचगणं अह० उक्को० अंगुलस्त
 तिण्हवि अह० उक्को० अंगुलस्त असं० । नेइदियओरा० मंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पं० १, गो० ! अह० अंगुलस्त
 असं० उक्को० पारस ज्योषणाह०, एव सवत्यवि अपञ्चचगणं अंगुलस्त असंख्ये० अहण्णेणवि उक्कोसेणवि, पञ्चचगणं अह०
 ओरालियस्त ओहियस्त, एव तेइदियाण तिण्णि गाठयाह०, षट्ठरिदिमाणं षट्ठारि गाठयाह०, पंचिवियतिरिक्खज्योषिमाणं
 उक्कोसेणं ज्योषणसहस्रं ३, एव संख्युच्छिमाणं ३, गम्भक्कतियाणवि ३ एवं देव नवओ भेदो भाणियधो, एव जलयरान्णवि
 ज्योषणसहस्रं, नवओ भेदो, यलयरान्णवि णव भेदा ९, उक्को० छ गाठयाह० पञ्चचगणं अह०, एव देव संख्युच्छिमाणं पञ्चच-
 गाणं य उक्को० गाठयपुट्टुच ३, गम्भक्कतियाणं उक्को० छ गाठयाह० पञ्चचगणं य २ ओहियचउप्पमपञ्चचगणं अह० अह०
 पञ्चचगणं अह० छ गाठयाह०, संख्युच्छिमाणं पञ्चचगणं य गाठयपुट्टुचं उक्को०, एव उरपरिसप्पाणवि ओहियगण्मवक्क-
 तियपञ्चचगणं ज्योषणसहस्रं, संख्युच्छिमाणं पञ्चचगणं य ज्योषणपुट्टुच, अयपरिसप्पाण ओहियगण्मवक्कतियाणवि उक्को०
 गाठयपुट्टुचं, संख्युच्छिमाणं षट्ठपुट्टुचं, सट्ठारणं ओहियगण्मवक्कतियाण संख्युच्छिमाणं य तिण्हवि उक्कोसेणं षट्ठपुट्टुचं,
 इमाओ संगहण्णिगाहाओ-‘ज्योषणसहस्रं छगाठयाह० तपो य ज्योषणसहस्रं । गाठयपुट्टुचं अयपुट्टुचं च पक्खीसु
 ॥ १ ॥ ज्योषणसहस्रं गाठयपुट्टुचं तपो य ज्योषणपुट्टुचं । दोणं तु षट्ठपुट्टुचं संख्युच्छिमे होति उच्चं ॥ २ ॥ मणूसो-

राजिबसरीरस्व न मते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पं० ? , गो० ! अह० अंगु० उक्को० तिष्णि गाडयार्हं, एवं अपञ्ज
 चार्णं सह० उक्को० अंगुलस्व असं०, संसुच्छिमाणं सह० उक्को० अंगुलस्व असं०, गन्मषकंतिपाण पञ्जत्ताण य जह०
 अंगुलस्व असं० उक्को० तिष्णि गाडयार्हं (सूत्र २६९)

‘ओराळियस्व न मते !’ इत्यादि, औदारिकस्व जघन्यतोऽवगाहना अहुलासङ्घेयमागः, सा चोत्पत्तिमथमस-
 मये पृथिवीकायिकादीनां चावसातभ्या, उत्कर्षतः सातिरेक योजनसहस्रं, एषा लषणसमुद्रगोतीर्यादिसु पद्मनाला-
 यधिक्कृत्सावसातभ्या, अन्यत्रैतावत औदारिकशरीरस्वासम्भवात्, एवमेकेन्द्रियसूत्रेऽपि, तथा चाह—‘एर्गिदियओरा-
 लियस्व एष घेव जहा मोहियस्व’ इति पृथिन्यसेजोवायूनां सूस्माणां धावराणां प्रत्येक पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदा-
 रिकशरीरस्य जघन्यत उत्कर्षतथावगाहना अहुलासङ्घेयमागः प्रत्येक च नव सूत्राणि, तेषां औधिकसूत्रमौधिकाप-
 र्याप्तसूत्रमौधिकपर्याप्तसूत्र तथा सूस्मसूत्र सूस्मपर्याप्तसूत्र एष धावरेऽपि सूत्रत्रिकमिति, एवं
 वनस्पतिकायिकानामपि नव सूत्राणि, नवरमौधिकवनस्पतिसूत्रे औधिकवनस्पतिसूत्रे औधिकसूत्रे धावरसूत्रे धावरपर्या-
 ष्टकसूत्रे च जघन्यतोऽहुलासङ्घेयभाग उत्कर्षतः सातिरेक योजनसहस्रं, तच्च पद्मनालायधिक्कृत्य वेदितव्यं, शेषेषु तु
 पञ्चसूत्रेषु जघन्यत उत्कर्षतो वाऽहुलासङ्घेयमागः, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येक त्रीणि २ सूत्राणि, तद्यथा—औधि-
 कसूत्रमपर्याप्तसूत्र पर्याप्तसूत्र च, तत्रौधिकसूत्रे पर्याप्तसूत्रे च इन्द्रियाणाशुत्कर्षतो इत्यत्र योजनानि श्रीन्द्रियाण

श्रीणि गन्धूतानि, चतुरिन्द्रियाणां चत्वारि गन्धूतानि, अपर्याप्तसूत्रे तु जघन्यत उत्कर्षतश्चाहुलासङ्घेयभागः, तथा सामान्यतस्त्रिर्यक्षपेन्द्रियाणां जलचराणां सामान्यतः स्थलचराणां चतुष्पदानामुर परिसर्प्याणां मुजपरिसर्प्याणां श्यधरपक्षेन्द्रियतिरिष्ठां च प्रत्येक नव २ सूत्राणि, तद्यथा-श्रीणि औधिकानि श्रीणि सम्मूर्च्छिमधिययाणि श्रीणि गर्भान्युत्क्रान्तिकखिययाणि, तत्रापर्याप्तेषु स्थानेषु सर्वेष्वपि जघन्यत उत्कर्षतो वा अहुलासङ्घेयभागः, श्लेषेषु तु स्थानेषु जघयतोऽहुलासङ्घेयभाग उत्कर्षतः सामान्यतस्त्रिर्यक्षपेन्द्रियेषु जलचरेषु चोत्कर्षतो योजनसदृश, सामान्यतः स्थलचरेषु चतुष्पदस्थलचरेषु शौधिकेषु गर्भान्युत्क्रान्तिकेषु च पट्ट गन्धूतानि, सम्मूर्च्छिमेषु गन्धूतपृथक्त्व, उरःपरिसर्वेष्वौधिकेषु गर्भान्युत्क्रान्तिकेषु च योजनसदृशं सम्मूर्च्छिमेषु योजनपृथक्त्व, मुजपरिसर्वेष्वौधिकेषु गर्भान्युत्क्रान्तिकेषु सर्वेष्वौधिकेषु गर्भान्युत्क्रान्तिकेषु च योजनसदृशं सम्मूर्च्छिमेषु च सर्वेषु स्थानेषु घनुःपृथक्त्व, सम्मूर्च्छिमेषु घनुःपृथक्त्व, खचरेष्वौधिकेषु गर्भान्युत्क्रान्तिकेषु सम्मूर्च्छिमेषु च सर्वेषु स्थानेषु घनुःपृथक्त्वं, अत्रेमे सद्वहगाये—'जोष्यसदृशस्स'मित्यादि, गर्भान्युत्क्रान्तिकानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरापगाहनाया मान योजनसदृश, चतुष्पदस्थलचराणां पट्ट गन्धूतानि, उरःपरिसर्वेष्वस्थलचराणां योजनसदृश, मुजपरिसर्वेष्वस्थलचराणां गन्धूतपृथक्त्व, पक्षिणां घनुःपृथक्त्व, तथा सम्मूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरापगाहनायाः प्रमाण योजनसदृश, चतुष्पदस्थलचराणां गन्धूतपृथक्त्व, उरःपरिसर्वेष्वस्थलचराणां योजनपृथक्त्व, मुजपरिसर्वेष्वस्थलचराणां पक्षिणां च घनुःपृथक्त्वमिति । उक्त तिर्यक्षपेन्द्रियौदारिकशरीरापगाहनामानमिदानीं मनुष्यप-

चेंद्रियौदारिकशरीरायगाहनामानमाह—‘मणुस्तोराडियसरीरस्स ष’मित्यादि, कण्ठ्यं, नषर श्रीणि गन्भूतानि देव-
 कुर्याद्येषधया, तदेयमौदारिकशरीरस्य विधयः सस्यानानि चोक्तानि, सम्प्रति तानि क्रमेण वैक्रियस्या-
 भिधित्सुराह—

वेजदियसरीरे षं मंते । कतिविधे पं० ? गो० ! दुविधे पं०, तं०—एगिदियवेडवियसरीरे य पश्चिदियवेडवियस०, जसि
 एगिदियवेडवियसरीरे किं वाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे अवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे ? गो० ! वाउक्काइयएगि
 दियवेडवियसरीरे नो अवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे, जइ वाउक्काइयवेडवियसरीरे किं सुदुमवाउक्काइयवेडवियसरीरे
 बायरवाउक्काइयवेडवियसरीरे ? गो० ! नो सुदुमवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे भादरवाउक्काइयएगिदियवेडवियस०, जइ
 भादरवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे किं पळसभादरवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे अपळसभादरवाउक्काइयएगिदियवे-
 डवियसरीरे ? गो० ! पळसभादरवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे नो अपळसभादरवाउक्काइयएगिदियवेडवियसरीरे, जति
 पंचेदियेडवियसरीरे किं नेरइयपंचिदियवेडवियसरीरे जाव किं देशपश्चिदियवेडवियसरीरे ? गो० ! नेरइयपंचिदियवेडवि
 यसरीरेवि जाव देशपश्चिदियवेडवियसरीरेवि, जइ नेरइयपंचिदियवेडवियसरीरे किं रयणप्पमापुडविपंचिदियवेडविय० जाव
 किं अषेससमापुडविनेरइयपं० वेडवियसरीरे ? गो० ! रयणप्पमापुडविनेरइयपंचिदियवेडवियसरीरेवि जाव अषेससमापुड
 विनेरइयपंचि० वेडवियसरीरेडवि, जइ रयणप्पमापुडविनेरइयविडवियसरीरे किं पळसगय० नेरइयवेड०स० अपळसगय

नृपमापु० नेर० पं० वे० सरिरे०, गो० ! पञ्चगण्यप्यमापु० नेर० पं० अपञ्चगण्यप्यमापु० नेर० पं०, एव जाव
 अपेस्रमाए दुगतो भेदो माणितवो, अइ तिरिन्स्रजोणियपंचिदियवेउविपसरीरे किं संस्रुच्छिमप० तिरि० वेउ० स० गम्भव
 क्तियपंचि० ति० वे० सु० ? गो० ! नो संस्रुच्छिमपं० ति० वे० सरिरे गम्भवक्तियपं० ति० वेउविपसरीरे, अति गम्भव
 कं० पंचि० ति० वेउविपसरीरे किं संखेजवासाउयगम्भवक्तियपंचि० वे० सरी० असंखेजवासाउयग० पं० ति० वे० सरीरे ?,
 गो० ! संखेजवासाउयगम्भ० पं० ति० वे० स० नो असं० गम्भ० पंचि० तिरि० वेउ० स०, अइ संखिज० गम्भ०
 पंचि० ति० वेउ० सरिरे किं पञ्चगसं० गम्भ० पं० ति० वे० सरिरे अपञ्चगसं० ग० पं० ति० वे० सरिरे ?, गो० !
 पञ्च० सं० ग० पं० ति० वे० सरिरे नो अप० सं० गम्भ० पं० ति० वे० सरिरे, अइ संखेजवासा० किं जलपर
 गम्भ० प० ति० वे० सरिरे यलपरसं० ग० पं० ति० वे० सरिरे स्रह्यरसं० ग० पं० ति० वे० सरिरे ?, गो० ! जल०
 सं० ग० पं० ति० वे० सरिरेवि यलपरसं० ग० पं० ति० वे० सरिरेवि स्रह्यरसं० गम्भ० पं० ति० वे० सरिरेयि,
 अइ जल० सं० किं पञ्चगजल० सं० ग० पं० ति० वे० सरिरे अपञ्चगजल० सं० ग० पं० ति० वेउ० सरिरे य ?,
 गो० ! पञ्ज० जल० सं० गम्भ० पं० तिरि० वे० स० नो अपञ्च० सं० जल० पं० ति० वे० स०, अति यलपरपंचि०
 जाव सरिरे किं चउप्यय जाव सरिरे किं परिसप्य जाव० ?, गो० ! चउप्ययजावसं० परिसप्यजाव स०, एव सवेसि
 नेयबं जाव स्रह्यराभं पञ्चराभं नो अपञ्चराभं, अति मणूसपंचि० वेउ० सरिरे किं संस्रुच्छिममणूस० पं० वे० सरिरे
 गम्भ० म० पं० वेउविपसरीरे ?, गो० ! जो संस्रु० म० पं० वेउ० सरिरे गम्भ० म० पंचि० वे० सरिरे, अइ गम्भ०

म० पं० वे० स० किं कम्मभूमग० म० म० पं० वे० स० अकम्मभूमग० ग० म० पं० वे० स० अंतरदीवग० ग०
म० पं० वे० सरीरे !, गो० ! कम्मभूमगगम्म० म० पं० वे० स० गो अकम्मभूमग० गो अंतरदीवग०, अइ कम्मभूम
गगम्म० मणुस० पंधि० वे० सरीरे किं संखेखासाउपकम्म० ग० म० वे० स० असं० कम्म० ग० म० पं० वे०
स० !, गो० ! संखे० कम्म० ग० म० पं० वे० स० नो असं० कम्म० ग० म० पं० वे० सरीरे, अति संखे० कम्म०
ग० म० पं० वे० सरीरे किं पल्लवसंखे० क० म० पं० वे० स० अपल्लवग० सं० क० ग० म० पं० वे० सरीरे !,
भो० ! पल्ल० सं० क० ग० म० पं० वे० सरीरे नो अपल्ल० सं० क० ग० म० पं० वे० सरीरे । अइ देव पंधिदियवे
उदियसरीरे किं मवणवासिदेव० पं० वे० सरीरे जाव वेमाणियदेव० वे० स० !, गो० ! मवणवासीदेव० पं० वे० सरी-
रेवि जाव वेमाणियदेव० पंधि० वेउ० सरीरेवि, अइ मवणवासिदेव० पं० वे० सरीरे किं असुरकुमारमव० देव० पं०
वे० स० जाव अणियकुमारमव० देव० पं० वे० सरीरे !, गो० ! असुरकु० जाव अणियकुमार० वेउ० सरीरेवि, अइ
असुरकुमारदेव० प० वे० स० किं पल्लवगवसुर० म० देव० पं० वे० सरीरे अपल्लवग० असुरकुमारम० देव० पं०
वे० स० !, गो० ! पल्ल० असुर० म० देव० पं० वे० सरीरेवि अपल्लवगअसु० म० देव० पं० वे० सरीरेवि, एवं जाव
अणियकुमारमं दुगतो भेदो, एवं वाचमंतराणं अट्टविहायं अतिसियाणं पंचविहाणं, वेमाणिया दुविहा—कप्पोवगा
कप्पातीता य, कप्पोवगा बारसविहा, वेसिपि एवं वेव दुहतो भेदो, कप्पातीता दुविहा गेवज्जगा य अणुचरोषवाइया य,
गेवज्जगा णवविहा अणुचरोषवाइया पंचविहा, एवेसिं पज्जरापल्लवमिछावेणं दुगतो भेदो माणि० (सूत्रं २७०)

‘वेदविद्यसरीरे ण भंते !’ इत्यादि, वैक्रियद्वीर मूलतो द्विमेव-एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियमेवात्, तत्रैकेन्द्रियस्य घात-
 कायस्य तत्रापि घातरस्य तत्रापि पर्याप्तस्य, श्रेयस्य वैक्रियलक्ष्यसम्मपात्, उक्तं च—“तिण्ह ताव रासीण वेड-
 पियळ्दी वेव नत्थि, पायरपज्जत्ताणपि सखेच्चइमागमेत्ताण’ अत्र ‘तिण्ह’ति त्रयाणां पर्यासापर्याप्तस्यसमापर्याप्त-
 वादरूपाणां । पञ्चेन्द्रियविन्तायामपि अलचरधतुष्पदोःपरिसर्व्यमुत्रपरिसर्व्यस्यचरान् मनुष्यांश्च गर्मव्युत्क्रान्ति-
 कान् सङ्घेयवर्णयुषो सुफत्त्वा श्रेयाणां प्रतिषेधो, भवस्वभावतया तेषां वैक्रियलक्ष्यसम्मवात् । उक्ता भेवाः, सस्या-
 नान्यमिधित्सुराह—

वेडविद्यसरीरे ण भंते ! किंसंठित्ते पं ? !, गो० ! व्याणासंठाणसंठित्ते पं०, वाउकाइयएगिदियवेड० सरीरे णं भंते ! किंसंठित्ते
 पं ? !, गो० ! पढाणासंठाणसंठित्ते पं०, नेरइयपंपिदिमवेडविपसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठित्ते पं० ? !, गो० ! नेरइयपं-
 पिदियवेडविपसरीरे इविधे पं०, तं०—मवधारणिञ्जे य उचरवेडविप य, तत्थ णं अे से मवधारणिञ्जे से णं इंडसंठाण
 संठित्ते पं०, तत्थ णं अे से उचरवेडविपे सेवि इंडसंठाणसंठित्ते पं०, रयणप्पमापुढविनेरइयपंपि० वेड० सरीरे णं भंते !
 किंसंठाणसंठित्ते पं० ? !, गो० ! रयणप्पमापुढविनेरइयपं इविधे सरीरे पं०, तं०—मवधारणिञ्जे य उचरवेडविप य,
 सत्थ ण अे से मवधारणिञ्जे से ण इंड०, अे से उचरवेडविपे सेवि इंडे, एवं आव अवेसत्तमापुढविनेरइयवेडविपसरीरे ।
 सिस्सिस्सन्नोपिपपं० वे० सरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठित्ते पं० ? !, गो० ! गाय्यासंठाणसंठित्ते पं०, एव जलयरथलयरस-

ह्यपराणवि, यत्पराणवि चतुष्पयपरिस्रयाणवि परिस्रयाणवि उपरिस्रयाणवि परिस्रयाणवि । एष मणुसर्पाचिदियवे० सरी
 रेभि । असुरकुमारभ्रवणवासी देव० पंधि० द्वे० सरीरे ण मंते ! किंसंठिते पं० ।, गो० ! असुरकुमाराण देवाण बुधिहे
 ण जे स उत्तरयेउबिण्ण से ण गाभासंठाणसं० पं०, एवं जाव यणियकुमारदेवपंधिदियवेउबियसरीरे, एष चाणमतराणवि,
 णवरं ओदिया चाणमतरा पुच्छिज्जति, एवं जेचित्तियाणवि ओदियाणं, एवं सोहम्मे जाव अशुयवेबसरीरे, गेनेअगक-
 प्यातीवेसाणियदेवपंधिदियवेउबियसरीरे णं मंत ! किंसंठिते पं० ।, गो० ! गेनेअगदेवाणं एगे भवधारणिल्ले सरीरे, से
 णं समचउरसंठाणसंठिते पं०, एवं अशुयरोववाइयाणवि (सूत्रं २७१)

'वेउबियसरीरे ण मंते !' इत्यादि सुगम, नवर नैरयिकाणां भवधारणीयसुत्तरयैक्रिय च इण्डसस्थानमत्यन्तक्रिष्ट
 फर्मोदयययात्, तथाहि—तेषां भवधारणीय त्रीर भवस्वभावत एव निर्मूलविद्युत्सपकोत्पादितसकळप्रीवादिरोमपश्चि-
 मस्थानयदतीय वीमत्स इण्डसस्थान, यदप्युत्तरयैक्रिय तदपि पय शुभ फरिव्याप्त इत्यभिसन्धिना कर्तुमारब्धमपि-
 तथाविधाल्य तागुमनामफर्मोदयवशादतीवाशुमतारुपजायते इति इण्डसस्थान । तिर्यक्यवेत्त्रियाणां मनुष्याणां च
 यैक्रिय नानासस्थानमस्सितमिच्छापयत प्रवृत्तेः, वसधिभवनपतिष्यन्तरग्योतिष्कसौधमार्गिच्युत्तपर्येषानवैमानि-
 फानां भवधारणीय भवस्वभावतया तेषां चिचशुभनामफर्मोदयययात् प्रत्येक सर्वेषां समचतुरलसंस्थान, उत्तरयैक्रिय

त्विच्छानुरोघतः प्रष्टुचेर्नानासस्थानसस्थित, भ्रैवेयकानामनुचरोपपातिनां घोचरथैक्रिय न मवति, प्रयोजनाभायाद्, उत्तरथैक्रिय सत्र गमनागमननिमिष परिचारणानिमिष वा क्रियते, न चैतेषामेतदस्त्रि, यत्तु भवधारणीयमेतेषां तत्समघतुरक्षसस्थानसस्थितमिति । उक्तानि सस्थानानि, सम्प्रत्यवगाहनमानमाह—

वेठद्वियसरीरस्स ण मंते ! केमहालिया सरीरावगाहया पं० १, गो० ! अह० अंगुलस्स असं० उक्को० सातिरेगं ज्ञोपणस यसहस्सं । वाठक्काइयएगिदियसरीरस्स ण मंते ! केमहालिया सरीरोगाहया पं० १, गो० ! अह० अंगुलस्स असं० उक्को०सेमवि अंगुलस्स असं०, नेरइयपंधिदियवेठद्वियसरीरस्स णं मंते ! केमहा० पं० १, गो० ! दुविहा पं०, तं०—भव धारणिञ्जा य उषरवेठद्विया य, तत्स्य णं जा सा भवधारणिञ्जा सा अह० अंगुलस्स असं०खेअतिभागं उक्को० पंचघणुस याई, तत्स्य म जा सा उत्तरवेठद्विया सा अह० अंगुलस्स संखेअतिभागं उक्को० घणुसहस्सं । रयणप्पमापुढविनेरइयाणं मंते ! केमहा० पं० १, गो० ! दुविहा पं०, तं०—भवधारिणिञ्जा य उत्तरवेठद्विता य, तत्स्य णं जा सा भवधारणिञ्जा सा अह० अंगु० असं० उक्को० सच घणूईं विणि रयणीओ छष अंगुलाईं, तत्स्य णं जा सा उत्तरवेठद्विता सा अह० अंगु० असं० उक्को० पण्णरस घणूति अहाइक्खाओ रयणीओ । सक्करप्पमाए पुच्छा, गो० ! जाव तत्स्य णं जा सा भवधारणिञ्जा सा अह० अंगु० असं० उक्को० पण्णरस घणूईं अहाइजाओ रयणीओ, तत्स्य णं जा सा उत्तरवेठद्विता सा अह० अंगु० संखे० उक्को० एकवीसं घणूईं एका य रयणी । वालुयप्पमाए पुच्छा, भवधारणिञ्जा एकवीसं घणूइ एक्का रयणी उत्तरवे-

उदिमा छावट्टि षड्वृत्तिं दो रयणीओ । पंकप्यमाए भाधारणिआ भावट्टि घणुइ दो रयणीओ, उत्तरवउद्विया पगयीसं
 घणुसय । घूमप्यमाए भवधारणिआ पगयीसं घणुसय, उत्तरवेउद्विया अट्टातिआइं घणुसयाई । तमाए भवधारणिआ
 अट्टाइआइं घणुसयाई उत्तरवेउद्विया पंच घणुसयाइ । अयेसपमाए भवधारणिआ पच घणुसयाइ उत्तरवेउद्विता घणुसहस्सं,
 एवं उक्कोसेणं । जइभेणं भवधारणिआ अंगुलस्स असंखेच्चरिमाग उत्तरवेउद्विआ अगुलस्स संखिअतिमागं । तिरिअणु-
 जोणियपंचिवियेउद्वियसरीरस्स णं मते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पं ? , गो ! जहं अंगुं सं० उक्कोसेणं जोअ-
 णसत्तपुट्टुपं । मणुस्सपंचिवियेउद्वियसरीरस्स णं मते ! केमहा० ? , गो ! जहं अंगुलं सं० उक्को० सातिरेगं जोअ-
 णसत्तसहस्सं । असुरकुमारमवणवासिदेव० पंचि० वेउद्वियसरीरस्स णं मते ! केमहा० ? , गो ! असुरकुमाराण देवाण
 बुदिहा सरीरोगाहणा पं०, तं०—भवधारणिआ य उत्तरवेउद्विया य, तत्य णं जा सा भवधारणिआ सा ज० अगुं
 असं० उक्को० सच रयणीओ, तत्य णं आ सा उत्तरवेउद्विता सा जहं अंगुं संखे० उक्को० जोअप्पसत्तसहस्सं, एव जाय
 यभिमकुमारार्थं, एवं ओद्वियाणं वाणमत्तराणं, एवं जोइसियाणवि सोहग्गीसाणदेवाण, एवं चैव उत्तरवेउद्विता, जाय
 अणुओ कपो, नवरं सणकुमारे भवधारणिआ जहं अंगुं अ० उक्को० छ रयणीओ, एवं माहिद्वि, पमलोपलत्तगेसु
 पंच रयणीओ महादुक्कसहस्सारेणु षचारि रयणीओ, आजयपाणयआरगणुएसु तिणिग रयणीओ गेविज्जगकप्पातीवेमा-
 णियेवपचिवियेउद्वि० सं० केम० ? , गो ! गेवेज्जगदेवाण एगा भवधारणिआ सरीरोगाहणा पं० सा जहं अगुलं
 असं० उक्को० दो रयणी, एव अणुपरोषवाइयेदेवाणवि, नवरं एहा रयणी (मूत्रं २७२)

'बेडधियसरीरस्स ण'मित्यादि, जघन्यतोऽहुलासङ्घेयभागं नैरयिकादीनां भवधारणीयस्यापर्यासावस्थायां वात-
 कायस या, उत्कर्षतः सातिरेक योजनशतसहस्र देवानामुत्तरैकियस्य मनुष्याणा वा, 'एगिदियवेडधियसरीरस्स
 ण'मित्यादि, अत्र एकेन्द्रियो वातकायोऽन्यस्य वैक्रियलब्ध्यसम्भवात्, तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽवगाहनामान-
 महूलासङ्घेयभागप्रमाण, एतापत्प्रमाणनिकुर्षणायामेव तस्य शक्तिसम्भवात्, सामान्यनैरयिकसूत्रे 'मघधारणीया'
 मघो धार्यते यया सा मघधारणीया 'कृद्धुल'मिति पचनात् करणे वनीयप्रत्ययः, उत्कर्षतः पञ्च घनुःश्रुतानि, उत्क-
 र्वैक्रिया घनुःसहस्र सप्तमनरकृषियिष्यपेक्षया, अन्यत्रैतावत्या भवधारणीयाया उत्तरैकियाया वा शरीरायगाहनाया
 मप्राप्यमाणत्वात्, अयुना प्रतिपृथिव्यवगाहनामानमाह—'रयणपमे'त्यादि, अहुलासङ्घेयभागप्रमायता प्रथमोत्प-
 चिकाले वेदितव्या, उत्कर्षत सप्त घनूपि त्रयो हस्ताः पट्ट चाहुलानि पर्यासावस्थायां, इद चोत्कर्षतः सरीरावगाह-
 नामानं त्रयोदशे प्रसृष्टे द्रष्टव्य, त्रेपेषु त्वर्षाकनेषु स्रष्टेषु स्रष्टेसु स्रष्टेसु स्रष्टेसु स्रष्टेसु स्रष्टेसु स्रष्टेसु स्रष्टेसु स्रष्टेसु
 हस्ता उत्कर्षतः शरीरप्रमाण, द्वितीये प्रसृष्टे घनुरेकमेको हस्तः सार्द्धानि चाष्टावहुलानि, तृतीये प्रसृष्टे घनुरेक
 त्रयो हस्ताः सप्तदशाहुलानि, चतुर्थे द्वे घनुषी द्वौ हस्तौ सार्द्धमेकमहुल, पञ्चमे त्रीणि घनूपि दशाहुलानि, षष्ठे
 त्रीणि घनूपि द्वौ हस्तौ सार्द्धान्यष्टादशाहुलानि, सप्तमे चत्वारि घनूपि एको हस्तः त्रीणि चाहुलानि, अष्टमे
 चत्वारि घनूपि त्रयो हस्ताः सार्द्धान्येकादशाहुलानि, नवमे पञ्च घनूपि एको हस्तो विंशतिरहुलानि, दशमे पट्ट

घनूषि सार्द्धानि चत्वारि अहुलानि, एकादशे पद् घनूषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशाहुलानि, द्वादशे सप्त घनूषि सार्द्धान्ये-
कविंशतिरहुलानि, त्रयोदशे सप्त घनूषि त्रयो हस्ताः पद् परिपूर्णान्यहुलानि, अत्र चाय तात्पर्यार्थः—प्रथमप्रसूटे
यच्छरीरावगाहनापरिमाणं त्रयो हस्ता इति तस्योपरि प्रसूटक्रमेण सार्द्धानि पद्पञ्चाशदहुलानि प्रक्षिप्यन्ते, ततो
यथोक्त प्रसूटेषु शरीरावगाहनापरिमाणं भवति, उक्तं च—“रयणापं पठमपथरे इत्यतिय देहउत्सवो मणिओ ।
छप्पन्नगुल सन्हा पथरे २ हवइ हुन्नी ॥ १ ॥ [रत्नाया प्रथमे प्रतरे हस्तत्रय देहोच्छ्रयो मणितः । पद्पञ्चाशदहु-
लानि सार्धानि प्रतरे प्रतरे मथति वृद्धिः ॥ १ ॥] ‘तत्थ ण जा सा उत्तरवेउषिया’ इत्यादि, जवन्यतोऽहुलसङ्ख्ये
यमाग, प्रथमसमयेऽपि तस्या अहुलसङ्ख्येयमागप्रमाणाया एव माषात्, न त्वसङ्ख्येयमागप्रमाणाया, आह च
सङ्घट्टणमूलीकाकारो हरिमद्रसुरिः—“उत्तरवैक्रिया तु तथाविधप्रयत्नमावादाद्यसमयेऽप्यहुलसङ्ख्येयमागमात्रैव,
उत्कर्षतः पञ्चदश घनूषि अर्धतृतीया हस्ताः” इदं च उत्तरवैक्रियशरीरावगाहनापरिमाणं त्रयोदशे प्रसूटेऽवसातभ्य,
शेषेषु तु प्रसूटेषु प्रागुक्तमवधारणीयमानापेक्षया द्विगुणं प्रत्येतव्यं ? । शर्कराप्रमायाः अवधारणीया उत्कर्षतः पञ्चदश
घनूषि अर्धतृतीया हस्ताः, इदं चोत्कर्षतो मवधारणीयावगाहनापरिमाणमेकादशे प्रसूटेऽवसातभ्य, शेषेषु तु प्रसूटे-
ष्विदं—शर्करायाः प्रथमे प्रसूटे सप्त घनूषि त्रयो हस्ताः पद् षाहुलानि, द्वितीये प्रसूटे अष्टौ घनूषि द्वौ हस्तौ नव
षाहुलानि, तृतीये नव घनूषि एको हस्तो द्वादश षाहुलानि, चतुर्थे दश घनूषि पञ्चदशाहुलानि, पञ्चमे दश

घनूपि प्रयो ह्रस्वा अष्टादशाहुलानि, षष्ठे एकादश घनूपि द्वौ ह्रस्वावेकविंशतिरहुलानि, सप्तमे द्वादश घनूपि द्वौ ह्रस्वौ, अष्टमे त्रयोदश घनूपि एको ह्रस्वः त्रीणि अहुलानि, नवमे चतुर्दश घनूपि षट् चाहुलानि, दशमे चतुर्दश घनूपि त्रयो ह्रस्वा नव चाहुलानि, एकादशे सत्रोक्तमेव परिमाण, अत्रापीद तात्पर्यं—प्रथमे प्रस्रटे यत्परिमाणमुक्त तस्योपरि प्रस्रटक्रमेण त्रयो ह्रस्वास्त्रीणि चाहुलानि प्रथेसन्व्यानि, ततो भयोक्त प्रस्रटेषु परीमाण भवति, “सो वेष य धीयाए पहले पररमि होइ उस्सेहो । हत्पतिय तिन्नि अगुल पररे पररे य बुद्धीए ॥ १ ॥ एकारसमे पररे पणरस घणूणि दोणिण रयणीवो । धारस य अगुलार देहपमाण तु यिन्नेय ॥ २ ॥” गाथाद्वयस्वापीयमखर-गमनिका—य एव प्रथमपृथिव्यां त्रयोदशे प्रस्रटे उत्कर्षत उत्सेधो मणित —सप्त घनूपि त्रयो ह्रस्वाः षट् चाहुलानि इति, स एव द्वितीयस्यां—द्वर्कराप्रमायां पृथिव्या प्रथमे प्रस्रटे उत्सेधो भवति ज्ञातव्यः, ततः प्रतरे प्रतरे दृढिरपसेया त्रयो ह्रस्वास्त्रीणि चाहुलानि, तथा च सत्येकादशे प्रस्रटे उत्कर्षतो भवधारणीयशरीरपरिमाणमायाति पञ्चदश घनूपि द्वौ ह्रस्वौ द्वादश चाहुलानि इति, उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमाह—एकत्रिंशच्चनूपि एको ह्रस्वः, षट् च एकादशे प्रस्रटे वेदितव्य, शेषेषु तु प्रस्रटेषु स्वस्रभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमवसेय २ । तथा तृतीयस्यां षट् फात्रमायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया एकत्रिंशच्चनूपि एको ह्रस्वः, एतच्च नवम प्रस्रटमधिकृत्योक्तमवसेय, शेषेषु प्रस्रटेष्वेव—तत्र प्रथमप्रस्रटे भवधारणीया पञ्चदश घनूपि द्वौ ह्रस्वौ द्वादशाहुलानि, द्वितीये प्रस्रटे सप्तदश

घनूयि द्वौ हस्तौ सार्द्धानि सप्ताङ्गुलानि, तृतीये एकोनविंशतिर्घनूयि द्वौ हस्तौ त्रीण्यङ्गुलानि, चतुर्थे एकविंशतिः
घनूयि एको हस्तः सार्द्धानि द्वाविंशतिरङ्गुलानि, पञ्चमे त्रयोविंशतिर्घनूयि एको हस्तोऽष्टादश चाङ्गुलानि, षष्ठे पञ्च-
विंशतिर्घनूयि एको हस्तः सार्द्धानि त्रयोदशाङ्गुलानि, सप्तमे सप्तविंशतिर्घनूयि एको हस्तो नव चाङ्गुलानि, अष्टमे
एकोनविंशत्घनूयि एको हस्तः सार्द्धानि चत्वार्यङ्गुलानि, नवमे दशोत्तरङ्गुलानि, अत्रापि षाय मावार्थः—
प्रथमे प्रसृते यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रसृते प्रसृते सप्त हस्ताः सार्द्धानि च एकोनविंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रथेस-
म्यानि, ततो ययोक प्रसृतेषु परिमाणं भवति, उक्तं च—“सो चेष य तद्वाप पद्मे पपरमि होइ उस्सेहो । सच
ररयणीठ अगुल तणवीस सङ्गुह्नी य ॥ १ ॥ परे परे य तद्वा नवमे पपरमि होइ उस्सेहो । घणुयाणि एगसीसं
एका रयणी य नायदा ॥ २ ॥” अस्यापि गायान्त्येयमखरगमनिका—य एष द्वितीयस्मा शर्करप्रमाया एका-
दशे प्रसृते भवधारणीयाया उत्कर्षत उत्सेष उक्तं—पञ्चदश घनूयि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गुलानि, स एव तृती-
यस्याः षाड्काप्रमायाः पृथिव्याः प्रथमे प्रसृते उत्सेषो भवति, ततः प्रतरे २ दृष्टिरवसेया सप्त हस्ताः सार्द्धानि चैको-
नविंशतिरङ्गुलानि, तथा च सति नवमे प्रसृते ययोकं भवधारणीयावगाहनामानं भवति—एकत्रिंशत्घनूयि एको हस्त
इति, उत्तरवैक्रियोत्कृष्टपरिमाणमाह—द्वापष्टिर्घनूयि द्वौ हस्तौ, एतच्च नवमप्रसृटायेष्वमवसेष, क्षेत्रेषु तु प्रसृतेषु
निजनिजमवधारणीयप्रमाणायोपेक्षया द्विगणद्विगणमिति ३ । अतश्चैवै पञ्चप्रमायां प्रथिष्वायुत्कर्षतौ मवधारणीया

द्वापटिर्धनूपि द्वौ हस्तौ, इदं च सप्तमे प्रसूते प्रलेप, श्रेषु प्रसूतेष्वेष—पञ्चप्रमायाः प्रथमे प्रसूते एकत्रिंशद्वनूपि
 एको हस्तः, द्वितीये पट्त्रिंशद्वनूपि एको हस्तो विशतिखलानि, तृतीये एकचत्वारिंशद्वनूपि द्वौ हस्तौ पौच्छ
 अङ्गुलानि, चतुर्थे पट्त्रिंशद्वनूपि त्रयो हस्ता द्वादशाङ्गुलानि, पञ्चमे द्विपञ्चाशद्वनूपि अष्टाषड्गुलानि, षष्ठे सप्तप
 ष्चाशद्वनूपि एको हस्तः चत्वार्यङ्गुलानि, सप्तमे यथोक्तरूप परिमाण, अत्रापि चैप सार्थाय—प्रथमे प्रसूते यत्परि-
 माणमुक्तं तस्योपरि प्रसूते प्रसूते क्रमेण पञ्च घनूपि विशतिखलानीत्येवरूपा वृद्धिरयगन्तव्या, ततः प्रथमे प्रसूते
 सूत्रोक्तं परिमाण भवति, उक्तं च—“सो चैव षड्दधीए षष्ठमे पररमि होइ उस्सेहो । पञ्च घणु षीस अगुल पररे
 पररे य हुढी य ॥ १ ॥ जो सत्तमए पररे नेरइयाण तु होइ उस्सेहो । वासट्ठी घणुयाण दोणिण रयणी य कोइवा
 ॥ २ ॥” अस्यापि गायार्थस्य साक्षरगमनिका प्राग्बत् माधनीया, उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाण पञ्चविंश घनुःशत, तच्च
 सप्तमे प्रसूते, श्रेषु तु प्रसूटेषु स्वस्वमवधारणीयापेक्षया द्विगुणमिति ४ । पञ्चम्या घनप्रमायां वृथिभ्यां भवधारणी
 योत्कर्षत पञ्चविंश घनुःशत, तच्च पञ्चम प्रसूटमधिकृत्योक्तमवसेय, श्रेषु प्रसूटेष्विदं—प्रथमप्रसूते द्वापटिर्धनूपि
 द्वौ हस्तौ, द्वितीयेऽष्टसप्ततिर्धनूपि एका वितस्तिः, तृतीये त्रिनवतिर्धनूपि त्रयो हस्ताश्चतुर्थे नवोत्तर घनुःशत एको
 हस्तः एका च वितस्तिः, पञ्चमे सुत्रोक्त परिमाणं, अत्रापि चाय तात्पर्यार्थः—यत्प्रथमे प्रसूते परिमाणमुक्तं तदुपरि
 प्रसूटे २ क्रमेण पञ्चदश घनूपि सार्द्धदशद्वयाधिकानि प्रथेसन्धानि, तथा च सति यथोक्त पञ्चमे प्रसूते परिमाण

भवति, उक्त च—“सो चैव य पचमीए पढमे पयरमि होइ उस्सेहो । पनरस घणूणि दो हृत्य सद्ध पयरेसु बुद्धी
 य ॥ १ ॥ तह पचमए पयरे उस्सेहो घणुसय तु पणवीम ॥” अस्या सार्द्धगाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कच
 न्या, उत्तरवैक्रियोत्कर्पपरिमाण अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, एतानि च पचमे प्रस्रटे वेदितव्यानि, शेषेषु प्रस्रटेषु
 स्वस्रमधारणीयापेक्षया द्विगुणमिति । पष्टपां तमःप्रमायां पृथिव्यामुत्कर्पतो मधधारणीया अर्द्धतृतीयानि धनुःश-
 तानि, तानि च तृतीये प्रस्रटे प्रत्येतन्यानि, प्रथमे तु प्रस्रटे पञ्चविंश धनुःशत, द्वितीये सार्द्धसप्ताशीत्यधिक धनुःशत,
 तृतीये तु सुत्रोक्तमेव परिमाण, अत्राप्यय तात्पर्यार्थः—प्रथमे प्रस्रटे यत्परिमाणमुक्त तस्योपरि प्रस्रटे प्रस्रटे सार्द्धानि
 द्वापष्टिर्धनूपि प्रक्षेप्तव्यानि, तथा च सति तृतीये प्रस्रटे ययोक्त परिमाण भवति, उक्त च—“सो चैव य छट्टीप
 पत्रमे पयरमि होइ उस्सेहो । पायट्टि घणुय सद्धा पयरे पयरे य बुद्धीओ ॥ १ ॥ छट्टीए तइयपयरे दोसय पण्णा
 सया होति ॥” अस्याप्युत्तरार्द्धपूर्विकाया गाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्चन्या, उत्तरवैक्रियोत्कर्पपरिमाणं पञ्च
 धनुःशतानि, तानि च तृतीयप्रस्रटे वेदितव्यानि, आद्योस्तु द्वयोः प्रस्रटयोः स्वस्रमवधारणीयापेक्षया द्विगुण द्विगु-
 णमयषोढन्य ६ । अथ सप्तम्यां तु पृथिव्यां मधधारणीया उत्कर्पतः पञ्च धनुःशतानि, उत्तरवैक्रिया धनुःसहस्र, सर्वत्र
 मधधारणीया जघन्यतोऽहुलासङ्घेयमागप्रमाणा उत्तरवैक्रिया सङ्घेयमागप्रमाणेति । तिर्यकृपथेन्द्रियस्य वैक्रियश-
 रीराषगाहना उत्कर्पतो योजनशतपृषक्तव, तत ऊर्द्धं करणशक्तेरमापात्, मनुष्याणां सातिरेक योजनशतसहस्र

विष्णुकुमारप्रभृतीनां तथाश्रवणात्, जघन्या तूमयेपामप्यह्वलसङ्ख्येयभागप्रमाणा, न त्वसङ्ख्येयभागमाना, तथा रूप-
 प्रयत्नासम्भवात् । अदुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्ययसानानां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां सौधमैशानदेवानां प्रत्येक
 जघन्या मघधारणीया वैक्रियश्चरीरावगाहना अह्वलसङ्ख्येयभागप्रमाणा, सा चोत्पत्तिसमये द्रष्टव्या, उत्कृष्टा सप्त
 रत्नयः, उत्तरवैक्रिया जघन्या अह्वलसङ्ख्येयभागमात्रा, उत्कृष्टा योजनशतसद्वलं, 'उत्तरवेडविषया जाय अशुभो कर्ण्यो'
 सि उत्तरवैक्रिया साषड् षक्तन्या यायदप्युतः कल्पः, परत उत्तरवैक्रियासम्भवात्, एतच्च प्रागेवोक्त, सर्वत्र जघन्य
 तोऽह्वलसङ्ख्येयभागमाना उत्कर्षतो योजनलक्षं, मघधारणीया तु विधिप्रा ततस्त्वां पृथगाह—'नयर'मित्यादि, नयर
 मय मघधारणीयां प्रति विशेषः—सनत्कुमारे कल्पे जघन्यतोऽह्वलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः षड् रत्नयः, 'एव माहिदेवि'
 इति पक्ष—उक्तेन प्रकारेण जघन्या उत्कृष्टा च मघधारणीया माहेन्द्रकल्पेऽपि षक्तव्या, एतच्च सप्तसागरोपमस्थि-
 तिकान् देवानधिकृत्योक्तमघसेय, व्यादिसागरोपमस्थितिभेद—येषा सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्द्वे सागरोपमे स्थिति
 स्त्रेषामुत्कर्षतो मघधारणीया परिपूर्णसप्तसप्तप्रमाणा, येषां त्रीणि सागरोपमाणि तेषां षड् दस्ताः चत्वारश्च दस्तस्यै
 कादशभागाः, येषा चत्वारि सागरोपमाणि तेषां षड् दस्ताः चत्वारश्चो दस्तस्यैकादशभागः, येषां षड् दस्ताः चत्वारि
 तेषां षड् दस्ताः द्वौ च दस्तस्यैकादशभागौ, येषां षट् सागरोपमाणि तेषां षड् दस्ताः एकश्च दस्तस्यैकादशभागः,
 येषां तु परिपूर्णानि सप्त सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णां षड् दस्ता मघधारणीया, उक्त च—“अयरतिग ठिइ

जेमिं सणकुमारे तरेव माहिदे । रयणीछक्क तेसिं मागचउक्काहिय देहो ॥ १ ॥ तत्तो अयरे अयरे भागो एकेकजो
 पढइ जाय । सागरसचठिरेण रयणीछक्क तणुपमाण ॥ २ ॥” इह जचन्या भवधारणीया सर्वप्राप्यहुलासङ्खयेयमा
 गप्रमाणा, सा च प्रतीतेति तामपधीर्योत्कृष्टां प्रतिपादयति—‘धमलोगलंतगेषु पच रयणीओ’ इति, इह यद्यपि
 प्रमलोकस्योपरि लान्तको न समझेण्या तथापीह शरीरप्रमाणचिन्तायामिद द्विक विवक्ष्यते, त्रिकपर्यन्त एव हस्त-
 स्य शुटिततया लभ्यमानत्वात्, एवमुत्तरत्रापि द्विकचतुष्कादिपरिग्रहे कारण भाष्य, तत्र प्रमलोकलान्तकयोरुत्कर्ष-
 तया भवधारणीया पञ्च रत्नयः, एतद्य लान्तके चतुर्दशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिहुत्व प्रतिपादितमवसेय, श्रेय
 सागरोपमस्थितिव्येय—येषा प्रमलोकं सप्त सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां पद्म रत्नयः परिपूर्णा भवधारणीया, येषामष्टौ
 सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताः पद्म हस्तस्यैकादशभागाः, येषा नव सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता पञ्च हस्तस्यै-
 कादशभागाः, येषां दश सागरोपमाणि तेषा पञ्च हस्ताश्चत्वारश्चैकादशभागा हस्तस्य, लान्तकेऽपि येषां दश साग-
 रोपमाणि स्थितिस्तेषामेवाथती भवधारणीया उत्कर्षतो, येषामेकादश सागरोपमाणि लान्तके स्थितिस्तेषां पञ्च
 हस्ताः पद्म हस्तस्यैकादशभागाः, येषां द्वादश सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता द्वौ च हस्तैकादशभागौ, येषां त्रयो-
 दश सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागो, येषां चतुर्दश सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा
 पञ्च हस्ता भवधारणीया, ‘महासुफसहस्वारेषु चचारि रयणीगो’ महाद्व्यकशहस्वारयोश्चतस्रो रत्नय उत्कर्षतो भवधार-

नीया, एतच्च सहस्रारगतान् अष्टादशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिष्ठित्योक्तं वेदितव्यं, श्रेयसागरोपमस्थितिव्येवं-
 येषां महाशुभ्रे कल्पे षतुर्दश सागरोपमाणि स्थितिस्येपामुत्कर्षतो मवधारणीया परिपूर्णाः पञ्च हस्ताः, येषां पञ्चदश
 सागरोपमाणि तेषां षत्वारो हस्ताश्च सागरोपमाणि तेषां षत्वारो हस्ता द्वौ च
 हस्तस्यैकादशभागौ, येषां सप्तदश सागरोपमाणि तेषां षत्वारो हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः, सहस्रारोऽपि येषां
 सप्तदश सागरोपमाणि तेषामेतायती मवधारणीया, येषां पुनः सहस्रारे परिपूर्णाऽन्यष्टादश सागरोपमाणि 'स्थितिस्ये-
 पां परिपूर्णाऽषत्वारो हस्ताः मवधारणीया, 'आण्यपाण्यमारण्युपसु तिल्लि रयणीजो' इति जानतंप्राणतोरणांशु-
 तेषु तिस्रो रत्न्य उत्कृष्टा मवधारणीया, एतच्चाच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकान् देवानधिष्ठित्योक्तं प्रष्टव्यं,
 श्रेयसागरोपमस्थितिव्येव—येपामान्तेऽपि कल्पे परिपूर्णाणि किञ्चित्समधिकानि षाष्टादश सागरोपमाणि स्थिति
 तेषां परिपूर्णाऽषत्वारो हस्ता उत्कृष्टा मवधारणीया, येषां पुनरेकोनविंशतिः सागरोपमाणि तेषां त्रयो हस्ताश्चयश्च
 हस्तस्यैकादशभागः, प्राणतेऽपि कल्पे येपामेकोनविंशतिः सागरोपमाणि स्थितित्सेपामेतायती मवधारणीया, येषां
 पुनः प्राणते कल्पे विंशतिः सागरोपमाणि स्थितित्सेपां त्रयो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ, येपामारणेऽपि
 कल्पे विंशतिः सागरोपमाणि स्थितित्सेपामेतायती मवधारणीया, येषां पुनरारणेऽपि कल्पे एकविंशतिः सागरोप-
 माणि स्थितित्सेपां त्रयो हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागो मवधारणीया, अन्युतेऽपि कल्पे येपामेकविंशतिः 'सागरो-

रोपमाणि स्थितिस्तेपामेतावत्सेय मषघारणीया, येषां पुनरच्युते कल्पे द्वाविंशतिः सागरोपमाणि स्थितिस्तेपामुत्कर्-
 र्णतो मषघारणीया परिपूर्णास्त्रयो हस्ताः, 'शेषेष्वफण्यातीते'त्यादि भावितं, नवर 'उक्कोषेण दो रयणीओ'त्ति एतद्व-
 पमत्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् वेपान् प्रति द्रष्टव्य, शेषसागरोपमस्थितिवेष-प्रथमे त्रैवेयके येषां द्वाविं-
 शतिः सागरोपमाणि स्थितिस्तेपां त्रयो हस्ता मषघारणीया, येषां पुनस्तत्रैव त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि स्थिति-
 स्तेपां द्वौ हस्तावष्टौ हस्तस्यैकादशमागाः, द्वितीयेऽपि त्रैवेयके येषां त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि स्थिति-
 स्तेपां त्रयो हस्तावष्टौ हस्तस्यैकादशमागाः, द्वितीयेऽपि त्रैवेयके येषां त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि स्थितिस्तेपामे-
 तावती मषघारणीया, येषां पुनस्तत्र चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि स्थितिस्तेपां द्वौ हस्तौ सप्त च हस्तस्यैकादशमागा
 मषघारणीया, तृतीयेऽपि त्रैवेयके येषां चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि स्थितिस्तेपामेतावत्सेय मषघारणीया, येषां पुन
 षड्विंशतिः सागरोपमाणि तत्र स्थितिस्तेपां द्वौ हस्तौ षड् हस्तस्यैकादशमागा मषघारणीया, चतुर्थेऽपि त्रैवेयके
 तेषां द्वौ हस्तौ षड् हस्तस्यैकादशमागाः, षष्ठेऽपि त्रैवेयके येषां षड्विंशतिः सागरोपमाणि स्थिति-
 स्तेपां द्वौ हस्तौ षड् हस्तस्यैकादशमागाः, षष्ठेऽपि त्रैवेयके येषां षड्विंशतिः सागरोपमाणि तेपामेतावती मष-
 घारणीया, येषां तु तत्र सप्तविंशतिः सागरोपमाणि तेषां द्वौ हस्तौ षट्कारो हस्तस्यैकादशमागा मषघारणीया,
 षेऽपि त्रैवेयके येषां सप्तविंशतिः सागरोपमाणि तेपामेतावत्सेय मषघारणीया, येषां पुनस्तत्राष्टाविंशतिः सागरोप-
 माणि स्थितिस्तेपां द्वौ हस्तौ त्रयो हस्तस्यैकादशमागा मषघारणीया, सप्तमेऽपि त्रैवेयके येषामष्टाविंशतिः सागरो-

पमाणि (स्थितिः) तेपामेतावती, येषां पुनस्तत्र एकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि तेषां भवधारणीया द्वौ हस्तौ द्वौ च हस्तस्ये-
 फादशभागौ, अष्टमेऽपि त्रैवेयके येषां स्थितिकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि तेषामेतावत्प्रमाणा, येषां पुनस्तत्र त्रिंशत्सा-
 गरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ एकश्च हस्तस्यैकादशो भागो भवधारणीया, नयने त्रैवेयके येषां स्थितिर्त्रिंशत्सा-
 गरोपमाणि तेषां भवधारणीया एतावत्प्रमाणा, येषां पुनरेकत्रिंशत्सागरोपमाणि तत्र स्थितिस्तेषां परिपूर्णौ द्वौ हस्तौ
 भवधारणीया, 'एवं अणुचरे' इत्यादि, एव त्रैवेयकोक्तेन प्रकारेण अनुचरोपपातिकेदेवानामपि सूत्रं वक्तव्यं, नयर-
 मुत्कर्षतो भवधारणीया एका रत्निः—हस्तौ वक्तव्यः, एतच्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् प्रति ज्ञातव्यं, येषां
 पुनर्विजयादिषु चतुर्षु विमानव्येकत्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णौ द्वौ हस्तौ भवधारणीया, येषां पुनस्तत्र
 त्रैय मध्यमा द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेको हस्त एकश्च हस्तस्यैकावश्रभागो भवधारणीया, येषां पुनस्तत्र
 सूर्यार्यसिद्धमहाविमाने त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तेषामेको हस्तौ भवधारणीया, जवन्या सर्पत्राष्टुलासङ्ख्येयमाग-
 मात्रा ॥ तदेवमुक्तानि वैक्रियशरीरस्यापि विधिसस्यानावगाहनप्रमाणानि, सम्प्रत्याहारकस्य प्रतिपिपावयिपुराह—

आहारगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पञ्चमे ऽ, गो० ! एगागारे पं०, जइ एगागारे किं मणूसआहारगसरीरे अमणूसआहार-
 गसरीरे ऽ, गो० ! मणूसआहारगसरीरे नो अमणूसआ०, जइ मणूसआहा० किं संघुच्छिममणूसआहा० गग्मवक्कतियम-
 णूसआहा० ऽ, गो० ! नो संघुच्छिममणूसआहा० गग्मवर्कतियमणूसआहा०, जइ गग्मव० म० आ० किं कम्मभूमगग०

म० आ० एकम्मभूमग० म० आ० अंतररीवग० म० आ० ?, गो० ! कम्मभूमग० नो अर्कम्मभूमग० नो अंत
 रदीपग०, जइ कम्मभूमग० म० आ० किं संखवासाउय० क० ग० म० आ० असंखवासाउकं० ग० म० आ० ?,
 गो० ! संखवा० क० ग० म० आ० आहारगसरीरे नो असं० क० ग० म० आ०, वति संखे० क० 'ग० म०
 आ०' सरीरे किं पञ्चसं० वा० क० ग० म० आ० सरीरे अपञ्चसं० वा० क० ग० म० आ० ?, गो० ! पल
 ससं० यासा० द० ग० म० आ० नो अपञ्चं क० ग० म० आ०, जइ पञ्चसं० सं० क० ग० म० आ० किं सम्म-
 रिटीपञ्चसं० क० ग० म० आ० मिच्छइदीप० सं० क० ग० म० आ० सम्मामिच्छरिद्धिपञ्च० सं० क० ग० म०
 आ० ?, गो० ! सम्म० पञ्च० सं० क० ग० म० आ० नो मिच्छरिद्धि० नो सम्मामिच्छरिद्धिप० सं० कम्म० ग० म०
 आ०, जइ सम्मरिद्धियञ्चसं० वा० क० ग० म० आ० किं संजयस० म० सं० क० ग० म० आ० असंजतसम्म०
 प० सं० क० ग० म० आ० संजयासंजयस० प० सं० क० ग० म० आ० ?, गो० ! संजयसम्म० प० सं० क० ग०
 म० आ० नो असंजतसम्म० प० आ० नो संवतासंजतसम्म० आ०, जइ संवसेसम्म० प० सं० क० ग० म०
 आ० किं पमचसंजतसम्म० म० आ० अपमचसंजतसम्म० सं० क० ग० म० आ० ?, गो० ! पमचसं० सम्मरिद्धिप०
 सं० क० ग० म० आ० नो अपमचसं० स० प० सं० क० ग० म० आ०, जइ अपमचसं० स० प० सं० क० म०
 आ० किं इद्धिपचपमचसं० स० क० सं० ग० म० आ० जणिद्धिपचसं० प० क० सं० ग० आ० ?, गो० ! इद्धिपचं
 स० प० सं० क० ग० म० आ० नो जणिद्धिप० स० प० सं० क० ग० म० आ० । आहारगसरीरे 'ने भवे !

किंसीठिते पं० ? , गो० ! समस्वरसंस्थासंठिते पं०, आहारगंसरीरस्स'णं भवे ! केमहालिंघा सरीरोगाहंणा पं० ? ,
गो० ! ब्रह्म० देव्युष्णा रयणी उ० पठिपुष्णा रयणी । (सूत्रं २७३)

'आहारकसरीरे णं मते ! कइविहे पं०' इत्यादि सुगम, नयर 'सजय'सि 'यम् उपरमे' सयच्छन्ति स्म—सर्वसाव-
धयोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति स्मेति सयताः, 'गत्यर्पनित्याकर्मका'दिति कर्त्तरि कप्रत्ययः, सकलचारित्रिणः, असयता—
अधिरतसम्यग्गृह्यः सयतासयता—देशविरतिमन्तः, तथा 'पमत्त'सि प्रमाथन्ति स्म—मोहनीयादिकर्मोदयप्रमाथतः
सम्बलनकपायनिप्राणन्यतमप्रमादयोगतः सयमयोगेषु सीदन्ति स्म प्रमत्ता, पूर्षत्कर्त्तरि कप्रत्ययः, ते च प्रायो गच्छ-
कासिनस्त्रेषां क्वचिदनुपयोगसम्मयात्, तद्विपरीता अप्रमत्ताः, ते च प्रायो जिनकल्पपरिहारविशुद्धिकयथालन्दकल्पि
कप्रतिमाप्रतिपन्नास्त्रेषां सततोपयोगसम्मयात्, इह जिनकल्पिकादयो लब्धि नोपजीवन्ति, तेषां तथाकल्पत्वात्,
येऽपि च गच्छ्वासिन आहारकसरीर कुर्वन्ति तेऽपि तदानीं लब्धुपजीवनेनौत्सुक्यमाथतः प्रमादवन्तो, मोचनेऽपि
च प्रमादवन्त आत्मप्रदेशानामौदारिकसरीरे सर्वात्मनोपसहरणेन व्याकुलीमाथात्, आहारकसरीरे चान्तर्गुह्यर्थायस्यान,
ततो यद्यपि तन्मध्यभागे कियत्काल मनाक् विशुद्धिमाथतः कर्मप्रन्यिकैरमत्ततोपधर्ण्यते तथापि स लब्धुपजी-
वनेन प्रमत्त एवेत्यप्रमत्तस्य 'नो अपमत्तसंज्ञए' इत्यादिना प्रतिषेधः कृतः, 'इद्विपत्त'सि ऋद्धीः—आमर्षोपभ्यादि-
लक्षणाः प्राप्त ऋद्धिप्राप्तश्चद्विपरीतोऽनुद्धिप्राप्तः, ऋद्धीश्च प्राप्तोति प्रथमतो विशुद्धमुत्तरोत्तरमपूर्वापूर्वार्थप्रतिपादकं

श्रुतमवगाहमान श्रुतसामर्थ्यतस्त्रीप्रतीप्रतश्चुममावनामधिरोहन् अग्रमत्तः सन्, उक्तं च—“अवगाहते च स श्रुतज-
 लधिं प्राप्नोति चापधिज्ञानम् । मानसपर्याय वा ज्ञान कोष्ठाद्विबुद्धीर्षा ॥ १ ॥ चारणवैक्रियसर्वोपधिताया षाऽपि
 लब्धयज्ञस्य । प्रादुर्भवन्ति गुणतो षलानि वा मानसादीनि ॥ २ ॥” अत्र ‘स’ इत्यप्रमत्तस्यतः, मानसपर्यायमि
 ति—मानसा—मनस सम्बन्धिन पर्याया—विषया यस्य तन्मानसपर्याय मनःपर्यायज्ञानमित्यर्थः, कोष्ठाद्विबुद्धीर्षा
 इत्यत्राद्विबुद्धात् पदानुसारिवीजपरिग्रहः, तिस्रो हि बुद्ध्यः परमातिशयरूपाः प्रबन्धने प्रतिपाद्यन्ते, तद्यथा—
 कोष्ठबुद्धिः १ पदानुसारिबुद्धिः २ वीजबुद्धिः ३ च, तत्र कोष्ठक इय धान्य या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदव-
 स्थानौ च सूत्रार्थो धारयति न किमपि तयोः कालान्तरे गलति सा कोष्ठबुद्धिः १, या पुनरेकमपि सूत्रपदमवधार्य
 श्रेयमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा पदानुसारिणी २, या पुनरेकमर्थपद तथाविधमनुसृत्य श्रेयमश्रुतमपि
 यथावस्थित प्रभृतमर्थमवगाहते सा वीजबुद्धिः ३, सा च सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्ता भगवतां गणधृतां, ते हि उत्पादा-
 दिपदत्रयमयधार्य सकलमपि द्वादशाङ्गात्मक प्रबन्धनमिसूत्रयन्ति, तथा चारणाच्च वैक्रिय च सर्वोपध्याच्च तद्भावश्च
 चारणवैक्रियसर्वोपधिता, तत्र चरण—गमन तद्विद्यते येषां ते चारणाः ‘ज्योत्स्नाद्विम्योऽणि’ति मत्वर्थयोऽण् प्रत्यय ,
 तत्र गमनमन्येषामपि मुनीनां विद्यते ततो विशेषणान्यथानुपपत्त्या चरणमिह विद्यते गमनमभियुद्यते, अत एव
 चातिशयने मत्वर्थीयो, यथा रूपवती कन्या इत्यत्र, ततोऽयमर्थः—अतिशयिचरणसमर्थोच्चारणाः, आह च माप्य-

क्लृप्त् स्वकृतमाप्यटीकार्या "अतिशयघरणाच्चारणाः, अतिशयगमनादित्यर्थः," ते च [ते] द्विविधा—जहाघारणाः
 विद्याघारणाश्च, तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रमायतः समुद्भूतगमनविषयलब्धिविशेषास्ते जहाघारणाः, ये पुनर्विधाव-
 द्रतः समुत्पन्नगमनलक्ष्यविशेषास्ते विद्याघारणाः, जहाघारणाश्च रुचकयरद्वीपं यावत् गन्तुं समर्थाः विद्याघारणा
 नन्दीश्वर, तत्र जहाघारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छन्वस्तत्र रयिकरानपि निधीकृत्य गच्छन्ति, विद्याघारणास्त्वेव
 मेव, जहाघारणाश्च रुचकयरद्वीपं गच्छन् प्रकैनेवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकैनोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति
 द्वितीयेन स्वस्थानं, यदि पुनर्मेरुशिखरं जिगमिपुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवनमधिरोहति प्रतिनिवर्त्तमानस्तु
 प्रथमेनोत्पातेन नन्दनयनमागच्छति द्वितीयेन स्वस्थानमिति, जहाघारिणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवन्ति,
 ततो लक्ष्युपजीवने औत्सुक्यप्रमायतः प्रभावसम्भवाचारित्रातिशयनिवर्धना लब्धिः परिधीयते, ततः प्रतिनिवर्त्त-
 मानो ह्यन्यामुत्पाताभ्यां स्वमुवमायाति, विद्याघारणः पुनः प्रथमेनोत्पातेन मानुषोच्चरं पर्वतं गच्छति द्वितीयेन
 तु नन्दीश्वर, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकैवोत्पातेन स्वस्थानमायातीति, तथा स एवोर्द्ध्वं गच्छन् प्रथमोत्पातेन नन्दनवनं
 गच्छति द्वितीयेनोत्पातेन पण्डकवनं, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकैवोत्पातेन स्वस्थानमायातीति, विद्याघारणो विद्याष-
 द्रतो मयति, विद्या च परिधीन्त्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते, अतः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्यतिशयसम्मयादेकै-
 नोत्पातेन स्वस्थानागमनमिति, लक्ष्यं च—“अशयघरणसमस्या जहाघादि चारणा मुजओ । जघादि जाइ

पठमौ नीस फाउ रविकरेवि ॥ १ ॥ एगुप्पाएण गओ रुगवणमि उ तओ पठिनियत्तो । विइएण नदिस्सरमिह
 तओ एइ तइएण ॥ २ ॥ पठमेण पठगवण विइउप्पाएण नदण एइ । तइउप्पाएण तओ इह जंघाधारणो एइ
 ॥ ३ ॥ पठमेण माणुसोत्तरनग स नदिस्सर तु विइएण । एइ तओ तइएण कयचेइयबंधणो इहइं ॥ ४ ॥ पठमेण
 नदणयणे विमउप्पाएण पठगवणमि । एइ इह तइएण जो विजाधारणो होइ ॥ ५ ॥” तथा सर्व—विइमूत्रा
 दिफमौपय यस स सर्वौपयः, किमुक्तं भवति ?—यस मूत्र पिद्र श्लेष्मा शरीरमलो वा रोगोपघमसमयो भवति स
 सर्वौपयः, आदिशब्दावामरौपन्यादिलिङ्घिपरिमिहः, एताव ऋदीरप्रमत्तः सन् प्राप्य पश्चात् प्रमत्तो भवति, तेनै-
 येह प्रयोजन तत्र उक्तम्—‘इष्टिपचपमत्तसजये’त्यादि, भाह—मनुष्यस्याहारकश्चरीरमित्युक्ते सामर्थ्यादमनुष्यस्य
 नाहारकश्चरीरमित्यवसीयते ततः कस्मादुच्यते—‘नो अमणुस्साहारकश्चरीरे’ इत्यादि, निरर्थकत्वात्, उच्यते, इह
 त्रिपिधा विनेयाः, तद्यथा—उद्वृत्तितज्ञा मरणमदुदयः प्रपञ्चितज्ञा, तत्र ये उद्वृत्तितज्ञा मध्यमबुद्धयो वा ते
 यथोक्तं सामर्थ्यमवबुध्यन्ते, ये पुनरप्याप्यग्युत्सन्नत्वात् न यथोक्तसामर्थ्यावगमकुशलस्ते प्रपञ्चितमेवावगन्तुमीच्छते
 नान्यथा, ततस्तेषामनुग्रहाय सामर्थ्यलब्धत्वायि विपश्चिनियेषत्साभिधान, महीयोसो हि परमकरुणापरीतत्वात् अवि-
 क्षेपेण सर्वेषामनुग्रहाय प्रवर्तन्ते, ततो न कश्चिदोप, ‘अहण्णेभं वेसुजा रयणी’ इति आहारकश्चरीरस्य अंशम्यतोऽ-

भगावना देशोना—किञ्चिद्गूना रक्तिः—हस्तः तषायिथप्रयत्नमावतः प्रारम्भसमयेऽपि तस्मा पृतावत्या एय मायात् ।
 तेयमुक्तान्याहारकशरीरस्य विधिसस्यानावगाहनमानानि, सम्प्रति तैजसस्य तान्यभिधित्सुराष्ट—

तेयगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पं० १, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—एगिदियतेयगसरीरे ज्ञाव पंचदियतेयगसरीरे,
 एगिदियतेयगसरीरे णं भंते ! क्वविधे पं० १, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—शुद्धविकाइय० ज्ञाव नयस्सइकाइयएगिदि-
 यसरीरे, एव जहा ओरालियसरीरस्स भेदो मणितो तथा तेयगस्सवि ज्ञाव चउरिदियात्थं । पंचदियतेयगसरीरे णं भंते !
 कतिविधे पं० १, गो० ! चउरिदिये पं०, तं०—नेरइयतेयगसरीरे ज्ञाव देवतेयगसरीरे, नेरइयाणं दुगतो भेदो माणितवो,
 जहा वेउविपसरीरे । पंचदियतिरिक्खुजोपियाणं मणूसाण य जहा ओरालियसरीरे भेदो माणितो तथा माणियवो ।
 देवण जहा वेउविपसरीरमेदो माणितो तथा माणियवो, ज्ञाव सवट्टसिद्धेयधि । तेयगसरीरे णं भंते ! किंसेठिए पं० १,
 गो० ! ज्ञायासंठाणसंठिए पं०, एगिदियतेयगसरीरे णं भंते ! किंसेठिए पण्णे?, गो० ! ज्ञायासंठाणसंठिए पं०, शुद्ध-
 यिकाइयएगिदियतेयगसरीरे णं भंते ! किंसेठिए पं० १, गो० ! मधुरचंदसंठाणसंठित्ते पं०, एवं ओरालियसंठाणाणुसा
 रेण माणितवो ज्ञाव चउरिदियाणवि, नेरइयाणं भंते ! तेयगसरीरे किंसेठिए पं० १, गो० ! जहा वेउविपसरीरे, पंचदिय
 तिरिक्खुजोपियाण मणूसाणं जहा एतेसिं देय ओरालियन्ति, देवात्थं भंते ! किंसेठित्ते तेयगसरीरे पं० १, गो० ! जहा
 वेउविपसस ज्ञाव अणुचरोववाइयधि । (सूत्रं २७४) । ज्ञीवस्स णं भंति ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स

केमहालिपा सरीरोगाहणा पं० ? , गो० ! सरीरपमाणमेघा विखुंमवाहणेण आयामेण जह० अंगुलस्स असं० उक्को०
 लोंगंवाओ लोगत, एणिदियस्स णं मंते ! मारणंतियसमुग्घापण समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिपा सरीरो० ? ,
 गो० ! एवं च्च, जाप पुढवि० आउ० सेउ० षाउ० षणफ्फकाइयस्स, बेइदियस्स णं मंते ! मारणंतियसमु० समो०
 तेयासरीरस्स केमहा० ? , गो० ! सरीरपमाणमेघा विखुंमवाहणेण आयामेणं जह० अंगुलस्स असंखे० उक्को० तिरि-
 यलोगाओ लोगंते, एवं जाव च्चरिदियस्स, नेरइयस्स णं मंते ! मार० समु० समो० तेयासरीरस्स केमहा० ? , गो० !
 सरीरपमाणमेत्ता विखुंमवाहणेण आयामेणं जह० साठिरेक खीयणसहस्सं उक्को० अघे जाव अइसखमा पुढवी तिरियं
 जाव सर्यद्धरमणे समुदे उहुं जाव पठणवणे पुनखरिपीतो, पंथिदियतिरिखुओपियस्स णं मंते ! मार० समु० समो०
 तेयासरीरस्स य केमहा० ? , गो० ! जहा बेइदियसरीरस्स, मणुस्सत्त ण मंते ! मार० समु० समो० तेयासरीरस्स केम
 हा० ? , गो० ! समयस्सेचाओ लोगतो, असुरकुमारस्स ण मंते ! मारणंतियसमुग्घापण समोहयस्स तेया० केम० ? , गो० !
 सरीरपमाणमेत्ता विखुंमवाहणेणं आयामेण जह० अंगुलस्स असंखे उक्को० अघे जाव ठवाए पुढवीए हिठ्ठिछे च्चरमंते
 तिरिय जाव सपद्धरमणसमुहस्स वाहिरिछे चेइयंते उहुं जाव इसीपम्मारा पुढवी, एवं जाव थणियकुमारतेयणसरीरस्स,
 धाणमंतरजोइसियतोहम्मिधाणगा य एवं च्चव, सणकुमारदेवस्स ण मंते ! मारणंतियसमुग्घापणं समोहयस्स तेयासरीरस्स
 केमहालि० ? , गो० ! सरीरपमाणमेघा विपखुमवाहणेणं आयामेणं जह० अंगु० असं० उक्को० अघे जाव महापाताकाणं
 दोषे विमाणे, तिरिय जाव सर्यद्धरमणे समुदे उहु जाव अजुओ कप्पो, एवं जाव सहस्वारदेवस्स अजुओ कप्पो

यदेवस्त न मंते ! मार० समु० समो० तेयास० केम० ? गो० ! सरीरप्यमाणमेया विखुंमवाहृष्टेणं आयामेणं जह०
 अंगु० अस्त० उक्को० जाव अघोलोशयगामा, विरिय जाव मणूतखेपे उहुं जाव अशुओ कप्पो, एवं जाव आरणदेवस्स
 अशुअदेवस्स एवं चेव, भवरं उहुं जाव सभाइं विमाणत्तिं, गेविसागदेवस्स भं मंते ! मारणंरियसमु० समो० तेयग०
 केम० ! गो० ! सरीरपमाणमेया विखुंमवाहृष्टेण आयामेणं जह० विस्साहरसेदीतो उक्को० जाव अहोलोइयगामा ति
 रिय जाव मणूतखेपे उहुं जाव सगात्तिं विमाणात्तिं, अशुषरोववाइयस्सवि एवं चेव ! कम्मगसरीरे णं मंते ! कतिविधे
 वं० ? गो० ! पंचविधे पं० स०—एगिंदियकम्मगसरीरे जाव पंचिदिय० य, एवं बदेव तेयगसरीरस्स मेवो संठाणं
 ओगाइया य मयित्वा तदेव निरवसेसं भाणितवं जाव अशुसरोववाइयत्ति (सूत्रं २७५)

'तेमगसरीरे ण मंते !' इत्यादि, इह तैजसशरीर सर्वेषामवश्य भवति ततो यथा एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियगत
 औदारिकशरीरमेवो मणितस्तथा चतुरिन्द्रियान् यावत् तैजसशरीरमेवोऽपि षक्यः, पञ्चेन्द्रियतैजसशरीरचिन्ताया
 चतुर्विधं पञ्चेन्द्रियतैजसशरीरं, नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवमेदात्, तत्र नैरयिकतैजसशरीरचिन्तायां यथा प्राक् वैक्रिय-
 शरीरे पर्यासापर्यासविषयतया द्विगतो भेद उक्तस्तथाऽत्रापि षक्यः, स वैष—'जइ नेरइयपच्चिदियंतेयगसरीरे
 किं रयणप्पमापुढयिनेरइयपच्चिदियंतेयगसरीरे जाय किं बहेसत्तमापुढयिनेरइयपच्चिदियंतेयगसरीरे ? गो० ! रय-
 णप्पमापुढयिनेरइयपं०तेयगसरीरेयि जाय बहेसत्तमापुढयिनेरइयपं०तेयगसरीरेधि, जइ रयणप्पमापुढयिनेरइयपच्चि

दियतेयगसरीरे किं पञ्चत्तरणप्यमे'त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गोनिकानां मनुष्याणां च यथा प्रागौदारिकशरीरमेव
 उक्तस्या अत्रापि वक्तव्यः, स वैषम्य—'तिरिक्तजोणियपञ्चिदियतेयगसरीरे णं मते ! कश्चिदे पण्णत्ते ?' इत्यादि,
 देयाना यथा वैक्रियशरीरमेव उक्तस्या मणितम्यः, स वैषम्य—'जइ देवपञ्चिदियतेयगसरीरे किं भवणवासिदेवप
 षि०तेयगसरीरे' इत्यादि, यावत्सर्षार्थसिद्धदेवसूत्र । उक्तो मेवः, सम्प्रति सस्थानप्रतिपादनार्थमाह—'तेयगसरीरे
 ण मते ! किंउठिण्ण प० ?' इत्यादि, सुगम, इह जीवप्रदेशानुरोधि तैजस शरीर ततो यदेव तस्यां २ योनाबोदा-
 रिक्तशरीरानुरोधेन वैक्रियशरीरानुरोधेन च जीवप्रदेशानां सस्थान तदेव तैजसशरीरस्यापि इति प्रागुक्तमेकद्वित्रिचतु-
 रिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यगतमौदारिकसस्थान नैरयिकेवेषु वैक्रियसंस्थानमतिदिष्टमिति । गत सस्थानमधुना अव-
 गाहनामानमाह—'जीवस्स ण मते !' इत्यादि, जीवस्व नैरयिकत्वादिविधेषणाविषयायां सामान्यत संसारिणो
 णमिति वाक्यालङ्कारे मारणान्तिकसमुद्घातेन वक्ष्यमाणलक्षणेन समवहत्स्य सतः 'केमहालिया' इति किमहती
 किंप्रमाणमहत्या शरीरावगाहना?, शरीरमौदारिकादिकमप्यस्ति तत आह—'तैजसशरीरस्य, प्रज्ञसा?, मगयानाह-
 शरीरप्रमाणमात्रा विष्कम्मवाहल्येन, विष्कम्मवाहल्यं समाहारो इन्द्रक्षेण, विष्कम्मेन वाह-
 ल्येन चेत्सर्षः, तत्र विष्कम्म उदरविद्विस्वारः वाहल्यसुराःपृष्ठस्युलता भायामो वैर्ष्यं, तत्रायामेन जघन्यतीऽहुल-
 स्वासद्धयेयमाग -अहुलासद्धयेयमागप्रमाणा, इय च एकेन्द्रियसैकेन्द्रियेष्वसासन्नमुत्पद्यमानस्य प्रहृष्या, उत्कर्षतो

लोकान्तात् लोकान्तः, किञ्चुक् भवति ?—अधोलोकान्तादारम्भ यावदूर्ध्वलोकान्तं यावदधो-
 लोकान्तस्तापत्प्रमाण इति, इयं च सूक्ष्मस्य पादरस्य वा एकेन्द्रियस्य वेदितव्या, न श्रेयस्यासम्भवात्, एकेन्द्रिया
 हि सूक्ष्मा पादराश्रयथायोगं समस्तेऽपि लोके वर्धन्ते न श्रेयास्ततो यदा सूक्ष्मो यादरो वा एकेन्द्रियोऽधोलोके
 वर्धमान ऊर्ध्वलोकान्ते धूम्रमतया पादरतया धोत्पुमिच्छति ऊर्ध्वलोकान्ते वा भर्त्तमानः सूक्ष्मो यादरो वा अधो-
 लोकान्ते सूक्ष्मतया पादरतया धोत्पत्स्यते तदा तस्य मारणान्तिकसमुद्घातेन समबद्धतस्य ययोकप्रमाणा तैजस
 शरीरावगाहना भवति, एतेन पृथिव्यसेजोवायुनस्पतिसूत्राण्यपि मायितानि प्रष्टव्यानि, तथाहि—सूक्ष्मपृथिवीकायि
 कोऽधोलोके ऊर्ध्वलोके वा वर्धमानो यदा सूक्ष्मपृथिवीकायितया पादरवायुकायिकतया वा ऊर्ध्वलोके अधो
 लोके वा समुत्पुमिच्छति तदा भवति तस्य मारणान्तिकसमुद्घातेन समबद्धतस्योत्कर्षतो लोकान्तात् लोकान्त
 यावत् तैजसशरीरावगाहना, एषमष्कायिकादिव्यपि भाव्य, द्वीन्द्रियसूत्रे आयामेन जघन्यतोऽहुलासङ्घेयभागप्र-
 माणा यदा अपर्याप्तो द्वीन्द्रियोऽहुलासङ्घेयभागप्रमाणौदारिकशरीरः स्वप्रत्यासन्नप्रदेशे एकेन्द्रियादितयोत्पद्यते तदा
 अयसेया, अपथा यस्मिन् शरीरे स्थितः सन् मारणान्तिकसमुद्घात करोति तस्मात् शरीरात् मारणान्तिकसमुद्घात-
 यन्नात् षड्विधिनिर्गतैजसशरीरस्यायामयिष्कम्भयिस्तारैरयगाहना चिन्त्यते न तत् शरीरसहितस्य, अन्यथा मयनप-
 त्यादेर्यस्यघन्यतोऽहुलासङ्घेयमागत्य वक्ष्यते तद्विरुध्येत, भवनपत्यादिसरीराणां सप्तादिदृशप्रमाणत्वात्, ततो महा-

आयोऽपि द्वीन्द्रियो यदा स्वप्रत्यासन्नबोधे एकेन्द्रियतयोत्पद्यते तदाप्यङ्गुलासङ्घेयमागप्रमाणा वेदितव्या, उत्कर्षत-
 र्पर्यलोकाद्योक्तान्तः, किमुक्त भवति ?-तिर्यग्लोकादधोलोकान्तो ऊर्ध्वलोकान्तो वा यावता भवति तावत्प्रमाणा
 पर्यः, कथमेतावत्प्रमाणेति चेत्, उच्यते, इह द्वीन्द्रिया एकेन्द्रियेष्वप्युत्पद्यन्ते, एकेन्द्रियाश्च सकललोकव्यापिनः,
 ततो यदा तिर्यग्लोकस्थितो द्वीन्द्रिय ऊर्ध्वलोकान्ते अधोलोकान्ते वा एकेन्द्रियतया समुत्पद्यते तदा भवति तस्य
 आरणान्तिकसमुद्घातसमवहसस्य यथोक्तप्रमाणा तैजसश्चरीरावगाहना, तिर्यग्लोकप्रदृष्टं च प्रायस्तेषां तिर्यग्लोक
 स्थानमिति ह्यन्तमन्यथा अधोलोकैकदेशेऽप्यधोलौकिकप्रामादौ ऊर्ध्वलोकैकदेशेऽपि पण्डकवनादौ द्वीन्द्रियः सम्म-
 षीति तदपेक्षयाऽतिरिक्ताऽपि तैजसश्चरीरावगाहना द्रष्टव्या, एव त्रिधत्तुरिन्द्रियसूत्रे अपि साधनीये । नैरयिकसूत्रे
 आयामेन जघन्यतो यत्सातिरेक योजनसहस्रमुक्त तदेव परिमाणनीयम्—इह बलयामुखाद्यव्यवहारः पातालक-
 ष्ठाः लक्षयोजनायगाहा योजनसहस्रपाहृत्यठिष्ठरिक्ता, तेषामधत्त्रिभागो वायुपरिपूर्ण उपरितनस्त्रिभाग उदकपरि-
 पूर्णो मध्यस्त्रिभागो वायूदकयोरुत्तरणापसरथधर्मा, तत्र यदा कश्चित्सीमन्तकादिषु नरकेन्द्रकेषु वर्तमानो नैरयिक-
 तालकलक्षप्रत्यासन्नवर्षी च स्वायुग्धयादुद्गत्य पातालकलक्षकुण्ड योजनसहस्रपाहृत्य मित्वा पातालकलक्षमध्य-
 तीये तृतीये वा त्रिभागे मत्स्यतयोत्पद्यते तदा भवति सातिरेकयोजनसहस्रमाना नैरयिकस्य मारणान्तिकसमु-

दूधातसमवहतस्य जघन्या तैजसश्चरीराषगाहनां, उत्कर्षतो यावदधः सप्तमपृथिवी तिर्यक् यावत्स्थयम्भूरमणससुप्र-
 पर्यन्त ऊर्ध्वं यायत्पण्डकवने पुष्करिण्यस्त्रायद् प्रष्टव्या, किमुक्त मवति ?—अधः सप्तमपृथिव्या आरम्य तिर्यग् यायत्
 स्वप्म्भूरमणपर्यन्त ऊर्ध्वं यायत् पण्डकवनपुष्करिण्यस्त्रायत्प्रमाणा, प्रतायती च तदा लम्ब्यते यदाऽधः सप्तमपृथि-
 वीनारक स्वप्म्भूरमणसुप्रपर्यन्ते मत्सतयोत्पद्यते पण्डकवने पुष्करिणीषु चेति, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्योत्कर्षतस्तिर्य-
 ग्लोकालोकान्तोऽत्रापि मायना द्वीन्द्रियवत्कर्चव्या, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्यैकेन्द्रियेपूत्पादसम्भवात् । मनुष्यस्योत्कर्षतः
 समयक्षेत्रात्, समयप्रधान क्षेत्रं समयक्षेत्रं मयूरव्यसकादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, यस्मिन् अर्द्धतृतीयद्वीपप्रमाणे
 सूर्यादिक्रियान्यस्त्र समयो नाम कालद्रव्यमस्ति तत्समयक्षेत्रं मानुषक्षेत्रमिति भाषस्त्रात्, यावदध ऊर्ध्वं वा
 लोकान्तस्त्रायत्प्रमाणा, मनुष्यस्याप्येकेन्द्रियेपूत्पादसम्भवात्, समयक्षेत्रप्रदृष्ट्यं समयक्षेत्रादन्यत्र मनुष्यजन्मनः सहर-
 गस्य चासम्भयेनातिरिक्त्वाया अयगाहनाया असम्भवात् । असुरकुमारादिस्त्रानितकुमारपर्यवसानमवनपतिव्यन्तरज्यो-
 तिष्कसौधर्मेशानदेवानां जघन्यतोऽद्भुलासङ्क्षेपभागः, कथमिति चेत्, उच्यते, एते केकेन्द्रियेपूत्पद्यन्ते ततो यदा ते

१ गेख्यानं आयामेणं जहमेणं साक्षिरेण गीयणसहस्त्र, कर्त्तुः नरकादुत्स पाण्डकुर्यं भिवेधा मच्छेसु पाण्डाजो वा मच्छस्त्र
 नरगेसु बवणज्जमाणस्त्र, भन्त्ये सु व्यापद्यते नरकाणां योजनसहस्रं, कथं, सीमन्तको नाम नरकः सर्वोपरिवर्ती वज्रमयो योजनसहस्र
 षाण्डस्त्रुच्य इणे योजनसहस्रमवगाह्य तत्र ये नारका मत्स्या मयितुक्त्वासाधे तथासमं सजुद्भावं गतास्त्र सहरं लभते ॥ (भीहरि०दृष्टौ)

स्वाभरणेष्वङ्ग्यादियु क्लृप्तलावियु वा ये मणयः पद्मरागादयस्तेषु गृह्णा मूर्च्छितास्तदप्येषसायिनस्तेष्वेव शरीरस्येष्वाम-
 मरणादियु पृथिवीकायिकत्वेनोत्पद्यन्ते तदा मयति जघन्यतोऽङ्गुलासङ्घेयमागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना, अन्ये
 त्वन्यथाऽत्र मावनिकां कुर्वन्ति, सा च नातिच्छिद्येति न लिखिता न च दूषिता, 'कुमार्गे न हि तित्पद्भुः, पुनस्तमनु-
 धावती'ति न्यायानुसरणात्, उत्कर्षतो यावदधस्तृतीयस्थाः पृथिव्या अघस्त्रनधरमान्त तिर्यक् यावत्स्ययम्भूरमण-
 समुद्रस्य वासो वेदिकान्त कर्णं यावत् ईपत्रागमारा पृथिवी तावत् द्रष्टव्या, कथमिति चेत्, उच्यते, यदा मयन-
 पत्यादिको देवस्तृतीयस्थाः पृथिव्या जघन्यत यावत् कुतश्चित्प्रयोजनवशाद् गतो मयति, तत्र च गतः
 सन् कथमपि स्वायुःक्षयान्मृत्वा तिर्यक् स्वयम्भूरमणसमुद्रवाक्वेदिकान्ते यद्विधा ईपत्रागमाराभिघपृथिवीपर्यन्ते
 पृथिवीकायिकतयोत्पद्यते तदा मयत्युत्कर्षतो ययोक्ता तथा तैजसशरीरावगाहना, सनत्कुमारदेवस्यापि जघन्यतोऽ
 ङ्गुलासङ्घेयमागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना, कथमिति चेत्, उच्यते, इह सनत्कुमारादय परेन्द्रियेषु विकलेन्द्रि-
 येषु वा नोत्पद्यन्ते, तथा मयस्वामान्यात्, किन्तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा, ततो यदा मन्दरादियुक्करिण्यादियु

१ इह तु पूज्याः कस्त्वेव मावार्थं अमिर्णयति ययोपपातयेक्षागतजीवप्रेषापेषया एतदुच्यते, कुवः १, मजेः तदुपपातयेत्रत्य वा तच्छ-
 रित्तिष्कमवाहस्यायोगात्, तत्र सत्र गतोऽपि तत्र सपातमधिकृत्य तदाशुकरः तदा मयति तदाभिकर्मबाहस्यं योपसङ्गल सर्वात्मना तत्र न
 शिष्टो मयतीति, अयं च स्वामरणापद्युत्पद्यमान एव द्रष्टव्य इति ॥ (श्रीहरि० वृत्तो)

जलापगाह कुर्वतां स्वमवायुःश्रवात् तत्रैव स्वप्नसासत्रे वेदेषु मत्सतयोत्पद्यन्ते तदा अहुलासहस्रेयमागप्रमाणा द्रष्टव्या,
अथवा पूर्वसम्बन्धिनी मनुष्यस्त्रिय मनुष्येणोपमुक्तामुपलभ्य गाढानुरागादिशगत्य परिष्वजते परिष्वज्य च तदवा-
प्यप्रवेशे स्वायाम्यं प्रक्षिप्य कालं कृत्वा तस्या एव गर्भे पुरुषधीजे समुत्पद्यते तदा लभ्यते, उत्कर्षतोऽघः पातालक-
लशानां लक्ष्योन्नतप्रमाणाषयाहानां द्वितीयत्रिस्राग यावत् तिर्यग् यावत् स्वयम्भूरमणसमुत्प्रपर्यन्तं ऊर्ध्वं यावदभ्युत्क-
ल्पस्त्रापदवगन्तव्या, कथमिति चेत्, उच्यते, इह सनत्कुमारादिदेवानामन्यदेयनिश्रया अभ्युत्कल्प यावत् गमन
मयति, न च तत्र वाप्यादिषु मत्सादयः सन्ति तत इह तिर्यग्मनुष्येपूत्पद्यन्ते, तत्र यदा सनत्कुमारदेवोऽन्यदेव
निश्रया अभ्युत्कल्प गतो मयति तत्र च गतः सन् स्वायुःश्रवात्कालं कृत्वा तिर्यक् स्वयम्भूरमणपर्यन्ते यदिवाऽघः
पातालकलशानां द्वितीयत्रिस्रागे धारूढकयोक्तसरणापसरणमपिनि मत्सावितयोत्पद्यते तदा मयति तस्य तिर्यग्घो
षा पयोक्कमेण तैजसशरीरावगाहनेति, 'एवं जाय सहस्वारदेवस्व'चि एष—सनत्कुमारदेवगतेन प्रकारेण जघ-
न्यत उत्कर्षतश्च तैजसशरीरायगाहना तापशाण्या यावत्सहस्रारदेयेभ्यः, भावना[ऽपि] सर्वत्रापि समाना, आनतदेव-
सापि जघन्यतोऽहुलासहस्रेयमागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना, नन्वानतादयो देवा मनुष्येभ्योत्पद्यन्ते मनुष्याश्च
मनुष्येषु एयेति कथमहुलासहस्रेयमागप्रमाणा ? उच्यते, इह पूर्वसम्बन्धिनी मनुष्यस्त्रियमन्येन मनुष्येणोपमुक्ता-
मानतदेवः कथनाप्यधिविज्ञानत उपलभ्यासन्नसुप्तया विपरीतसमापत्वात् सस्वचरितवैधिय्यात् कर्मगतेरपिन्त्य-

त्वात् कामवृत्तेर्मलिनत्वाच्च, उक्तं च—“सत्त्वानां धरित चित्र, विचित्रा कर्मणां गति । मलिनत्व च कामाना,
 वृत्तिः पर्यन्तदारुणा ॥ १ ॥” इति, गाढानुरागाविद्यागल्य नकुलोपगृह तां परिव्यज्य तववाप्यप्रदेशे स्वावाप्य
 प्रक्षिप्यातीप मुञ्चित् स्वायुःक्षयात् कालं कृत्या यदा तस्या एव गर्भे मनुष्यबीजे मनुष्यत्वेनोत्पद्यते, मनुष्यबीजं च
 जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वादशं मुहूर्त्तान् यावदवतिष्ठति, उक्तं च—“मणुस्सवीप ण मते ! कालतो केवधिर
 होइ ? गो० । जह० अतो० उकोसेणं वारसं मुहुत्ता” इति, ततो द्वादशमुहूर्त्तांम्यन्तर उपमुक्तां परिव्यज्य मृतस्य
 तत्रैयोत्पत्तिर्मनुष्यत्वेन द्रष्टव्या, उत्कर्षतोऽधो यावदधोलौकिका प्रामास्त्रियं यावन्मनुष्यक्षेत्रं ऊर्ध्वं यावदच्युतः
 कल्पस्त्रापदपसेया, कथमिति चेत्, उच्यते, इह यदाऽऽनतवेद्यः कस्याप्यन्यस्य देवस्य निम्नया अच्युतकल्प गतो
 मयति, स च तत्र गतः सन् कालं कृत्याऽधोलौकिकप्रामेयु यदिवा मनुष्यक्षेत्रपर्यन्ते मनुष्यत्वेनोत्पद्यते तदा
 लभ्यते, एवं प्राणतारणाच्युतकल्पदेयानामपि मावनीय, तथा वाह—“एव जाव आरणदेवस्स, अणुयदेवस्स एवं
 वेप, नयरं उह जाव सयाइ विमाणाइ” इति, अच्युतदेयस्यापि जघन्यतः उत्कर्षतश्च तेजसधरीरावगाहना एवमेव—
 एवप्रमाणैप, परं सूत्रपाठे ‘उहं जाव सयाइ विमाणाइ’ इति वक्तव्यं, नहु ‘उह जाव अणुजो कप्यो’ इति, अणु-
 तदेवो हि यदा चिन्त्यते तदा कथमुर्ध्वं यावदच्युत कल्प इति घटते?, तस्य तत्र विद्यमानत्वात्, केवलमच्युतदे-
 वोऽपि कदाचिर्मुर्ध्वं स्वधिमानपर्यन्तं यावत् गच्छति तत्र च गतः सन् कालमपि करोति तव उक्तम्—‘उह जाव

सयाई विमाणाई' इति, श्रेयैकानुसस्युरा मगवइन्दनादिकमपि तत्रत्या एष कुर्वन्ति तत इहागमनासम्मवात् अहुलासङ्गैयमागप्रमाणता न लभ्यते, किन्तु यदा वेताब्जगतासु विद्याधरश्रेणियपूत्पद्यन्ते तदा स्वस्थानादारम्याधो याषद्विद्याधरश्रेणयस्त्रमाणा जयन्या तैजसधरीरावगाहना, अतोऽपि मन्वे जयन्यतराया असम्मवात्, उल्छदा यापदधोळोकिका ग्रामास्त्वतोऽप्यथ उत्पादासम्मवात्, तिर्यग्यावन्मनुष्यश्रेत्रपर्यन्तस्त्रतः पर तिर्यगप्युत्पादाभावात्, यद्यपि हि विद्याधरा विद्याधर्यस्य नन्दीश्वर यायद् गच्छन्ति अर्याक् सम्मोगमपि कुर्वन्ति तथापि मनुष्यश्रेत्रात् परतो गर्भे मनुष्येषु नोत्पद्यन्ते ततस्तिर्यग्याषत् मनुष्यश्रेत्रमित्युक्त । तवेवशुक्कानि तैजसधरीरस्य विधिसस्थानावगाहनानानानि, सम्प्रति कर्मजस्य वक्ष्म्यानि, कर्मण च तैजससहाविनाभावि तैजसवच जीयप्रवेदानुरोधि सस्थान ततो यथैव तैजसधरीरस्योक्तानि तथैव कर्मणस्यापि वक्ष्म्यानि, तथा चाह—'एष जहेव तेयगसरीरस्य भेवो सठाणमोगाहप्या य भगिता तहेय निरवसेस भाणितव जाव अणुत्तरोववाइय'सि ॥ उक्तानि पञ्चानामपि धरीराणां विधिसस्थानायगाहनानानि, सम्प्रति पुत्रलक्ष्यनमाह—

ओराळियसरीरस्य णं भते ! कतिदिसिं पोगला चिळति !, गो० ! निवावाएणं छदिसिं वाचायं पञ्चस्य सिय तिविसिं सिय षजदिसिं सिय पंचदिसिं, वेवविषयसरीरस्य ण भंते ! कतिदिसिं पोगला चिळति !, गो० ! गियमा छदिसिं, एवं आहारसरीरस्यवि, वेवाकम्मगणं बहा ओराळियसरीरस्य ! ओराळियसरीरस्य णं भंते ! कतिदिसिं पोगला छवचि

अंति १, गो० । एवं षेव बाव कम्मगसरीरस्स, एव उवचिस्सति, अवचिस्सति । जस्स णं मंते ! ओरालियसरीरं तस्स
 पेउवियसरीरं जस्स वेउवियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं १, गो० । जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउवियसरीरं सिय अत्थि
 सिय नत्थि, जस्स वेउवियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स ण मंते ! ओरालियसरीरं तस्स
 आहारगसरीरं जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं १, गो० । जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि
 सिय नत्थि, जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं वियमा अत्थि, जस्स णं मंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयग-
 सरीरं जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं १, गो० । जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं नियमा अत्थि जस्स पुण
 तपगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, एव कम्मगसरीरं १, गो० । जस्स वेउवियसरीरं तस्स आहार-
 गसरीरं जस्स आहारगसरीरं तस्स वेउवियसरीरं १, गो० । जस्स वेउवियसरीरं तस्स आहारगसरीरं तस्स आहार-
 आहारगसरीरं तस्स वेउवियसरीरं णत्थि, तेयाकम्मत्ति जहा ओरालिएण समं तदेव आहारगसरीरेयवि समं तेयाक-
 म्मत्ति चारेयवाणि, जस्स णं मंते ! तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं १, गो० । जस्स
 तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं वियमा अत्थि, जस्सवि कम्मगसरीरं तस्सवि तेयगसरीरं वियमा अत्थि (सूत्रं २७६)

'ओरालियसरीरस्स ण मंते !' इत्यादि, औदारिकशरीरस्स 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे मबन्त ! 'कइधिसि' इति
 अन्वये द्वितीया बहुवचने चैकवचन प्राकृतत्वात्, ततोऽपमर्षः—कठिम्बो विरम्बः समागल्ल पुइहावीयस्ते, कम्म-

कर्त्तर्यय प्रयोगः, सय घयनमागच्छन्तीत्यर्थः, मगवानाह—निर्व्याघातेन—व्याघातस्याभाषो निर्व्याघातमव्ययी-
 मावः 'तेन वा तृतीयाया' इति विकल्पेनाम्बिधानान्नात्राम्भावः 'छद्दिशि'ति पङ्क्त्यो दिग्भ्यः, किमुक्त मयति ?-
 यत्र प्रसनाख्या मध्ये षड्विधा व्यवस्थितसौदारिकशरीरिणो नैकापि दिग् बलोकेन व्याहृता वर्धते तत्र निर्व्या-
 घाते व्यवस्थितस्य नियमात् पङ्क्त्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमन, व्याघात-बलोकेन प्रतिस्खलन प्रतीत्य 'सिय
 तिदिशि'ति स्यात्-कदाचिद्विदिसुभ्यो दिग्भ्यः स्यात् पञ्चम्यः, कथमिति चेत्, उच्यते, सुक्ष्मजीयसौ
 दारिकशरीरिणो यत्रोर्द्ध्वं लोकाकाशं न विद्यते नापि तिर्यक् पूर्षदिशि नापि दक्षिणदिशि तस्मिन् सर्वोर्ध्वप्रतरे आग्ने-
 यकोणरूपे लोकान्ते व्यवस्थितस्याधः पश्चिमोत्तररूपाम्यस्त्रिसुभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलोपचयः श्रेयदिक्रत्रयस्यालोकेन
 व्यासत्प्रात्, पुनः स एव सूक्ष्मजीव औदारिकशरीरी पश्चिमां दिक्षमनुसृत्य तिष्ठति तथा पूर्वदिगस्याधिका जातेति
 घतसुभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमन, यदा पुनरधो द्वितीयादिप्रतरे गतः पश्चिमदिग्मवलम्ब्य तिष्ठति तदा ऊर्ध्व-
 दिगप्यधिका लभ्यते केषला दक्षिणैव दिगलोकेन व्याहृतेति पञ्चम्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमन, वैक्रियशरीरमाहा-
 रकशरीरं च प्रसनाख्या मध्य एव सम्भवति नान्यत्रेति तयोरपि पुद्गलचयो नियमात् पङ्क्त्यो दिग्भ्यः, तैजसकार्मणे
 सर्वससारिणां, ततो यथौदारिकस्य निर्व्याघातेन पङ्क्त्यो दिग्भ्यो व्याघात प्रतीत्य पुनः स्यात् त्रिविग्भ्यः स्याद्यतु-
 दिग्भ्यः स्यात् पञ्चदिग्भ्यः तथा तैजसकार्मणयोरपि प्रष्टव्यः, यथा चयस्रथा उपचययोऽपचयश्च यकल्प्यः, तत्र उप-

घयः—प्राभूत्वेन चय अपघयो—श्रासः शरीरेभ्यः पुद्गलानां विघटनमितियावत् । उक्त पुद्गलघनमिदानीं शरी-
 रसयोगमाह—‘जस्स ण भंते !’ इत्यादि, यस्यौदारिक तस्य वैक्रियं स्यादस्ति स्याद्वास्ति, य औदारिकशरीरी सन्
 वैक्रियलब्धिमान् वैक्रियमारम्य तत्र वर्धते तस्यास्ति श्रेयस्य नास्तीति भावः, यस्य वैक्रियशरीरं तस्यौदारिकशरीरं
 स्यादस्ति स्याद्वास्ति, देवनारकाणां वैक्रियशरीरयत्तामौदारिकशरीरं नास्ति तिर्यग्मनुष्याणां तु वैक्रियशरीरवताम-
 स्तीति भावार्थः, आहारकशरीरेणापि सह चिन्तायां यस्यौदारिकशरीरं तस्याहारकशरीरं स्यादस्ति स्याद्वास्ति,
 य औदारिकशरीरी चतुर्दशपूर्वधर आहारकलब्धिमान् आहारकशरीरमारम्य वर्धते तस्यास्ति श्रेयस्य नास्तीत्यर्थः, यस्य
 पुनराहारकशरीरं तस्यौदारिकशरीरं नियमावस्ति, औदारिकशरीरविरोधे आहारकलब्धेरप्यसम्भवात्, तैजसशरीरेण
 सह चिन्तायां यस्यौदारिकशरीरं तस्य नियमावैजसशरीरं, तैजसशरीरविरोधे औदारिकशरीरासम्भवात्, तैजसशरीरेण
 सैजसशरीरं तस्यौदारिक स्यादस्ति स्याद्वास्ति, देवनैरयिकाणां नास्ति तिर्यग्मनुष्याणामस्तीति भावः, एष कर्मण-
 शरीरेणापि सह चिन्ता कर्षव्या, तैजसकर्मण्योः सहचारित्वात्, सम्प्रति वैक्रियशरीरस्याहारकशरीरादिभिः सह
 संयोगचिन्तां कुर्वन्नाह—‘जस्स ण मते !’ इत्यादि, यस्य वैक्रियशरीरं न तस्याहारकशरीरं यस्याहारकशरीरं न
 तस्य वैक्रियशरीरं, समकालमनयोरेकस्यासम्भवात्, तैजसकर्मणे यपौदारिकशरीरेण सह चिन्तिते तथा वैक्रिय-
 शरीरेणापि सह चिन्तयितव्ये, आहारकशरीरेणापि सह तथैव, तैजसकर्मण्योस्तु परस्परमभिनामावित्वात् यस्य

तैजस तस्य नियमात् कार्मणं यस्य कार्मण तस्य नियमात् तैजसम् । गत सयोगद्वारम्, इदानीं ब्रह्मप्रदेशोभयैरल्प-
 षडुत्त्वमभिधित्सुराह—

एतेसि नं मंते ! ओरालियवेउषियआहारगसेयगकम्मगसरीराणं दबड्डयाए पदेसड्डयाए दबड्डपयसड्डयाते कयरेरहिंते
 अप्पा वा ४ १, गो० ! सबत्थोवा आहारगसरीरा दबड्डयाते वेउषियसरीरा दबड्डयाए असंखेज्जगुप्पा ओरालियसरीरा दब
 ड्डयाते असं० तेयाकम्मगसरीरा दोषि तुष्ठा दबड्डयाते अणत्तगुणा, पदेसड्डयाए सबत्थोवा आहारगसरीरा पदे० वेउषिय
 सरीरा पदे० असं० ओरालियसरीरा पदे० असं० तेयगसरीरा पदे० अणं० कम्मगसरीरा पदे० अणं०, दबड्डपदेसड्डयाते
 सबत्थोवा आहारगसरीरा दबड्डयाते वेउषियसरीरा दबड्डयाए असं० ओरालियसरीरा दबड्डयाए असं० ओरालियसरीरेहिंते
 दबड्डयाएहिंते आहारगसरीरा पदेसड्डयाए अणं० वेउषियसरीरा पदे० असं० ओरालियसरीरा० पदे० असंखेज्जगुप्पा
 तेयाकम्मा दोषि तुष्ठा दबड्डयाए अणं० तेयगसरीरा पदे० अणं० अणं० (सूत्र २७७) एते
 सि नं मंते ! ओरालियवेउषियआहारगसेयगकम्मगसरीराणं बहणियाए ओगाहणाए उकोसियाए ओगाहणाए अहण्यु
 कोसियाए ओगाहणाए कठरेरहिंते अप्पा वा ४ १, गो० ! सबत्थोवा ओरालियसरीरस्स बहणिया ओगाहणा, तेया
 कम्मगणं दोण्हवि तुष्ठा बहणिया ओगाहणा विसे० वेउषियसरीर स्स बहणिया ओगाहणा असं० आहारगसरीरस्स
 बहणिया ओगाहणा असं०, उकोसियाए ओगाहणाए सबत्थोवा आहारगसरीरस्स उकोसिया ओगाहणा ओरालियस

रीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखे० वेडबियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखि० तेयाकम्मगाणं दोषि तुछा उक्कोसिया ओगाहणा असं०, सहाणुक्कोसियाते ओगाहणाते सवत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहणिया ओगाहणा तेयाकम्मणां दोण्हवि तुछा जहणिया ओगाहणा विसे० वेडबियसरीरस्स जहणिया ओगा० असं० आहारगसरीरस्स जहणियाहिंतो ओगाहणाहिंतो तस्स धेव उक्कोसिया ओगा० विसे० ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगा० संखे० वेडबियसरीरस्स ण उक्कोसिया ओगाहणा संखि० तेयाकम्मगाणं दोण्हवि तुछा उक्कोसिया ओगाहणा असंखिज्जगुणा ॥ (सूत्रं २७८) पण्णव णाए भगवार्हए एगवीसइमं पयं समघं ॥ २१ ॥

‘एएसि ण मते !’ इत्यादि, सर्वस्वोकान्वाहारकद्वीराणि द्रव्यार्थतया, द्वीरमात्रद्रव्यसङ्घया इत्यर्थः, उत्कृष्टपदेऽपि तेषां सहस्रपृथक्त्वस्य प्राप्यमाणत्वात्, ‘उक्कोसेण ए सुगथ पुहुत्तमेत्तं सहस्साण’मिति वचनात् [उत्कृष्टेन सुगपत् सहसाणा पृथक्त्वमात्र] तेभ्योऽपि वैक्रियद्वीराणि द्रव्यार्थतया असङ्घेयगुणानि, सर्वेषां नैरयिकाणां सर्वेषां च देवानां कतिपर्यतिर्यक्पक्षेन्द्रियमनुष्यबादरायुकायिकानां च वैक्रियद्वीरसम्भवात्, तेभ्योऽप्यौदारिकद्वीराणि द्रव्यार्थतया असङ्घेयगुणानि, पृथिव्यसेजोवायुवनस्यतिद्वित्रिषट्पुरिन्द्रियतिर्यक्पक्षेन्द्रियमनुष्याणामौदारिकद्वीरमावात्, पृथिव्यसेजोवायुवनस्यतिद्वीराणां च प्रसेकमसङ्घेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि तेजसकर्मणद्वीराणि द्रव्यार्थतयाऽनन्तगुणानीति, सूक्ष्मबाहुरनिगोद्वीवानामनन्तान्तानां प्रसेकैकैजसकर्मणद्वीरभावात्,

स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यानि, परस्परायिनामाभित्वादेकस्थामाप्येऽप्यस्वाप्यभाषात्, प्रवेशार्थचिन्ताया सर्वस्त्रीकाम्या-
 द्वारकञ्चरीराणि सहस्रशृपफत्वमात्रशरीरप्रवेशानामन्यत्वात्, तेभ्योऽपि वैक्रियञ्चरीराणि प्रदेशापतया असङ्ख्येयगु-
 णानि, इह यद्यपि वैक्रियशरीरयोग्यवर्गणाम्प आहारकञ्चरीरवर्गणाः परमाण्वपेक्षया अनन्तगुणास्त्रयापि स्त्रीकामि-
 र्गणाभिराहारकञ्चरीरं निष्पद्यते इक्षमात्रत्यादतिप्रभूताभिर्वैक्रियञ्चरीरवर्गणामिर्वैक्रिय उत्कर्षतः सातिरेकलक्षयो
 जनप्रमाणत्वात् अतिस्त्रीकानि चाहारकञ्चरीराणि सहस्रशृपफत्वेन प्राप्यमाणत्वात् अतिप्रभूतानि वैक्रियञ्चरीराणि
 असङ्ख्येयमेणिगताकाञ्चप्रदेशराट्टिप्रमाणत्वात् तत्र उपपद्यन्ते आहारकञ्चरीरेभ्यः प्रवेशार्थतया वैक्रियञ्चरीराण्यसङ्ख्ये-
 यगुणानि, तेभ्योऽप्यौदारिकञ्चरीराणि प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणानि, असङ्ख्येयलोकाकाञ्चप्रदेशप्रमाणतया तेषां
 छम्यमानत्वेन तत्रप्रदेशानामतिप्रभूतानां सम्मषात्, तेभ्योऽपि तैजसञ्चरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, द्रव्या-
 धैतयाऽपि तेभ्यस्त्रेपामनन्तगुणत्वात्, तेभ्योऽपि कार्मणञ्चरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, तैजसवर्गणाम्भ्यः
 कार्मण्यवर्गणानां परमाण्वपेक्षयाऽनन्तगुणत्वात्, द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तार्था 'सषट्थोया आहारगञ्चरीरा दषट्ठयाए
 धेउषिमसरीरा दषट्ठयाए असेखेज्वगुणा ओराल्मिसरीरा दष० अस०' इत्यत्र भाषना प्रागुकाऽनुसर्चन्त्या, तेभ्यो
 प्रन्मार्थतयौदारिकञ्चरीरेभ्य आहारकञ्चरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि, औदारिकञ्चरीराणि सर्वसङ्ख्याऽप्यसङ्ख्ये-
 यलोकाकाञ्चप्रदेशप्रमाणानि, आहारकञ्चरीरयोग्यवर्गणाया त्वैकैकस्थामप्यभन्येभ्योऽनन्तगुणाः परमाण्व इति, तेभ्यो

ऽपि वैक्रियशरीराणि प्रदेवार्थतया असङ्ख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि प्रदेवार्थतया असङ्ख्येयगुणानि, अत्र मावना प्रागेव कृता, तेभ्योऽपि तैजसकार्मणानि त्रिव्यार्थतया अनन्तगुणानि अतिप्रभूतानन्तसङ्ख्योपेतत्वात्, तेभ्योऽपि तैजसशरीराणि प्रदेवार्थतयाऽनन्तगुणानि, अनन्तपरमाण्वात्मिकाभिरनन्ताभिर्(बैर्गण्यभि)रैकैकस्य तैजसशरीरस्य निष्पाद्यत्वात्, तेभ्योऽपि कार्मणशरीराणि प्रदेवार्थतयाऽनन्तगुणानि, अत्र कारणं प्रागेवोक्तं । तदेव पञ्चानामपि शरीराणां त्र्यप्रदेवोभयैरत्यधुत्वमुक्तम्, इदानीं अधन्योत्कृष्टोभयावगाहनाविषयमल्पपुत्वमाह—
 'पपसि ण'मित्यादि, सर्वस्वोका औदारिकशरीरस्य जघन्यावगाहना, बहुलासङ्ख्येयभागमात्रमाणत्वात्, तैजसकार्मणयोर्जघन्यावगाहना द्वयोरपि परस्परं तुल्या, औदारिकजघन्यावगाहनातो विश्लेषाधिका, कथमिति चेत्, उच्यते, इह मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्य पूर्वशरीरात् यद्वद्विधिनिर्गत तैजसशरीर तस्यायामबाहल्यविकारैरवगाहना विन्त्यते इत्युक्तं द्राक्, तत्र यस्मिन् प्रवेशे उत्पत्सन्ते सोऽपि प्रवेशे औदारिकशरीरावगाहनाप्रमितोऽधुलासङ्ख्येयभागप्रमाणो व्याप्तो यदप्यपान्तरालमतिक्रोकं तदपि व्याप्तमित्यौदारिकजघन्यावगाहनातो विश्लेषाधिका, ततोऽपि वैक्रियशरीरस्य जघन्यावगाहना असङ्ख्येयगुणा, बहुलासङ्ख्येयभागस्यासङ्ख्येयमेव भिद्यत्वात्, ततोऽप्याहारकशरीरस्य जघन्यावगाहनाऽसङ्ख्येयगुणा, वेदोनेहसप्रमाणत्वात्, उत्कृष्टावगाहनाधित्वात् सर्वस्वोका आहारकशरीरस्योत्कृष्टाऽवगाहना, ह्रस्वमात्रत्वात्, ततोऽप्यौदारिकशरीरस्य उत्कृष्टावगाहना सङ्ख्येयगुणा, सातिरे-

कयोजनसहस्रप्रमाणत्वात्, ततोऽपि वैक्रियशरीरस्रोत्कृष्टावगाहना सञ्ज्ञेयगुणा, सातिरेकयोजनलक्षमानत्वात्, तैज-
 सकर्मणयोः कृष्टावगाहना द्वयोरपि परस्पर तुस्या वैक्रियशरीरोत्कृष्टावगाहनातोऽसञ्ज्ञेयगुणा, षतुर्वैश्वरज्वात्मक-
 त्वात्, जघन्योत्कृष्टावगाहनचिन्तायां आहारकशरीरस्य 'जहगिण्यादितो ओगाहणार्हितो तस्य धेव उक्कोसिया
 भोगाहणा विसेसादिया' इति, वेद्येन समधिकत्वात्, क्षेप सुगमं, अनन्तरमेव भाषितत्वात् ॥ इति श्रीमलयगिरि-
 विरचितायां प्रज्ञापनाटीकायामेकविंशतितमवगाहनासस्थानपद समर्पितम् ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशतितमं क्रियास्थं पदं ॥ २२ ॥

तदेव व्याख्यातमेकविंशतितम पद, अधुना द्वाविंशतितममारभ्यते, तस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरपदे गति-
 परिणामनिधेरूप शरीरावगाहनावि चिन्तितं, इह तु नारकादिगतिपरिणामेन परिणतानां जीधानां प्राणातिपाता-
 दिरूपाः क्रियाविशेषाभिन्त्यन्ते, तत्रेदमादिसूत्रम्—

'कति णं मते ! फिरियाओ पण्णचाओ ?, गो० ! पंच फिरियाओ पण्णचाओ, तं०—काइया ? अदिगरणिया २ पादो
 सिया २ पारियावणिया ४ पाणाइवायकिरिया, काइया णं मते ! फिरिया कतिविहा पं० ?, गो० ! दुविहा पं०, सं०—

अशुभयकाश्या य दुष्पदवकाश्या य, अदिगरभिया ण मंते ! किरिया क्खविहा पं० !, गो० ! दुविहा पं०, तं०—
संज्ञोयणादिकरगिया य निश्चषणाधिगरगिया य, यादोस्विया णं मंते ! किरिया क्खविहा पं० !, गो० ! विविहा पं०,
तं०—जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुमयस्स वा अमुम मणं संपघारेवि, सेचं यादोस्विया किरिया, पारियावणिया णं
मंते ! किरिया क्खविहा पं० !, गो० ! विवि० पं०, तं०—जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुमयस्स वा अस्सायं वेदण
उदीरेवि, सेचं पारियावणिया किरिया, पाणातिवायकिरिया णं मंते ! क्खविहा पं० !, गो० ! ति० पं०, तं०—जेणं
अप्पणं वा परं वा तदुमयं वा वीवियाओ ववरोवेइ, से तं पाणाइवायकिरिया (सूत्र २७९)

‘कइ ण मंते ! किरियाओ पं०’ इत्यादि, करुणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धनचेष्टा इत्यर्थः, सा पञ्चधा, तद्यथा—
‘काश्या’ इत्यादि, धीयते इति कायः—शरीरं, काये मया कायेन निर्धृत्वा वा कायिकी १, तथा अधिक्रियते—
स्याप्यते नरकादिप्लवात्माऽनेनेति अधिकरण—अनुष्ठानयिज्ञेपो वाच या यस्तु चक्रवर्त्तुदि तत्र मया तेन वा निर्धृ
त्वा आधिकरुणिकी, ‘यादस्विया’ इति प्रद्वेपो—मत्सरः कर्मबन्धवहेतुःकुत्रलो जीवपरिणामयिज्ञेप इत्यर्थः तत्र मया
तेन वा निर्धृत्वा स एव वा प्राद्वेपिकी ३, ‘पारियावणिया’ इति परितापनं परितापः पीडाकरुणमित्यर्थः तस्मिन्
मया तेन वा निर्धृत्वा परितापनमेव वा परितापनिकी ४, ‘याणाइवायकिरिया’ इति प्राणा—इन्द्रियादयस्तेषामति-
पातो—यिनाद्यल्लक्षिपया प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया, तत्र कायिकी द्विमेवा, तद्यथा—अनुप

रतकायिकी दुःप्रयुक्तकायिकी च, उपरतो-देशतः सर्वतो वा सावधयोगाद्विरतः नोपरतोऽनुपरतः कुतश्चिदप्यनि-
 प्त इत्यर्थः तस्य कायिकी अनुपरतकायिकी क्रियेति वर्धते, इय प्रतिप्राणिनि वर्धते, इयमविरतस्य वेदितव्या, न
 देशविरतस्य सर्वविरतस्य वा, तथा बुद्धं प्रयुक्त-प्रयोगः कायादीनां यस्य स दुःप्रयुक्तस्य कायिकी दुःप्रयुक्तका-
 यिकी, इय प्रमत्तसंयतस्यापि भवति, प्रमत्ते सति कायदुःप्रयोगसम्भवात् । आधिकरणिक्यपि द्विभेदा, तद्यथा-
 सयोजनाधिकरणिकी निर्वर्तनाधिकरणिकी च, तत्र सयोजन-पूर्वनिर्वर्तितानां हलगरविपङ्कटयश्चाद्यज्ञानां मीलन
 तदेव सप्सारदेशुत्यादाधिकरणिकी सयोजनाधिकरणिकी, इय इलायज्ञानि पूर्वनिर्वर्तितानि संयोजयितुर्भवति, तथा
 निर्वर्तन-असिगच्छिकुन्ततोमरादीनां मूलतो निव्यादन तदेवाधिकरणिकी निर्वर्तनाधिकरणिकी, पञ्चविधस्य वा
 न्नीरस्य निव्यादन निर्वर्तनाधिकरणिकी, देहस्यापि दुःप्रयुक्तस्य संसारदृष्टिरेतुत्यात् । प्राद्वेषिकी त्रिभेदा, तद्यथा-
 'जेण अप्पणो' इत्यादि, येन प्रकारेण जीवा आत्मनो वा-सस्य वा अन्यस्य वा-आत्मव्यतिरिक्तस्य उपसस्य वा-
 स्वपरलक्षणस्योपरि अशुभ-अकुशल मनः-अन्तःकरण प्रघारयति-प्रकर्षेण घारयति फरोतीत्यर्थः तेन कारणेन
 विषयस्य त्रैविध्यात् त्रिविधा प्राद्वेषिकी क्रिया, तथाहि-कथित्व कस्मिन् प्रयोजने स्वयमनुष्ठिते पर्यन्ते विपाकदा
 रुणे सद्यत्ते सति भवियेकादात्मन एवोपरि अकुशल मनः सम्प्रधारयति, एव कथित्व परस्य, कथित्व स्वपरयोरपीति ।
 पारितापनिक्यपि त्रिविधा, तद्यथा-'जेण अप्पणो' इत्यादि, येन प्रकारेण कथित्व कुतश्चित् हेतोरविवेकत आत्मन

प्रयासार्ता—दुःखरूपां वेदनामुत्पादयति, कश्चित्पुरुषस्य कश्चिदुभयस्य, ततः स्वपरतदुभयमेवात् भवति त्रिविधा
 पारितापनिकी क्रिया, आह—एवं सति लोषाकरणतपोऽनुष्ठानाकरणप्रसङ्गः, यथायोग स्वपरोमयासातवेदनाहेतुत्वात्
 तदयुक्तं, यिपाकहितत्वेन चिकित्साकरणवत् लोषकरणादेरसातवेदनाहेतुत्वायोगात् अशक्यतपोऽनुष्ठानप्रतिपेधाच्च
 उक्तं च—“सो ऽनु तवो कायधो जेण मणो मगुळ न चित्ते । जेण न इदियहाणी जेण च जोगा न हायति ॥ १ ॥”
 । तदेव तपः कर्त्तव्यं येन मनोऽधोमनं न चिन्तयति । येन नेन्द्रियहानिर्येन च योगा न हीयन्ते ॥ १ ॥] तथा—
 । “कायो न केवलमय परिपालनीयो, सृष्टे रसैर्बहुविधैर्न च खालनीयः । चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति ययोत्ययेषु, वद्या
 नि येन च तथाऽऽचरितं जिनानाम् ॥ १ ॥” इति, प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा, तद्यथा—‘जेण अप्यणो
 इत्यादि, येन प्रकारेण कश्चिद्विवेकी भैरवप्रपाताविनाऽऽत्मान जीविताद् व्यपरोपयति कश्चित् प्रहेपाधिना पर कश्चि
 दुभयमपीत्यतः प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा, अत एव कारणान्मगधन्निरकालमरम्यमपि प्रतिपिद्ध, प्राणातिपात
 क्रियादोषसम्भवात् । तदेवमुक्ताः क्रियाः, सम्प्रत्येताः किमविज्ञेयेण सर्वेषां जीवानां सन्ति किं वा नेति जिज्ञा
 सुरिदमाह—

जीवा नं मति ! किं सक्रिया अक्रिया ? गो० । जीवा सक्रियाणि अक्रियाणि, से केणट्टेणं मति ! एवं धु०—जीवा
 सक्रियाणि अक्रियाणि ? गो० । जीवा बुविहा पं०, तं०—संसारसमावण्णगा य अंसंसारसमावण्णगा च, तत्प नं

जे ते असंसारसमाषणगा ते नं सिद्धा, सिद्धा नं अकिरिया, तस्य नं जे ते संसारसमाषणगा ते दुषिद्धा पं०, तं०—
 सेलेसिपदिवष्यगा य असंसेलेसिपदिव०, तस्य नं अ ते सेलेसिप० ते नं अकिरिया, तस्य नं जे ते असंसेलेसिपदिव० ते नं
 सकिरिया, से तेनद्वेषं गो० । एवं बु०—जीवा सकिरियावि अकिरियावि । अत्ति न मते ! जीवाणं पाप्माइवाएणं
 फिरिया कळति !, इत्ता ! गो० । अत्ति, कम्मि नं मते ! जीवाणं पाप्मात्तिवाएणं फिरिया कळति !, गो० ! छसु जीव
 निकायसु, अत्ति न मते ! नेरइयाणं पाणाइवाएणं फिरिया कळति !, गो० ! एवं वेध, एवं आव निरंतरं वेमाणियाणं,
 अत्ति नं मते ! जीवाणं मुसावाएणं फिरिया कळति !, इत्ता ! अत्ति, कम्मि नं मते ! जीवाणं मुसावाएणं फिरिया
 कळति !, गो० ! सवदबेसु, एवं निरंतरं नेरइयाणं आव वेमाणियाणं, अत्ति नं मते ! जीवाणं अदिआदाणेणं फिरिया
 कळति !, इत्ता अत्ति, कम्मि नं मते ! जीवाणं अदिआदाणेणं फिरिया कळति !, गो० ! गहषधारणिलेसु दबेसु, एव
 नेरइयाणं निरंतरं आव वेमाणियाणं, अत्ति नं मते ! जीवाणं मेहुणेणं फिरिया कळति !, इत्ता अत्ति, कम्मि नं मते !
 जीवाणं मेहुणेणं फिरिया कळति !, गो० ! हवेसु वा हवयइगतेसु वा दबेसु, एवं नेर० निर० आव वेमाणियाणं, अत्ति
 नं मते ! जीवाणं परिगहेणं फिरिया कळति !, इत्ता अत्ति, कम्मि नं मते ! परिगहेणं फिरि० !, गो० ! सवदबेसु, एवं
 नेर० आव वेमाणियाण, एव कोहेषं माणेण मायाए लोभेण पेक्षेण दोसेषं कलहेषं कम्मवत्ताणेणं पेसुक्षेण परपरिवाएणं
 अरतिरसीवे मायामोसेअ मिच्छादंसपसहेणं, सवेसु जीवा नेरइयमेदेणं माणित्ता, निरंतरं आव वेमाणियाणंति, एवं अद्दा
 रस एवे दंढगा ?८ (द्य २८०)

'जीवा ण भते !' इत्यादि सुगम, नपरं 'ससारसमावणगा' इति ससार—चतुर्गतिभ्रमणरूप सम्यग्—एकीमा
 येनापन्नाः ससारसमापन्नाः ससारसमापन्ना एव संसारसमापन्नाः; प्राकृतत्वात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तद्विपरीता अस
 सारसमापन्नाः, चण्णदौ स्वगतानेकमेदसूचकौ, तत्र ये अससारसमापन्नकास्ते सिद्धाः, सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभाव-
 तोऽक्रिया, ये तु ससारसमापन्नकास्ते द्विविधाः—शैलेष्ठीप्रतिपन्नकाश्च, शैलेष्ठी नामायोग्यवस्था
 र्ता प्रतिपन्नाः शैलेष्ठीप्रतिपन्नाः, ततः पूर्वथत् स्वार्थिकः कप्रत्ययः, शैलेष्ठीप्रतिपन्नकाः, तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेष्ठीप्र
 तिपन्नकाः, तत्र ये शैलेष्ठीप्रतिपन्नकास्ते सूक्ष्मादरकायवाच्यनोयोगनिरोधादक्रियाः, ये त्वशैलेष्ठीप्रतिपन्नकास्ते
 सयोगित्वात् सक्रिया, 'से एण्णट्टेण'मित्याद्युपसहारवाक्ये । तदेव ये सक्रिया ये चाक्रियास्ते उक्ताः, सम्प्रति यथा
 प्राणातिपातक्रिया न भवति तथा दर्शयति—'अत्थि ण भते !' इत्यादि, अस्त्येत्, णमिति षाक्यालङ्कारे, भवन्त !
 जीवानां प्राणातिपातेन—प्राणातिपाताध्यवसायेन क्रिया सामर्थ्यात् प्राणातिपातक्रिया क्रियते ?, कर्मकर्त्तव्य
 प्रयोगो, भवतीत्यर्थः, अनतीतनयाभिप्रायात्मकोऽयं प्रश्नः, कतमोऽत्र नयो यमध्यवसायपृष्टमिति चेत्, उच्यते, ऋजु-
 सूत्रस्यैव—ऋजुसूत्रस्य हिंसापरिणतिकाल एव प्राणातिपातक्रियोच्यते, पुण्यवापकर्मोपादानानुपादानयोराध्यवसा-
 यानुरोपित्यात्, न अन्यथा परिणतविति, भगवानपि तं ऋजुसूत्रनयमधिकृत्य प्रत्युत्तरमाह—'इता ! अत्थि'
 इत्सेति प्रेषणप्रत्ययधारणविपादेऽपि, अत्र प्रत्ययधारणे, अस्त्येत्प्राणातिपाताध्यवसायेन प्राणातिपातक्रिया भवति,

'परिणामिय पमाण निच्छयमवलवमाणान्' [पारिणामिक प्रमाण निक्षयमवलम्बयतां] भित्तायागमपचनस्य
 स्थितत्वाद्, अनुमेय पचनमभिकृत्याऽऽशयकेऽपीदं सूत्रं प्रावर्त्सितं—'आया चेव अहिंसा आया हिंसचि निच्छओ
 एष' इति, तदेव यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथोक्तम्, सम्प्रति कस्मिन् विषये सा प्राणातिपातक्रिया भव
 तीत्येतन्निरूपयति—'कस्मिन् न मते' इत्यादि सुगमम्, नपरं मारणाध्यवसायो जीवविषयो भवति नाजीवविषयो,
 योऽपि रज्ज्वादौ सर्पादिषुब्धा मारणाध्यवसायः सोऽपि सर्वोऽयमिति धुब्धा प्रवर्त्तमानत्वात् जीवविषये एव, न खलु
 रज्ज्वादौ रज्ज्वादितया परिच्छिन्ने कश्चिच्चिपय मारणाध्यवसाय विदधाति, ततः प्राणातिपातक्रिया पदसु जीवनि-
 कायंपूक्षा, एतामेव प्राणातिपातक्रियामुक्तप्रकारेण नैरयिकादिकं चतुर्विधतिदण्डकमधिकृत्य चिन्तयति—'अतिय
 न मते' इत्यादि, नवरमेव सूत्रपाठः 'अतिय न मते ! नेरइयाण पाणाइयाएण किरिया कच्चइ ? , इता अतिय,
 कस्मिन् न मते ! पाणाइयाएणं किरिया कच्चइ ? , गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु', एव तावद् वाच्यं यावद्देभानिकयि-
 पयं सूत्रं । तदेव यथा प्राणातिपातक्रिया भवति यद्विषया च तत्प्रतिपादित, सम्प्रति एवमेव सूपावादादिविषया-
 ण्यपि सूत्राण्याह—'अतिय न मते ! मुसावाएण'भित्तादि सुगम, नपर 'किरिया कच्चइ' इति यथायोगं प्राणाति-
 पातादिक्रिया भवतीत्यर्थः, तथा सतोऽपलापोऽसतश्च प्ररूपण सूपावादः, स च लोकालोकागतसमस्तपसुविषयो-
 ऽपि घटते, तत उक्तं सूपावादसूत्रम्—'सधदवेसु' इति, द्रम्यग्रहणमुपलक्षणं तेन पर्यायेष्वपीत्यपि द्रष्टव्यं, तथा

यद्बलु प्रधीतु धारयितु वा शक्यते तद्विषयमादान भवति न त्रेपविषयमतोऽवत्तादानसूत्रे 'गृहणधारिषिज्वेसु द्वेषेसु
इत्युक्तम्, मैयुनाच्यपसायोऽपि चित्रलेपकाष्ठादिकर्मगतेषु रूपेषु रूपसहगतेषु वा—स्यादिषु ततो मैयुनसूत्रे उक्त-
म्—'रूवेसु वा रूपसहगपसु वा' इति, तथा परिग्रहः—स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा, सा च प्राणिनामतिलोमात्सकलष-
त्रुविषयाऽपि प्रादुर्भवति ततः परिग्रहसूत्रे उक्तम्—'सषदेषु' इति, अत एवान्यत्रापि प्रथमत्रत सर्वजीवविषय-
मुक्त द्वितीयचरमे सर्वषत्रुविषये तृतीयचतुर्थे तदेकदेशविषये इति, उक्तं च—'पठमस्मि सषजीवा धीष् चरिमे य-
सषदषाद् । सेसा महषया खलु तदेकदेशस्मि नायथा ॥ १ ॥' क्रोधादयः सुप्रतीता, नवर कलहो—राटिः, अस्या-
र्यान—मसहोपारोपण यथा—अधोरेऽपि चौरस्त्वमपारदारिकेऽपि पारदारिकस्त्वमित्यादि, इदं नृपाषादेऽप्यन्त-
र्गत परमुत्कृष्टोऽय दोष इति पृथगुपाच, वैशून्य—परोधे सतोऽसतो वा दोषस्योद्घाटन, परपरिवादः प्रभूतजन-
समद्य परदोषपिकृत्यन, अरतिरती प्रतीते, इदमेक समुचित पापस्थान, 'मायामोक्षेण'मिति माया च नृपा च समा-
हारो द्व-द्वः, द्वैकृत्वे नमुसकत्वमिति 'क्षीणे' इति इस्त्व तेन इह समुदायो विषयितो, महाकर्मबन्धोद्बुधेति
नृपावादमायाम्या पृथगुपाच, 'मिच्छादसणसंक्षेण'ति मिष्यादर्शन—मिष्यात्व तदेव शून्य मिष्यादर्शनञ्च तेन,
'अद्वारस एष दृढगा' इति एतेऽन्तरोदितपदोच्छेदोपदर्शिताः सर्वसङ्ख्याऽष्टादश दण्डका भवन्ति । प्राणातिपाता-
दीनां पापस्थानानामष्टादशत्वात्तदेषमष्टादशपापस्थानाम्यधिकस जीवानां क्लिया विषयबन्धोपपत्तिः साम्प्रतं साम्प्र-

वाचिकृत्य जीवानामेकपृथक्त्वाम्यां कर्मबन्धत्यमुपविदन्त्रियपुराह—

जीवे णं मते ! पाणातिवाएणं कति कम्मपगढीओ बधति ?, गो० ! सचविहबंधए वा, एवं नेरइए जाप निरंतरं वेमाप्थिते, बीवा णं मते ! पाणातिवाएणं कति कम्मपगढीओ बंधंति ?, गो० ! सवेवि वाप होज्जा सपविहबंधगा अहवा गाथि, नेरइया णं मते ! पाणातिवाएणं कइ कम्मपगढीओ बंधंति ?, गो० ! सवेवि वाप होज्जा सपविहबंधगा अहवा सचविहबंधगा य अहविहबंधए य अहवा सचविहबंधगा य अहविहबंधगा य, एवं असुरकुमारावि जाप यणियकुमारा पुढविआउतेउवाउवणफ्फकाइय य, एए सवेवि अहा ओहिया बीवा, अवसेसा अहा नेरइया, एवं ते जीवेगिदियज्जा तिण्णि तिण्णि मंगा सवत्य माणियबधि, जाप मिच्छादंसणसद्धे, एवं एगघपोहधिया छचीसं दंढगा होति । (सुत्रं २८१)

जीवे णं मते ! पाणावरणिअ कम्मं बंधमाने कति फिरिए ?, गो० ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए, एवं नेरइए जाप वेमाप्थिए, जीवा ण मते ! पाणावरणिअ पधमाणा कतिकिरिया० ?, गो० ! सिय तिकिरिया सिय षठ किरिया सिय पंचकिरियावि, एवं नेरइया निरंतरं जाव वेमाणिया, एवं दरिसणावरणीयं वेदप्पिअ मोहप्पिअ जाठयं नाम गोचं अंतराण्यं च अहविहकम्मपगढीतो माणित्वाओ, एगघपोहधिया सोलस दंढया मवन्ति, जीवे णं मते ! जीवातो कतिकिरिए ?, गो० ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए, जीवे णं मते ! नेरइयाओ कतिकिरिए ?, गो० ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए, एवं जाप यणियकुमाराओ, पुढविकाइयातो आउफ्फाइयातो वेउफ्फाइयातो वाउफ्फाइयवणफ्फकाइयवेइदियचउरिरेदियचउरिरेदिमपधिदियतिरिचउजोणियमणुस्तातो जहा

जीवातो, वागभतरजोदसिपवेमाथियातो बहा नेरइयातो, जीवेणं मंते ! जीवेहिंतो कतिकिरिए ?, गो ! सिय तिकिरिए
 सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए, जीवेणं मंते ! नेरइएहिंतो कतिकिरिए ?, गो० ! सिय तिकिरिए
 सिय चउकिरिए सिय अकिरिए, एवं जेव पहमो दंढतो तहा एसो भित्तो मागित्तो जाव वेमाणियत्ति, जीवाणं
 मंते ! जीवातो कतिकिरिया ?, गो० ! सिय तिकिरियात्ति सिय चउकिरियात्ति सिय पंचकिरियात्ति सिय
 अकिरियात्ति, जीवाणं मंते ! नेरइयातो फसि किरिया ?, गो० ! जेव आदिद्धदंढतो तहेव भाणित्तो, जाव वेमा
 णियत्ति, जीवाणं मंते ! जीवेहिंतो कतिकिरिया ?, गो० ! तिकिरियात्ति चउकिरियात्ति पंचकिरियात्ति अकिरियात्ति,
 जीवाणं मंते ! नेरइएहिंतो कतिकिरिया ?, गो० ! तिकिरिया चउकिरिया अकिरिया, असुरकुमारोहिंतोवि एवं वेव
 जाव येमाणिवेहिंतो, ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो ! नेरइए णं मंते ! जीवातो कतिकिरिए ?, गो० ! सिय तिकि-
 रिए सिय चउकिरिए सिय पंच०, नेरइए णं मंते ! नेरइयातो कतिकिरिए ?, गो० ! सिय तिकिरिए सिय च०, एवं
 जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं नेरइएस्स नेरइएहिंतो देवेहिंतो य पंचमा किरिया नत्थि, नेरइया णं मंते ! जीवातो कतिकि-
 रिया ?, गो० ! सिय तिकि० सिय चउकि० सिय पंचकि०, एवं जाव वेमाणियातो, नवरं नेरइयाओ देवाओ य पंचमा
 किरिया नत्थि, नेरइया णं मंते ! जीवेहिंतो कतिकिरिया ?, गो० ! तिकिरियात्ति चउकि० पंचकि०, नेरइया णं मंते !
 नेरइएहिंतो कतिकिरिया ?, गो० ! तिकि० चउकि०, एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिं,
 असुरकुमारो णं मंते ! जीवातो कतिकिरिए ?, गो० ! जेव नेरइए चत्तारि दंढगा तहेव असुरकुमारोत्ति चत्तारि दंढगा

माणित्वा, एव च त्वउल्लिख्ये मावेयवति, जीवे मष्टसे य अकिरिए वृषति सेसा अकिरिया न वृषति, सप्तधीवा ओरा
 लिपसरीरेहितो पंचकिरिया नेरइय देवेहितो पंचकिरिया ण वृषति, एव एकेकजीवपदे चचारि २ दडगा माणित्वा, एव
 एव दडगसयं सवेयि च जीवावीया दडगा (सूत्रं २८१)

‘जीये ण मते !’ इत्यादि सुगम, नवर सप्तविधवधकत्व आयुर्वधकाले आयुर्वधकाले षाष्टविधमन्धकत्व,
 पृथक्त्वचिन्ताया सामायतो जीयपदे सप्तविधवधका अपि अष्टविधवधका अपि सदैव धदुत्वेन लभ्यन्ते तत उम-
 यत्रापि षडुयधनमित्येवरूप एक एव मङ्गः, नैरयिकसूत्रे सप्तविधवधका अयस्यता एव, हिंसापरिणामपरिणतानां
 सदैव षडुत्वेन लभ्यमानानां सप्तविधवधकत्वस्यायश्चमाधित्वात्, ततो वदा एकोऽप्यष्टविधवधको न लभ्यते
 तदैव मङ्गः सर्वेऽपि तावद्भेदयुः सप्तविधवधका इति, यदा पुनरेकोऽष्टविधवधक श्रेयाः सर्वे सप्तविधवधका-
 सादा द्वितीयो मङ्गः सप्तविधवधकाश्च अष्टविधवधका अपि षडुवो लभ्यन्ते तदा उमय-
 गतषडुयधनरूपस्तृतीयो मङ्गः सप्तविधवधकाश्च अष्टविधवधकाश्च, एव मङ्गत्रयेणासुरकुमारादयोऽपि तावद्दक-
 न्याः यावत् स्वानिसकुमाराः, पृथिव्यपूतेजोषायुधनस्पतिकायिका यथा सामान्यतो जीवा उफालपा पक्ष्याः,
 उमयत्रापि षडुयधनेनैक एव मङ्गो वक्ष्य इति माधः, पृथिव्यादीनां हिंसापरिणामपरिणतानां प्रत्येक सप्तविध-
 वधकानामष्टविधवधकाना च सदैव षडुत्वेन लभ्यमानत्वात्, श्रेया द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्य-

न्तरज्योतिष्कर्मैमानिका यथा नैरयिका मङ्गत्रिकेणोक्तास्वया वक्तव्या, यथा च प्राणातिपातेनैकत्वपृथक्त्वाम्या
 द्वौ दण्डकालुष्कावेप सर्वपापस्थानैरपि प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ, तथा चाह—“जाय मिच्छादसणसङ्घेण”ति
 सर्वसङ्घया कियन्तो दण्डका मवन्तीति चेत्, अत आह—‘एयं पगसपोहत्तिया छत्तीस दण्डगा होति’ अष्टाद-
 शानां दाम्यां गुणेने पद्मत्रिंशद्गावात् । ‘जीवे णं मते’ इत्यादि, अय कोऽस्य सप्तस्यापि सम्बन्धः ?, उच्यते, इह
 प्रागुक्त जीव प्राणातिपातेन सप्तविधमष्टविध या कर्म प्रमाति, स तु तमेव प्राणातिपात ज्ञानावरणीयादि कर्म
 बभन् फत्तिभिः क्रियाभिः समापयतीति प्रतिपाद्यते, अपिच—कार्येण ज्ञानावरणीयास्येन कर्मणा कारणस्य प्राणा-
 तिपातास्यस्य निवृत्तिभेद उपदर्शयते, तत्रेदाव बधविशेषोऽपीति, उक्त च—“ तिसुमिधतसुभिरय पञ्चमिध
 [क्रियाभिः]र्दिसा समाप्यते क्रमश । वन्द्योऽस्य चिद्विद्वः साधोग्रध्वेयसाम्यं चेत् ॥ १ ॥” इति, तमेव प्राणाति-
 पातस्य निवृत्तिभेद दर्शयति—‘सिय तिकिरिण’ इत्यादि, स्यात्—कदाचिच्चक्रियः कदाचिच्चक्रियः कदाचित्
 पञ्चक्रियः, तत्र त्रिक्रियता कायिक्याधिफरफिफ्रीप्राध्वेपिफ्रीमिः क्रियाभिः, कायिकी नाम इत्युक्तादिभ्यापारण
 आधिफरफिफ्री सन्नादिप्रगुणीकरण प्राध्वेयिकी मारत्यास्येनमित्यनुमनःसम्प्रधारणमिति, चतुष्क्रियता कायिक्याधि-
 करणिकीप्राध्वेपिफ्रीपारितापनिकीभिः, पारितापनिकी नाम सन्नादिवातेन पीडाकरण, पञ्चक्रियता यदा
 प्राणातिपातक्रियाऽपि पञ्चमी मयति, प्राणातिपातक्रिया जीविताद् व्यपरोपणं, एव नैरयिकादारम्य चतुर्विधमिति-

दण्डकक्रमेण तावद् षष्ठ्यं यावदेमानिकसूत्र, सूत्रपाठस्त्वेषम्—'नेरइए ण मते ! नाभापरणिज्जं कम्मं षडमाणे
कइकिरिए पं०' इत्यादि, तदेवमेकत्वेन दण्डक उक्तः, सम्यग्ति बहुत्वेनाह—'जीवा ण मते !' इत्यादि, प्रथमसूत्र
सुगम, मगवानाह—गौतम ! जीवासिक्रिया अपि घटुक्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि, किमुक्त मवति ?—जीवा
ज्ञानावरणीय कर्म षडन्तः सदैव षडव इति त्रिक्रिया अपि घटुक्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि लभ्यन्ते इत्येक एव
मङ्गः, यथा च सामान्यतो जीवपदेऽमङ्गक तथा नैरयिकादिषु घटुक्क्रियतौ स्वस्थानेषु प्रत्येकममङ्गक द्रष्टव्यं, नैरयि-
कादीनामपि ज्ञानावरणीयकर्म षडन्तां सदैव त्रिक्रियाणामपि घटुक्क्रियाणामपि पञ्चक्रियाणामपि बहुत्वेन लभ्य-
मानत्वात्, यथा च ज्ञानावरणीय कर्माधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाम्बां द्वौ दण्डकाशुक्तौ तथा वर्धनावरणीयादीन्यपि
कर्माण्यधिकृत्य प्रत्येक द्वौ द्वौ दण्डकौ षष्ठ्यौ, तत्र एव सति सर्वसङ्ख्या पोढय दण्डका । 'जीवे षं मते !
जीयातो कत्तिकिरिए पं०' इति, अथ कोऽस्य सूत्रस्य सम्यग्घः !, उच्यते, इह न केवलं वर्धमानमषषर्चिनो जी
यस्य ज्ञानावरणीयादिकर्मषण्णमेदप्ररूपणे कायिष्यादिक्रियाविशेषणः प्राणातिपातमेवो मवति, किन्त्वतीतमषका-
यसम्यग्घः कायिष्यादिक्रियाविशेषणोऽपि, तत्र एतत्सार्थस्य प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्, अस्य चैव पूर्वाचार्योपद-
र्शिता मायना—'इह ससारअट्ठीए परिणममतेहिं सवजीयेहिं तेसु तेसु ठाणेसु सरीरोषदाण्णो विप्यमुक्खा तेहि य
सत्थमूएहिं जया कत्साइ स्वतः परितापनादयो मवन्ति तथा तस्सामिणो मवतरगयस्सवि तत्रानिदुचत्वात् किरि-

यासम्भय इति, भ्रुत्सृष्टेषु तु न भवति निवृत्तत्वात्, एतत्प उदाहरण—यसत्पुरे णयरे अत्रियसेणस्स रण्णो पट्ठि-
धारगा दुये कुलपुत्तगा, तत्तयेगो समणसब्भो इयरो मिच्छदिट्ठी, अण्णया रयणीए रण्णो निस्सरण सममत्तुरताण
तेसिं धीत्तगारूढाण खग्गा पब्भट्ठा, सहेण जणकोलाहलो मग्गिओ न लहर, इयरेण हसिय-किमण ण होहि?,
सहेण अहिगरणत्तिकङ्कु बोसिरिय, इयरे च खग्गगाहिणो वदिग्गहसाहसिपहिं लद्धा, गहिओ अण्णेहिं रायव-
त्तहो पत्तायमाणो वाषाइओ, तओ आरक्खिस्वपहिं गहिक्कण रायसमीव नीया, कहिओ धुत्ततो, कुषिओ राया,
पुच्छिय चणेण—कस्स तुब्भे? तेहिं कहिय—अणाहा, कछ चिय, कप्पचिया, एए तुम्ह खग्गा कहिं लद्धत्ति,
पुच्छिपहिं कहिय पढिया इति, तओ सामरिसेण रण्णा भणिय—गवेसह तुरिय मम अणवद्धवेरिण ईसरपुत्ताण
महापमत्ताण केसिं इमे खग्गेत्ति?, तओ तेहिं निळण गवेसिक्कण विण्णपच रण्णो—सामि! गुणचदनालच्चंदाण
मित्ति, तत्तो रण्णा पिह पिह सदावेक्कण भणिया—लेह नियखग्गे, एक्केण गहिय, पुच्छिओ रण्णा—कह ते पणट्ठत्ति?,
तेण कहियं जहाविण, कीस न गविट्ठ?, भणइ—सामि! तुम्ह पसाएण एरुहमेत्तमवि गयेसामि?, सभो नेच्छइ,
रण्णा पुच्छिओ—कीस न गेणहसि?, तेण मणिय—सामि! अम्हाणमेस ठिईं देव नरिप जमेव गेण्हिज्जइ अहिग
रणत्तणओ, पर सममेण-मग्गवेणपि न लद्धत्ति बोसिरिय मत्तो न कप्पइ मे गिण्हिउं, तओ रण्णा पमायकारी
अणुसासिओ, इयरो यिमुओ, एस दिट्ठतो इमो य से अरपोवजओ—जहा सो पमायगग्गेण अबोसिरिबरोसेण

अपराह पक्षो एव जीवोपि अस्मत्तरत्य देशोयहाइ श्वोसिरतो अणुमयमाषतो पापेइ दोस ?, भ्रूयते च जाति-
 स्मरणादिना विज्ञाय पूर्णदेशमतिमोहात् (केचित्) सुरनदी प्रत्यस्यिद्वफळानि नयन्तीति । इदानीं सूत्रव्याख्या—
 जीवो भदन्त ! जीवमधिष्ठस्य कतिक्रिय प्रव्रत्तो ?, भगवानाह—नौतम ! स्यात्—कश्चित् त्रिक्रियः कायिक्याधि-
 करणिकीप्रादेपिकीमावात्, तत्र वर्तमानमवमचिष्ठस्य भावना प्राग्द्व भावनीया, अतीतमयमधिष्ठस्यैव—कायिकी
 तत्सम्बन्धिनः कायस्य कार्यकदेशस्य वा न्याप्रियमाणत्वात्, आधिकरणिकी तत्संयोजितानां हलगरकूटयश्चादीनां
 तन्निर्वर्चितानां वा असिद्धन्ततोमरादीनां परोपधाताय व्याप्रियमाणत्वात्, यदिवा देशोऽव्यधिकरणमित्याधिकर-
 णिक्यपि, प्रादेपिकी तद्विषयाऽकुञ्चलपरिणामप्रवृत्तेरप्रत्याख्यातत्वात्, स्यापहुञ्चिक्रियः पारितापनिक्यपि कायेन
 कार्यकदेशेमाधिकरणेन वा तत्सम्बन्धिना क्रियमाणत्वात्, स्यापञ्चक्रियो यदा तेन जीवितादपि स्वपरोपणमाधी
 यते, स्यादक्रियो यदा पूर्वजन्ममाधि शरीरमधिकरण वा त्रिविध त्रिविधेन व्युत्पद्य मयति, न चापि तज्जन्ममाधिना
 शरीरेण काश्चिदपि क्रियां करोति, इद चाक्रियत्व मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्य, तस्यैव सर्वधिरतिमाधात्, सिद्धापेक्षया
 वा, तस्य देशमनोपृथग्यमायेनाक्रियत्वात्, अमुमेवार्थं चतुर्विधतदण्डकक्रमेण निरूपयति—'जीवे ण मंते ! नेरइयाञ्चो
 कश्चिरिए' इत्यादि सुगम, नपरमय मानार्थः—'देपनारफान् प्रति चतुञ्चिक्रिय एव, तेपा जीविताद् व्यपरोपणस्या-
 सम्भवाद् 'वनपयर्च्योयुपो नारकदेशा' इति पञ्चनात्, नेपान् सङ्क्षेपवर्षाण्युपः प्रति पञ्चक्रियोऽपि, तेपामपयर्च्योयु-

पक्तया जीविताद् व्यपरोपणस्यापि सम्भवात्, तदेवमेकस्य जीवस्य एक जीव प्रति क्रियाभिन्निताः, सम्प्रत्येकस्यैव जीवस्य बहून् जीवान् प्रति क्रियाभिन्तयति—'जीवे ण मते ! जीवेर्हितो कइकिरिए पणज्जे' इत्यादि, एपोऽपि दण्डकः प्राग्बद्धावनीयः, अधुना बहूनां जीवानामेक जीवमधिकृत्य क्रियाभिन्तयति—'जीवा ण मते ! जीवातो कइकिरिया प०' इत्यादि, एपोऽपि दण्डकः प्रथमदण्डकवदवसेयः, अधुना बहूनां जीवानां बहून् जीवानधिकृत्य सूत्रमाह—'जीवा ण मते ! जीवेर्हितो कइकिरिया प० ?' इत्यादि, अत्र प्रश्नः पाठसिद्धो, निर्वचनमिदं—गौतम ! त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि अक्रिया अपि, कस्यापि जीवस्य कमपि जीव प्रति त्रिक्रियत्वात् कस्यापि चतुष्क्रियत्वात् कस्यापि पञ्चक्रियत्वात् कस्यापि मनुष्यस्य सर्वोत्तमचारित्रिणः सिद्धस्य वा श्रेयसाक्रियत्वात् इति सर्वत्र बहुवचनरूप एक एव मङ्गः, एव नैरयिकादिक्रमेण तावद् षष्ठम्य यावद्वैमानिकसूत्रं, नवर नैरयिकान् देवांश्च प्रति त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि अक्रिया अपीति षष्ठम्य, श्रेयान् सङ्ख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रिया अपीति, तदेव सामान्यतो जीवपदमधिकृत्य दण्डकवदुच्यते, सम्प्रति नैरयिकपदमधिकृत्याह—'नेरइए ण मते ! जीवातो कतिकिरिए प०' इत्यादि 'एवं जाव वेमाणिएर्हितो' इति, अत्र यावत्करणात् 'नैरयिको जीवान् प्रति कतिक्रिय' इति इत्यादिरूपो द्वितीयोऽपि दण्डक उक्तो द्रष्टव्यः, सर्वत्र भौवारिकशरीरान् सङ्ख्येयवर्षायुषः प्रति स्यात् त्रिक्रियः स्यात् चतुष्क्रियः स्यात् पञ्चक्रिय इति षष्ठम्य, नैरयिकस्य देवान् प्रति पञ्चमी जीविताद्

व्यपरोपणरूपा क्रिया नास्ति, तेपामनपवस्थोयुक्त्वात्, ततस्तान् प्रति स्यात् त्रिक्रियः स्याद्युक्त्वात् इति षष्ठ्य, नैरधिको देवान् प्रति कथं चतुष्क्रिय इति घेत्, उच्यते, इह मधनषासादयो देवास्तृतीयां पृथिवीं यावत् गता गमिष्यन्ति च, किमर्थं गता गमिष्यन्तीति चेत् ?, उच्यते, पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनामुपश्रमयितु पूर्ववैरिणो वेदनामु- शीरयितु (या) तत्र गच्छन्ति, तदानीमनन्तकालादेतदपि भवति (यद्) तद्गताः सन्तो नारकैर्बध्यन्ते इति, आह- च मूलटीकाकारोऽपि—“तत्र गता नारकैर्बध्यन्ते इत्यप्यनन्तकाल एव कथञ्चित्सम्भयमात्र”मिति, अप्रापर आह- ननु नारकस्य द्वीन्द्रियादीनधिष्ठस्य कथं कायिक्यादिक्रियासम्भयः ?, उच्यते, इह नारकैर्यस्मात् पूर्वमधगरीरं न भ्युत्सृष्ट विवेकामावात्, तदभावश्च भयप्रत्ययात्, ततो यावत् शरीरं तेन जीवेन निर्वर्षितं सत् तं शरीरप- रिणाम सर्वथा न परित्यजति तावद् देवतोऽपि तं परिणाम मज्जमानं पूर्वमावप्रज्ञापनया तस्येति व्यपदिश्यते श्रुतघटयत्, यथा हि घृतपूर्णो घटो घृते अपगतेऽपि घृतघट इति व्यपदिश्यते, तथा तदपि शरीरं तेन निर्वर्षित- मिति तस्येति व्यपदेश्यमर्हति, ततस्तस्य शरीरस्य परकवेद्येनास्थादिना योऽन्यः प्राणातिपातं करोति, ततः पूर्वनिर्व- र्षितशरीरजीवोऽपि कायिक्यादिक्रियाभिर्युज्यते, तेन तस्याभ्युत्सृष्टत्वात्, तत्रेय पञ्चानामपि क्रियाणां भावना- तत्कालस्य व्याप्रियमाणत्वात् कायिकी कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक् तत आधिकरणिकी, प्राद्वैपिक्यादय- स्त्वेपं—यदा तमेव शरीरैकदेशं अभिघातादिसमर्थमन्य कश्चनापि प्राणातिपातोद्यतो वृष्ट्वा तस्मिन् घाते द्वीन्द्रियादौ

समुत्पन्नक्रोधादिकारणोऽभिघातादिसमर्थमिदं शस्त्रमिति चिन्तयन् अतीवक्रोधाविपरिणाम भञ्जते पीडा चोत्पादयति जीविताद्यव्ययरोपयति तदा तत्सम्बन्धिप्रार्थेपिक्व्यादिक्रियाकारणत्वाज्ञैगमनयाभिप्रायेण तस्यापि प्राद्वेषिकी पारितापनिकी प्राणातिपातक्रिया च यथायोग, यथा च नैरयिकपदे चत्वारो दण्डका उक्ताः तथा असुरकुमारादिष्वपि श्लेषेषु त्रयोविंशतौ स्थानेषु चत्वारः दण्डका वक्तव्या, नष्टर जीवपदे मनुष्यपदे चाक्रिया इत्यपि वक्तव्य, विरतिप्रतिपत्तौ श्युत्सृष्टत्वेन तन्निमित्तक्रियाया असम्मथात्, श्लेषा अक्रिया नोच्यन्ते, विरत्यमायतः स्वशरीरस्य मथान्तरगतस्याभ्युत्सृष्टत्वेनाश्रय क्रियासम्मथात्, तदेव सामान्यतो जीवपदे एक श्लेषाणि तु नैरयिकादीनि स्थानानि चतुर्विंशतिरिति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिरैकैकस्मिन् स्थाने चत्वारो दण्डका इति सर्वसङ्ख्यलनया दण्डकशत । अथ केषां जीवानां कति क्रिया इति निरूपणार्थं प्रागुक्तमेव सूत्रं पठति—

कति ण मते ! किरियाओ पण्णचाओ !, गोयमा ! पच किरियाओ पण्णचाओ, तं०—कातिया जाव पाणातिवातकिरिया, नेरइया ण मते ! कति किरियातो पण्णचाओ !, गो० ! पच किरियातो पण्णचाओ, तं०—कातिया माव पाणातिवायकि०, एवं जाव वेमापियानं, अस्स ण मते ! जीवस्स कातिया कइइ वस्स अद्दिगरणिया किरिया कइति वस्स अद्दिगरणिया किरिया कइति वस्स कातिया कइति !, गो० ! अस्स णं जीवस्स कातिया किरिया कइति वस्स अद्दिगरणी किरिया नियमा क०, वस्स अद्दिगरणी किरिया कइति वस्स अस्स

णं मंते ! जीवस्स काइया किं तस्स पादोस्सिया किं अस्स पादोस्सिया किं क० !, गो० ! एव
 वेव, अस्स णं मंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ अस्स पारियावणिया किरिया
 कज्जइ तस्स काविया किरिया कज्जइ !, गो० ! अस्स णं जीवस्स काइया किं क० तस्स पारिवावणिया सिय कज्जइ
 सिय नो कज्जइ, अस्स पुण पारियावणिया किं क० तस्स काइया नियमा कज्जति, एवं पाणाइवायकिरियाधि, एवं
 आदिद्याओ परोप्पर नियमा विष्णि कज्जति, अस्स आइछाओ विधि कज्जति तस्स उवरिछाओ दोमि सिय कज्जति
 सिव नो कज्जति, अस्स उवरिछाओ दोष्णि कज्जति तस्स आइछाओ नियमा विष्णि कज्जति, अस्स णं मंते ! जीवस्स
 पारियावणिया किरिया कज्जति तस्स पाणातिवायकिरिया कज्जति, अस्स पाणातिवायकिरिया कज्जति तस्स पारियाव-
 णिया किरिया कज्जति !, गो० ! अस्स णं जीवस्स पारियावणिया किं क० तस्स पाणातिवावणिया सिय कज्जति सिय
 नो कज्जति, अस्स पुण पाणातिवावणिया कज्जति तस्स पारियावणिया किरिया नियमा कज्जति, अस्स णं मंते ! नेरइ-
 यस्स काइया किरिया कज्जति तस्स अधिगरणिया किरिया कज्जति !, गो० ! अहेव जीवस्स तदेव नेरइयस्ससधि, एवं
 निरतरं जाय वेमाणियस्स ! ज समय णं मंते ! जीवस्स काइया किं क० तं समयं अधिगरणिया किं क० अं समयं अधि
 गरणिया किं क० तं समय काइया किं, एवं अहेव आइछाओ दहओ तदेव माणितवो, जाव वेमाणियस्स ! अदेसेणं
 मंते ! जीवस्स काइया किं अदेसेणं अधिगरणिया किं तदेव जाव वेमाणियस्स ! अण्णसेणं मंते ! जीवस्स काइया किं
 तं पदेसं अधिगरणिया किं एवं तदेव जाव वेमाणियस्स, एव एते अस्स अंसमयं अदेसं अण्णसेण घचारि दहगा होति ।

कति नं भंते ! आतोञ्जिताओ किरियाओ पण्णसाओ, गो० ! पंच आओञ्जियाओ किरियाओ पण्णसाओ, सं०-काइया
 जाव पाणातिवातकिरिया, एवं नेरइयाण जाव वेमाणियाणं, जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया आतोञ्जिया किरिया अत्थि
 ठस्स अधिगरणिया किरिया आतोञ्जिता अत्थि जस्स अधिगरणिया आतोञ्जिता किरिया अत्थि ठस्स काइया आतो
 जिया किरिया अत्थि ? एवं एतेणं अमिलावेणं ते भेष चत्वारि दंढगा माणित्वा, अरस जसमयं जवेसं जं जाव वेमा-
 णियाणं । जीवे णं भंते ! जसमय काइयाए अधिगरणियाए पादोसियाते किरियाए पुट्ठे संसमयं पारियावणियाते पुट्ठ पाणा-
 तिवातकिरियाते पुट्ठ ?, गो० ! अत्येगतिते जीवे एगतियाओ जीवाओ जंसमयं काइयाए अधिगरणियाए पाओसियाए किरि-
 याए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए पुट्ठे ? अत्येगतिते जीवे एगतियाओ जीवाओ
 जंसमयं काइयाए अधिगरणियाए पादोसियाते किरियाए पुट्ठे तं समयं पारितावणियाए किरियाए पुट्ठ पाणाइवायकिरि-
 याए अपुट्ठे २ अत्येगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जंसमयं काइयाए अधिगरणियाए पाओसियाए पुट्ठे तंसमयं पारि०
 किरि० अपुट्ठे पाणाइवायकि० अपुट्ठे ३ (सूत्रं २८२)

'कइ ण भंते ! किरियाओ पण्णसाओ' इत्यादि प्राग्भत्, एता एव क्रिया चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्त-
 यति—'नेरइया ण भंते !' इत्यादि पाठसिद्ध, सम्प्रत्यासामेध क्रियाणामेकजीवाश्रयेण परस्परमविनाभावित्वं चिन्त-
 यति—'जस्स ण भंते !' इत्यादि, इह कायिकी क्रिया औदारिकादिक्रियाश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्षनसमर्षा प्रति-
 धिदिधा परिण्यन्ते न या काचन कामेजकाणश्रिता ण, तत आद्यानां तिसृणां क्रियाणां परस्परं निबन्धनमिषा-

मरुमायः, कथमिति चेत्, उच्यते, कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, ततः कायस्वाधिकरणत्वात् कायिक्यां
 सत्यामवस्थमाधिकरणिकी आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी, सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रबोधमन्तरेण न
 भवति ततः प्राद्वेषिक्याऽपि सह परस्परमधिनामायः, प्रबोधोऽपि च काये स्फुटलिङ्ग एव मकरुहत्वादेस्त्वदयिना-
 मायिनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भात्, उक्तं च—“सूक्ष्मयति रुच्यतो ननु षक्रं सिद्धति च रज्यतः पुसः । औदारिकोऽपि
 देहो भाषवशात् परिणमत्येवम् ॥ ३ ॥” परितापनस्य प्राणातिपातस्य घातक्रियात्रयसम्भवेऽप्यनियमः, कथमिति
 चेत्, उच्यते, यद्यसौ घातो मृगादिर्यातेकेन घनुषा क्षिप्तेन घाणादिना विध्यते तत्तत्स्य परितापन मरणं वा
 भवति, नान्यथा, ततो नियमानामयः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य च माये पूर्वक्रियाणामवश्यं मायस्वासासाममाये
 तयोरमायात्, ततोऽमुषेवार्थं परिमान्य कायिकी श्रेयामिदमत्वमिः क्रियाभिः सह आधिकरणिकी तिसृभिः
 क्रियाभिः सह प्राद्वेषिकी द्वाम्यां सूत्रतः सम्यक् चिन्तनीया, परितापनिकी प्राणातिपातक्रिययोस्तु सूत्रं साक्षा-
 द्वाह—‘जस्स ण मते ! जीयस्स पारियावणिया किरिया कच्चति’ इत्यादि, परितापनिक्याः सन्नावे प्राणातिपा-
 तक्रिया साह मथति त्याज्ज मथति, यदा वाणाधमिधातेन जीवितात् व्याव्यते तदा भवति श्रेयफालं न भवती-
 त्यर्थं, यस्य पुनः प्राणातिपातक्रिया तस्य नियमात् परितापनमन्तरेण प्राणव्यपरोपणासम्भवात् ।
 सम्प्रति नैरयिकादिघतुर्द्विद्वन्तिवण्डकक्रमेण परस्परमधिनामायं चिन्तयति—‘जस्स णं मते ! नेरयस्स काय्या

किरिया कञ्चति' इत्यादि प्रतीतिं, भाविततत्वात् । तदेवमेको दण्डक उक्तः, सम्प्रति कालमधिकृत्योक्तप्रकारेणैव द्विती-
यदण्डकमाह—'अ समय ण मते ! जीवस्स काइया किरिया कञ्चइ त समय अदिगरणिया कञ्चइ अ समय अदि-
गरणिया कञ्चइ' इत्याधारम्य सर्वे पूर्वोक्त तदवस्थं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रं, तथा चाह—'एव जहेव आइ
छतो दडधो तदेव भाणियधो जाव वेमाणियस्स' इति, समयग्रहणेन चेह सामान्यत कालो गृह्यते, न पुन' यर-
मनिरुद्धो वयोक्तस्वरूपो नैश्चयिकः समयः, परिवापनस्य प्राणातिपातस्य वा वाणादिधेपजन्यतया फायिक्या प्रय-
मसमये एवासम्भवात्, एव द्वितीयो दण्डकः, सम्प्रति द्वौ दण्डकौ धेत्रमधिकृत्याह—'जदेसेण मते ! जीवस्स'
इत्यादि, अत्रापि सूत्र पूर्वोक्त तदवस्थं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रं, तथा चाह—'तहेव जाव वेमाणियस्स' एव
तृतीयदण्डकः, 'अपसेण मते ! जीवस्स काइया किरिया कञ्चइ' इत्यादिकथसुर्थः, अत्रापि सूत्रं प्रागुक्तक्रमेण
तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रं, तथा चाह—'एवं तहेव जाव वेमाणिय' इति, दण्डकसङ्कलनामाह—'एवमेते'
इत्यादि, एताश्च यथा ज्ञानावरणीयादिकर्मवधकारण तथा ससारकारणमपि, ज्ञानावरणीयादिकर्मवधस्य ससार-
कारणतया तद्वृत्त्येन तासामपि ससारकारणस्योपचारात्, तथा चाह—'कइ ण मते ! आज्जोजियामो किरियाओ
पणपसाओ' इत्यादि, आयोजयन्ति जीव ससारे इत्यायोजिकाः—फायिक्यादिकाः श्रेय सर्वे सुगमं, सूत्रपाठस्तु पूर्वा-
क्तप्रकारेण तावद् वक्तव्यो यावत् यत्नेति य वेद्यमिति य प्रदेशमिति परिपूर्णाश्चत्वारो दण्डकाः,

‘य समय’मित्यादौ तु ‘कालाध्यनोर्व्यासा’वित्पधिकरणे द्वितीया, ततो यस्मिन् समये यस्मिन् देशे यस्मिन् प्रदेशे इति व्याख्येय, ‘जीवे ण मते ! ज समय काश्याए अहियरणियाए’ इत्यादि, अत्रापि समयग्रहणेन सामान्यतः कालो गृह्यते, प्रथमसूत्र सुगम, निर्ध्वनसूत्रे मङ्गत्रयी-कश्चिज्जीवमधिष्ठत्य कश्चिज्जीवो यस्मिन् समये-काले क्रियात्रयेण स्पृष्टस्त्रिस्मिन् समये पारितापनिष्काऽपि स्पृष्टः प्राणातिपातक्रियया चेत्येको मङ्गः, पारितापनिष्का स्पृष्टः प्राणातिपातेनास्पृष्ट इति द्वितीयः, पारितापनिष्का प्राणातिपातक्रियया चास्पृष्ट इति तृतीयः, एष च तृतीयो मङ्गो भाणोर्दंष्ट्रात्परिभ्रंशेन घाल्यस्य मृगादेः परितापनाद्यसम्भवे वेदितव्यः, यस्तु यस्मिन् समये य जीवमधिष्ठत्याद्य-क्रियात्रयेणास्पृष्टः स तस्मिन् समये तमधिष्ठत्य नियमात् पारितापनिष्का प्राणातिपातक्रियया चास्पृष्टः, कायि-क्याद्यभावे परितापनादेरमायात् । तदेवमुक्ताः क्रियाः, साम्प्रत प्रकारान्तरेण क्रिया निरूपयति—

कतिपं मंते ! किरियाओ पण्णयाओ ? गो० ! पंच किरियाओ पं०, वं०—आरंभिया परिग्गहिया मायावचिया अपष-
वखाणकिरिया मिच्छादंसणवचिया, आरंभिया णं मंते ! किरिया कस्स कज्जति ? गो० ! अण्णयरस्सवि पमचसंज-
यस्स, परिग्गहिया णं मंते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गो० ! अण्णयरस्सवि संवपासंजयस्स, मायावचिया णं मंते !
किरिया कस्स कज्जति ? गो० ! अण्णयरस्सावि अपमचसंजयस्स, अपषवखाणकिरिया णं मंते ! कस्स कज्जति ? गो० !
अण्णयरस्सवि अपषवखाणिस्स, मिच्छादसणवचिया णं मंते ! किरिया कस्स कज्जति ? गो० ! अण्णयरस्सावि मिच्छादंसणिस्स ।

नेरइयाणं मंते ! क्वति किरियातो पं० ? गो० ! पंच किरियातो पं०, वं०---आरंभिया जाव मिच्छादंसणवच्चिया, एवं
 जाव वेमाच्चियाण। बस्स णं मंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया क० तस्स परिग्गहिया किं कञ्जति ? जस्स परिग्गहिया
 किं० तस्स आरंभिया किं० ? गो० ! बस्स णं जीवस्स आरंभिया किं० तस्स परिग्गहिया सिय कञ्जति सिय नो कञ्ज-
 ति, बस्स पुण परिग्गहिया किरिया क० तस्स आरंभिया किं० गियमा क०, बस्स णं मंते ! जीवस्स आरंभिया किं०
 क० तस्स मायावच्चिया किं० क० पुच्छा, गो० ! बस्स णं जीवस्स आरंभिया किं० क० तस्स मायावच्चिया किं०
 नियमा क० अस्स पुण मायावच्चि० किं० क० तस्स आरंभिया किं० सिय कञ्जति सिय नो क०, बस्स णं मंते ! जीवस्स
 आरंभिया किं० तस्स अपबबखाणकिरिया पुच्छा !, गो० ! बस्स जीवस्स आरंभिया किं० तस्स अपबबखाणकिरिया
 सिय कञ्जति सिय नो० क० बस्स पुण अपबबखाणकिरिया क० तस्स आरंभिया किरिया गियमा क०, एव मिच्छाद
 सणवच्चियाएपि समं, एवं पारिग्गहियायि तिहि उवरिछाहिं सम संधारेत्तवा, बस्स मायावच्चिया किं० तस्स उवरिछाओ
 दोवि सिय कञ्जति सिय नो कञ्जति, बस्स उवरिछाओ दो कञ्जति तस्स मायावच्चिया गियमा कञ्जति, बस्स अपब-
 बखाणकिं० क० तस्स मिच्छादंसणवच्चिया किरिया सिय कञ्जति सिय नो कञ्जति, बस्स पुण मिच्छादंसणवच्चिया किं०
 तस्स अपबबखाणकिरिया गियमा कञ्जति । नेरइयस्स आइच्छियातो वचारि परोपरं नियमा कञ्जति, अस्स एताओ
 वचारि कञ्जति तस्स मिच्छादंसणवच्चिया किं० मइज्जति, बस्स पुण मिच्छादंसणवच्चिया किरिया कञ्जति तस्स एताओ
 वचारि नियमा कञ्जति, एवं जाव यणिपकुमारस्स, पुढविकाइयस्स आब वडरिदियस्स वंचवि परोपरं नियमा कञ्जति,

पंधदियतिरिन्खजोगियस्स आतिछियातो तिण्णिवि परोप्परं नियमा कञ्जति, जस्स एयाओ कञ्जति तस्स उपरिछिया दोण्णि भइज्जति, जस्स उवरिछातो दोण्णि कञ्जति तस्स एताओ तिण्णिपि भियमा कञ्जति, जस्स अपपयखाणकिरिया तस्स मिच्छादसणवचिया सिय कञ्जति सिय नो क०, जस्स पुण मिच्छादंसणवचिया किरिया क० तस्स अपपयखाणकिरिया नियमा क०, मणूसस्स जहा जीवस्स, वाणमंतरलोइसियवेमाणियस्स जहा नेरइयस्स, जं समयणं मंते ! जीवस्स आरंभिया कि० क० तं समयं पारिगहिया कि० क०?, एव एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसेण य चचारि दंढगा नेया, जहा नेरइयाणं तहा सबदेवाण नेतवं आव वेमाणिमाणं (सूत्रं २८४)

‘कइ ण मंते !’ इत्यादि, आरम्मः—पृथिव्याद्युपमर्हः, उक्क च—“सरमो सकप्पो परितावकरो भये समारंमो । आरमो उइवतो सुखनयाण हु संघेसि ॥ १ ॥” [सरम्मः सकल्पः परितापक्रिया भवेत् समारम्मः । आरम्म उप-
 प्रवकः उदनयानां हु संघेपां (मत) ॥ १ ॥] आरम्मः प्रयोजन—कारण यस्याः सा आरम्मिकी, ‘परिगहिय’च्चि परिग्रहो—धर्मोपकरणयज्वेषस्तुलीकारः धर्मोपकरणमूर्च्छां च परिग्रह एव पारिग्रहिकी परिग्रहेण निर्दृत्ता वा पारि-
 ग्राहिकी, ‘मायायचित्थिया’ इति माया—अनार्जवमुपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रहः माया प्रत्ययः—कारण यस्याः सा मायाप्रत्यया ‘अपपयखाणकिरिया’ इति अप्रत्याख्यान—भनागपि विरत्तिपरिणामाभायस्त्वदेव क्रिया अप्रत्या-
 ख्यानक्रिया, ‘मिच्छादसणवचिया’ इति मिथ्यादर्शन प्रत्ययो—हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया, एतासां क्रियाणा

मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य तां निरूपयति—‘भारभिया ण भते !’ इत्यादि, ‘ब्रह्मरस्मिन्नि पमचसंजयस्स’ इति
 भद्रापिञ्चदो मिनक्रम प्रमचसंयतस्याप्यन्यतरस्य—एकतरस्य कस्यचिद् प्रमादे सति कायबुध्रयोगमाधतः पृथि-
 म्यादेरुपमदसम्भवात्, जपिञ्चदोऽन्येषामपञ्चनगुणस्थानवर्चिर्ना नियमप्रदर्शनार्थः, प्रमचसयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया
 भवति किं पुन श्रेयाणां देशधिरतिप्रभृतीनामिति ? एषमुत्तरापि ययायोगमपिशब्दभावना कर्षव्या, पारिम्र-
 षिकी सयतासयतस्यापि देशधिरतस्यापीत्यर्थः, तस्यापि परिम्रवधारणात्, मायाप्रत्यया अप्रमचसयतस्यापि, कथ-
 मिति चेत्, उच्यते, प्रवचनोद्गाहप्रच्छादनार्थं बह्वीकरणसमुद्देशादिषु, अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्या-
 निनः, अन्यतरदपि—न किञ्चिदपीत्यर्थः यो न प्रत्याख्याति तस्येति भावः, मिथ्यादर्शनक्रिया अन्यतरस्यापि सुत्रो-
 क्तमेकमप्यधरमरोचयमानस्येत्यर्थः मिथ्यादृष्टेर्भवति । एता एष क्रियाश्चतुर्भिश्चितिदण्डकक्रमेण निरूपयति—‘नेर-
 याण भंते’ इत्यादि सुगमं । सम्प्रत्यासां क्रियाणां परस्परमधिनाभाव धिन्तयति—तद्यथा—यस्मारम्भिकी क्रिया
 तस्य पारिम्रिष्टिकी स्यान्नभवति साह भवति, प्रमचसयतस्य न भवति श्रेयस्य भवतीत्यर्थः, तथा प्रसारम्भिकी
 क्रिया तस्य मायाप्रत्यया नियमान्भवति, यस्य मायाप्रत्यया वस्यारम्भिकी क्रिया स्यान्नभवति साह भवति, अप्रम-
 चसयतस्य न भवति श्रेयस्य भवतीत्यर्थः, तथा वस्यारम्भिकी क्रिया तस्याप्रत्याख्यानक्रिया स्यान्नभवति साह भव-
 ति, प्रमचसंयतस्य देशधिरतस्य ण न भवति, श्रेयस्य जधिरतस्यग्दृष्ट्यादेर्भवतीति भावः, यस्य पुनप्रत्याख्याम

क्रिया तस्मारम्भिकी नियमात्, अप्रत्याख्यानिनोऽवश्यमारम्भमवात्, एव मिथ्यादर्शनप्रत्यययापि सहायिना-
 मायो भावनीयः, तथाहि—यस्मारम्भिकी क्रिया तस्य मिथ्यादर्शनप्रत्यया स्यान्न भवति, मिथ्याच्छेर्भ-
 वति श्लेषस्य न भवतीत्यर्थः, यस्य तु मिथ्यादर्शनक्रिया तस्य नियमादारम्भिकी, मिथ्याच्छेरविरतत्येनावश्यमारम्भ-
 सम्भवात्, तदेवमारम्भिकी क्रिया पारिप्राहिक्यादिभिश्चतसृभिरुपरितनीभिः क्रियाभिः सह परस्परमविनाभावेन
 चिन्तिता, एव पारिप्राहिकी तिसुभिर्मायाप्रत्यया द्वाम्यामप्रत्याख्यानक्रिया एकया मिथ्यादर्शनप्रत्ययया चिन्त-
 नीया, तथा चाह—‘एवं पारिगदियाचि तिहिं उपरिछाहिं समं सधारेयवा’ इत्यादि सुगम, भावनायाः सुप्रती-
 तत्वात् । असुमेवार्पे चतुर्विंशतिवृहकक्रमेण निरूपयति—‘नेरइयस्स आइछातो चत्तारि’ इत्यादि, नैरयिकाणु-
 त्कर्पतोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्यानकं यावन्न परतः ततो नैरयिकाणामाधाद्यतन्नः क्रियाः परस्परमयिनामाविन्यः,
 मिथ्यादर्शनक्रियां प्रति स्याद्वादः, तमेवाह—‘जस्स पयाओ चत्तारि’ इत्यादि, मिथ्याच्छेर्मिथ्यादर्शनक्रिया भवति
 श्लेषस्य न भवतीति मायः, यस्य पुनर्मिथ्यादर्शनक्रिया तस्याधाद्यतन्नो नियमात्, मिथ्यादर्शने सत्यारम्भिक्यादी-
 नामवश्यमावात्, एव तापद्भक्त्यं यावत्सन्नितकुमारस्य । पृथिम्यादीनां चतुरिन्द्रियपर्यवसानानां पञ्च क्रियाः पर-
 स्परमयिनामायिन्यो वक्तव्याः, पृथिम्यादीनां मिथ्यादर्शनक्रियाया अव्यवश्यंभावात्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्याद्यत्स्वित्तः
 परस्परमयिनामृता देशविरतिं यावदासामवश्यमावात्, उचराम्यां तु द्वाभ्यां स्याद्वादः, तमेव दर्शयति—‘जस्स

एयाजो क्वचि' इत्यादि, देशधिरतस्व न भवतः श्रेयस्य भवत इति भाषः, यस्य पुनः उपरितन्यौ द्वे क्रिये तस्या-
 धास्त्रिस्तो नियमाद्भवन्ति, उपरितन्यौ द्वि क्रिये अत्रत्याख्यानक्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया च, तत्राप्रत्याख्यानक्रिया
 अधिरतसम्पगर्ष्टि यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया मिथ्यागृष्टेः भाषाभ्यतस्रो देशधिरति यावत् अत उपरितन्योर्भावेऽ-
 षडयमाधानां तिसुगां भाषः, सम्प्रति अत्रत्याख्यानक्रियया मिथ्यादर्शनक्रियायास्त्रिर्यक्पक्षेन्द्रियस्य परस्परमवि-
 नामाच चिन्तयति—'जस्त अपषफ्खाणकिरिया' इत्यादि भाषितं, मनुष्ये यथा जीवपदे तथा वक्त्रय्य, व्यन्तर-
 ज्योतिष्कैमानिकानां यथा नैरथिकस्य, एवमेव एको दण्डकः, 'एवमेव ज समय णं मते ! जीवस्ते'त्यादिको
 द्वितीयः, 'ज देसण'मित्यादिकं तृतीय, 'ज पपसण'मित्यादिकश्चतुर्थः । जय पट्ट कायाः प्राणातिपातक्रिया-
 इत्येव एव भवन्ति किं वा तद्विरमणहेतवोऽपीति पृच्छति—

अरिष णं मते ! जीवाणं पाणातिवायेवरमणे कज्जति ? इत्ता ! अत्थि, कम्मि णं मते ! जीवाणं पाणातिपातयेरमणे क० ?,
 गो० ! छुजु जीवनिकाएसु, अत्थि णं मते ! नेररयाणं पाणातिवायेवरमणे क० ? , गो० ! नो इण्हे समहे, एवं आव
 वेमाप्पियाणं, णवरं मणूसाणं जहा जीवाणं, एवं सुसावाएणं आव मायाभोसेणं, जीवस्स य मणूस्स य, सेसाणं नो
 तिण्हे समहे, णवरं अदिभावाणे गहणघारणिसेसु देवेसु, मेणुणे स्वेसु वा स्सवसहणसु वा देवेसु, सेसाणं तवेसु देवेसु,
 अत्थि णं मते ! जीवाणं मिच्छादंसणसहयेरमणे कज्जति ? , इत्ता ! अत्थि, कम्मि णं मते ! जीवाणं मिच्छादंसणसहयेरमणे

कृज्जति १, गो० ! सपदेवेसु, एषं नेरइथाभं जाव वेमाणियाभं, जवरं एगिदियधिगलेदियाणं नो तिण्ठे समइं (सू० २८५)
 पाजातिपातविरए णं मंते ! जीवे कइ कम्मपगणीतो भंधति १, गो० ! सत्तविहबंधए वा अट्टविहबंधए वा छविहबंधए
 वा पुगविहबंधए वा अबंधए वा, एव मणुसेवि माणित्थे, पाजातिपातविरबा ण मंते ! जीवा कति कम्मपगणीतो भंधति १,
 गो० ! सत्तेवि ताव होला सत्तविहबंधगगा य एगविहबंधगगा य १ अहवा सत्तविहबंधं० एगविहबंधं० अट्टविहबंधगे य २ अहवा
 सत्तविहबंधं० एगविहबंधं० अट्टविहबंधगगा य ३ अहवा सत्तविहबंधं० एगविहबंधं० छविहबंधगे य ४, अहवा सत्तविहबंधं० एग
 यि० छविहबंधगगा य ५ अहवा सत्तविहबंधं० एगविहबंधं० अबंधए य ६ अहवा सत्तविहबंधं० एगविहबंधं० अबंधगगा य ७ अहवा
 सत्तवि० एगयि० अट्टविहबंधगे य छविहबंधए य १ अहवा सत्तविहबंधगगा य एगविहबंधं० अट्टविहबंधए य छविहबंधगगा
 य २ अहवा सत्तविहबंधं० एगवि० अट्टविहबंधगगा य छविहबंधए य ३ अहवा सत्तविहबंधगगा य एगविहबंधगगा य अट्ट-
 विहबंधगगा य छविहबंधगगा य ४ अहवा सत्तविहबंधगगा य एगविहबंधगगा य अट्टविहबंधए य अबंधए य १ अहवा सत्त-
 विहबंधं० एगविहबंधं० अट्टविहबंधए य अबंधगगा य २ अहवा सत्तविहबंधं० एगवि० अट्टविहबंधगगा य अबंधए य ३ अहवा
 सत्तविहबंधगगा य एगविहबंधगगा य अट्टविहबंधगगा य अबंधगगा य ४, अहवा सत्तविहबंधगगा य एगविहबंधगगा य छविहबंधं
 यगे य अबंधए य १ अहवा सत्तविहबंधं० एगविहबंधगगा य छविहबंधए य अबंधगगा य २, अहवा सत्तविहबंधगगा य
 एगयि० छविह० अबंधए य ३ अहवा सत्तविहबंधगगा य एगवि० छविह० अबंधगगा य ४ अहवा सत्तविहबंधगगा य एग-
 यि० अट्टविहबंधगे य छविहबंधए य अबंधए य १ अहवा सत्तविहबंधगगा य एगवि० अट्टविहबंधए य छविहबंधए य अंधं-

षणा य २ अद्या मणिरिहर्षणा य एगविह० अद्विहर्षणए य अषणए य ३ अहवा सषविहर्षणा य
 एगविह० अद्विषणए य छविहर्षणा य अर्षणा य ४, अहवा सचवि० एगवि० अद्वि० छविहर्षणगे य अर्षणए य
 ५, अहवा मणरिहर्षणा य एगवि० अद्विह० छविहर्षणगे य अर्षणा य ६, अहवा सचवि० एगविह० अद्वि० छवि-
 हर्षणा य अषणए य ७ अद्या सप्तविहर्षणा य एग० अद्वि० छविहर्ष० अर्षणा य ८ एवं एते अद्वर्षणा, सवेवि
 मित्रिया सपार्थीसं भंगा मर्षति, एव मणुसाणवि एते चैव सचायीसं भंगा माणित्वा, एवं दुसावायविरयस्स जाव माया
 मोमविरयस्स जीवस्स य मणुस्स य, मिच्छादसणसल्लविरए णं मते । जीवे कति कम्मपण्ठीतो पघति ।, गो० । सुच
 चिरणए वा अद्विहर्षणए वा छविहर्षणए वा एगवि० अचणए वा, मिच्छादसणसल्लविरए णं मते । नेरए कति कम्मप
 ण्ठीतो पंपति ।, गो० । सचविहर्षणए वा अद्वि० जाव पचिदियतिरिखजोणिय०, मणुसे अहा जीवे, वाणर्मतरजोह
 मिनोभायिने अहा नेरदने, मिच्छादंसणसल्लविरया ण मते । जीवा कति कम्मपण्ठीतो पंघति ।, गो० । से चैव सचा-
 पीमं भंगा माणित्वा, मिच्छादसणसल्लविरया णं मते । नेरद्या कति कम्मपण्ठीतो पघति ।, गो० । सवेवि ताव होम
 मणरिहर्षणा अद्या सषविहर्षणा य अद्विहर्षणगे य अहवा सषविहर्षणा य अद्वि० एवं जाव वेमाणिया, णवर
 मणुमानं अहा जीवानं । (मूयं २८६) पाणातियापविरयस्स णं मते । जीवस्स किं आरभिया किरिया कज्जति जाव
 मिच्छादंसणपणिया छिरिया कज्जति ।, गो० । पाणातियापविरयस्स जीवस्स आरभिया किरिया सिय कज्जति सिय नो
 कज्जति, पाणातरायविरयस्स णं मते । त्रीयस्स परिग्गहिया किरिया कज्जति ।, गो० । नो इण्ठे सम्भे, पाणातियाव-

विरयस्स णं मंते ! जीवस्स मायावचिया किरिया कज्जति !, गो० ! सिय कज्जति सिय नो कज्जति, पाणासिपावचिरयस्स णं
 मंते ! जीवस्स अपययव्वाणवचिया किरिया कज्जति !, गो० ! णो इण्ठे समंठे, मिच्छादंसणवचियाए पुच्छा, गो० ! णो
 इण्ठे समंठे, एवं पाणासिपावविरयस्स मणूसस्सि, एवं जाव मायामोसविरयस्स जीवस्स मणूसस्स य, मिच्छादंसणस
 ट्ठविरयस्स णं मंते ! नीवस्स किं आरंभिया किरिया क० जाव मिच्छादंसणवचिया किं क० !, गो० ! मिच्छादंस
 णसट्ठविरयस्स जीवस्स आरंभिया किं सिय क० सिय नो क०, एवं जाव अपववखाणकिरिया, मिच्छादंसणवचिया
 न क०, मिच्छादंसणसट्ठविरयस्स णं मंते ! नेरयस्स किं आरंभिया किरिया क० जाव मिच्छादंसणवचिया किं क० !,
 गो० ! आरंभिया किं क० जाव अपववखाणकिरियायि क०, मिच्छादंसणवचिया किरिया नो क०, एवं जाव यणिय
 कुमारस्स, मिच्छादंसणसट्ठविरयस्स णं मंते ! पंचिदियविरिवख्खोभियस्स एवमेव पुच्छा, गो० ! आरंभिया किं क०
 जाव मायावचिया किं क०, अपववखाणकिं सिय क० सिय नो क०, मिच्छादंसणवचिया किं नो क० । मणूसस्स
 जहा वीवस्स । णणमंतरबोइसियवेमा० जहा नेरयस्स । एतासि णं मंते ! आरंभियाणं जाव मिच्छादंसणवचियाण य
 कवरे २ दिवो अप्पा द्वा ४ !, गो० ! सवत्योवाओ मिच्छादंसणवचियाओ किरियाओ, अपववखाणकिरियाओ विते०,
 परिगहियावो विते०, आरंभियावो किरियाओ विते०, मायावचियावो वितेसाहियावो (सूत्र २८७) ॥ पणववजाए
 वावीसतिमं पय समर्च ॥ २२ ॥

'अतिय नो मते !' इत्यादि, सर्वत्र क्रियते कर्मकर्त्तरिप्रयोगः ततो भवतीति प्रष्टव्यः, प्राणातिपातादिविरमण
 विषयाश्च पट्टं क्रापादय प्रागेव भाविता इति न मृत्यो माभ्यन्ते, विरतिश्च प्राणातिपातादीनां भाषामृपापर्य-
 न्तानां जीवपदे मनुष्यपदे षक्तव्या, शेषेषु स्थानेषु नायमर्थः समर्थ इति षक्तव्य, तेषां भवप्रत्ययतः सर्वविरत्यस-
 म्भवात्, मिथ्यादर्शनविरमणविषयवितायां सर्वत्रभेद्विषयि उपलक्षणमेतत् सर्वपर्यायेष्वपि, अन्यथा एकस्मिन् इन्द्रिये
 पर्याये वा मिथ्यादयमाये मिथ्यादर्शनेनविरमणासम्भवात्, 'सूत्रोक्तसैकस्याप्यरोचनादधरस्य भवति नरः । मिथ्या-
 दृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥' इति वचनात्, मिथ्यादर्शनशून्यविरमणश्च एकैन्द्रियविकले-
 न्द्रियवर्जेषु स्थानेषु, शेषेषु एकैन्द्रियादिषु न भवति, कस्मादिति चेत्, उच्यते, शृण्व्यादिषु 'उभयामावो पुठवाङ्-
 पसु' [प्रतिपद्यमानप्रतिपन्नाभावः शृण्व्यादिषु] इति वचनात्, द्वीन्द्रियादीनां तु यद्यपि कर्त्वायथीहावस्वायां
 केषांचित् सासादनसम्यक्त्यं भवति तथापि तत् मिथ्यात्वाभिमुखाना तत्प्रतिकूलानामतस्तेषामपि मिथ्यादर्शन-
 शून्यविरमणप्रतिपेया, आह च—'अतिय नो मते ! जीवराण मिच्छादंसणसत्तयेरमणे कच्चर' इत्यादि, अथवा प्राणा-
 तिपातपिरतस्य कर्मवधो भवति किं वा नेति चेत्, उच्यते, भवत्यपि न भवत्यपि, तथा च पृथगेव प्रससुशपूर्व-
 क्रमाह—'पाणाश्रवायचिरप न मते ! जीवे' इत्यादि सुगम, षडुवचने प्रशसुत्रं सुगमं, निर्बचनसूत्रे सर्वेऽपि ताव-
 न्नेरेषुः मसविषयवपकाम एकविषयवचनकाश्च इह प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वैकरणाविहृतवावरसम्परायाः सप्तविषयवचनकाः

प्रमत्ता अत्रमत्ताभ्यामुर्ध्वकालेऽष्टविधपद्यकाः, आयुषोऽपि पद्यनात्, आयुर्ध्वमथ कदाचित्क इति कदाचित्स-
 र्वथा न लभ्यतेऽपि, प्रमत्ताभ्यामत्रमत्ताश्च सदैव षडुत्वेन लभ्यन्ते, अपूर्वकरणे अनिष्टचित्वात्काम कदाचिन्न भवन्स-
 यि, यिरहत्वापि तेषामागमे प्रतिपादनात्, एकविधपद्यका उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनः, तत्र उपशान्ता
 न्तमोहाः क्षीणमोहाश्च कदाचिच्छम्यन्ते कदाचिन्न लभ्यन्ते, तेषामन्तरस्यापि सम्भवात्, सयोगिकेवलिनस्तु सदा
 प्राप्यन्तेऽन्यान्यभावेन तेषामभ्युपगच्छेदात्, ततः सप्तविधपद्यका एकविधपद्यकाभावात्स्थिता इत्यष्टविधपद्य-
 कापभावे एको मज्ञः, अपथा सप्तविधपद्यका एकविधपद्यकाश्च षड्व्य एकोऽष्टविधपद्यक इति द्वितीयः, अष्टपि
 पद्यकाना षडुत्वे तृतीयः, षड्विधपद्यका अपि कदाचिच्छम्यन्ते कदाचिन्न, उत्कर्षतः पण्मासविरहमाधात्, यदापि
 लभ्यते तदापि जघन्यपदे एको द्वौ वा उत्कर्षपदेऽष्टोत्तर शत ततोऽष्टविधपद्यकपदाभावे षड्विधपद्यकपदेनापि
 द्वौ मज्ञौ, अषन्धका अयोगिकेवलिनस्तेऽपि कदाचिदवाप्यन्ते कदाचिन्न, तेषामभ्युत्कर्षतः पण्मासविरहमाधात्,
 यदाऽप्यथाप्यन्ते तदापि जघन्यपदे एको द्वौ वा उत्कर्षतोऽष्टाधिक शतं, ततोऽष्टविधपद्यकपदामायेऽषन्धकपदे-
 नापि द्वौ मज्ञौ, तदेवमेक आद्यो मज्ञ एककर्षयोगे च पठिति सप्त मज्ञाः, इदानीं द्विकसयोगे मज्ञा दस्यन्ते, तत्र
 सप्तविधपद्यका एकविधपद्यकाभावात्स्थिताः, उभयेषामपि सदा षडुत्वेन लभ्यमानत्वात्, ततोऽष्टविधपद्यकपदे
 षड्विधपद्यकपदे च प्रत्येकमेकपचनमिति एको मज्ञः, अष्टविधपद्यकपदे षड्विधपद्यकपदे षडुत्वेन लभ्यन्ते इति

द्वितीयः, पती द्वौ भग्नावष्टविधश्चकपदस्यैकवचनेन लब्धौ, पतायेव द्वौ भङ्गौ बहुवचनेनेति चत्वारः, एवमेव
चत्वारो भङ्गाः अष्टविधश्चकपदाम्भ्याम्, एवमेव चत्वारः पञ्चविधबन्धकापदाम्भ्यामिति, सर्वसङ्ख्या
द्विकसंयोगे द्वादश भङ्गाः, त्रयाणामष्टविधश्चकपदपञ्चविधश्चकपदाम्भ्याम्, प्रत्येकमेकवचनबहुव-
चनाभ्यामष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्येयसप्तविधसंज्ञाः, अत्रापि आह—ननु विरतस्य कथं वन्धो !, न हि विरतिर्व-
धोऽस्तुर्भवति, यदि पुनर्विरतिरपि धर्मेऽस्तुः स्यात् ततो निर्मोक्षप्रसङ्गः, उपायामावात्, उच्यते, न हि विरतिर्व-
न्धोऽस्तुः, किन्तु विरतस्य ये कपाययोगस्ते चकपदकारण, तथाहि—सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकेष्वपि
सयमेव कपायाः सन्वत्तरूपा उदयप्राप्ताः सन्ति योगाश्च, ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभप्रकृतीनां तत्प्रत्ययो
पन्थः, यथा च प्राणाविरतविरतस्य सप्तविधसंज्ञा उक्ताः तथा मूयावावविरतस्य यावत् मायामृपाविरतस्य,
मिश्यावर्धनशुल्यविरतमधिकृत्यै सप्तमाह—‘मिच्छावसणसङ्घविरप ण मते !’ इत्यादि सुगम, नपर सप्तविधबन्धकत्व
मष्टविधयत्नकत्व पञ्चविधश्चकपदमेकविधबन्धकत्वमप्युक्तं च, मिश्यावर्धनशुल्यविरतविरतसम्पग्च्छेदाराम्या-
योगिकेयत्तिन यावद्भावात्, नैरयिकादिचतुर्पिथतिदण्डकचिन्तायां मनुष्ययज्ञेषु क्षेत्रेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सप्तविधब-
न्धकत्व अष्टविधश्चकपदं वा, न पञ्चविधश्चकपदं वा, अणिप्रतिपत्त्यसम्भवात्, मनुष्यपदे च यथा जीवपदे तथा
पक्ष्मि, मनुष्येषु सर्वेष्वपि सम्भवात्, बहुवचनेनेति विषय सप्तमाह—‘मिच्छावसणसङ्घविरप ण मते ! जीवा’ इत्यादि,

मत्रापि त एव पूर्वोक्ताः सप्तविंशतिर्भङ्गाः, नैरयिकपदे मङ्गत्रिक, तत्र सर्वेऽपि तापङ्गपेयु सप्तविधबन्धका इत्येको
 मङ्गः, अथ च यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा मयति, यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धको लभ्यते तदाऽय द्विती-
 यो मङ्ग सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धका अपि षड्वो लभ्यन्ते तदा तृतीयः सप्तविध
 बन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च, एव मङ्गत्रिकं तावद् षाण्य यावद्द्वैमानिकसूत्र, नवर मनुष्यपदे सप्तविंशतिर्भङ्गका यथा
 जीवपदे इति । अथारम्भिक्यादीनां क्रियाणां मध्ये का क्रिया प्राणातिपातविरतस्येति चिन्तयति—'पाणाद्वायव्य-
 रयस्स ण मते !' इत्यादि, आरम्भिकी क्रिया स्यान्नयति स्यान्न भवति, प्रमत्तसयतस्य भवति शेषस्य न भवतीति
 भावः, पारिग्रहिकी निषेध्या, सर्वथा परिग्रहाद्विद्वृत्तत्वात्, अन्यथा सम्यक्प्राणातिपातविरतनुपपत्तेः, मायाप्रत्यया
 स्याद्भवति स्यान्न भवति, अप्रमत्तस्यापि हि कदाचित् प्रवचनमालिन्धरक्षणार्थं भवति, श्रेयकाल तु न भवति, अप्र-
 त्यास्त्यानक्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया च सर्वथा निषिध्यते, तन्नावे प्राणातिपातविरतयोगात्, प्राणातिपातविरतेष्व
 द्वे पदे, तद्यथा—जीवो मनुष्यश्च, तत्र यथा सामान्यतो जीवमधिकृत्योक्तं तथा मनुष्यमधिकृत्य वक्ष्य्य, तथा
 चाह—'एवं पाणाद्वायव्यविरयस्स मणुसस्सवि' इति, एव तावद्वाच्यं यावन्मायासुपाविरतस्य जीवस्य मनुष्यस्य च,
 मिथ्यादर्शनशून्यविरतमधिकृत्य सूत्र 'मिच्छादसप्रसङ्गविरयस्स ण मते ! जीवस्स' इत्यादि, आरम्भिकी स्याद्भवति
 स्यान्न भवति, प्रमत्तसयतान्तस्य भवति शेषस्य न भवतीति भावार्थः, पारिग्रहिकी देशविरतिं यावद्भवति, परतो

न भवति, मायाप्रत्ययाऽप्यनिवृत्तषादरसम्पराय यावद्भाषिणी परतो न भवति, अप्रत्याख्यानक्रियाऽपि अविरतस-
 म्यगर्हि यावन्न परतः, सत एता अपि क्रिया अधिकृत्य 'सिय कब्बइ' इति वक्तव्य, तथा चाह-
 'एव जाव अपयक्खाणकिरिया' इति, मिथ्यादर्शनप्रत्यया पुनर्निषेध्या, मिथ्यादर्शनविरतस्य तस्या असम्भवात्,
 चतुर्विधतिदण्डकचिन्तायां नैरयिकादीनां सन्नितकुमारपर्यन्तानां चतस्रः क्रिया वक्तव्याः, मिथ्यादर्शनप्रत्यया
 निषेध्या, तिर्यकरूपञ्चेन्द्रियस्याघासिल्लः क्रिया नियमतो वक्तव्याः, अप्रत्याख्यानक्रिया माज्या, देशविरतस्य न भवति
 द्वेषस्य भवतीत्यर्थः, मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या, मनुष्यस्य यथा सामान्यतो जीवस्य, व्यन्तरादीनां यथा नैरयि-
 कस्य । सम्प्रत्यासागमेवारम्भिक्यादीनां क्रियाणां परस्परमल्पषडुत्वमाह—'एएसि ष मते !' इत्यादि, सर्वस्रोका
 मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया, मिथ्यादृष्टीनामेव भावात्, ततोऽप्रत्याख्यानक्रिया विशेषाधिका, अविरतसम्यग्दृष्टीनां
 मिथ्यादृष्टीनां च भावात्, ताम्योऽपि पारिम्राष्टिक्यो विशेषाधिकः, देशविरतानां पूर्वेपां च भावात्, आरम्भिक्यो
 विशेषाधिकाः, प्रमत्तसयतानां पूर्वेपां च भावात्, ताम्योऽपि मायाप्रत्यया विशेषाधिकाः, अप्रमत्तसयतानामपि
 मायात् ॥ इति श्रीमलयगिरिपिरिचित्तायां प्रज्ञापनाटीकायां द्वाविंशतितम क्रियापद समाप्तम् ॥ २२ ॥

तदेयमुक्त द्वाविंशतितम पद, सम्प्रति त्रयोविंशतितममारभ्यते, अस्य धायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरपदे नारका-
दिगतिपरिणामेन परिणतानां जीवानां प्राणातिपातादिक्रियाविशेषमिदन्तितः, सम्प्रति पुनः कर्मबन्धादिपरिणाम-
विशेषमिदन्त्यते—तत्र धेयमधिकारद्वारागाथा—

कति पगढी १ क्व बधति २ क्वद्विषि ठापेहि बंधए जीवो ३। कति वेदेइ य पयढी ४ अशुभावो क्वविहो कस्स ५॥१॥
कति नं मंते ! कम्मपगढीओ पण्णत्ताओ, गो० ! अहु कम्मपगढीओ पण्णत्ताओ, सं०—आथावरणिज्जं १ दंसण्णपर-
णिज्जं २ वेदणिज्जं ३ मोहणिज्जं ४ आउयं ५ नाभं ६ गोयं ७ अंतरायं ८, नेरइयाणं मंते ! क्व कम्मपगढीओ पं० !,
गो० ! एवं धेव, एवं जाव वेमाणियाण ॥ १ (सूत्रं २८८) क्वण्णं मंते ! जीवे अहु कम्मपगढीतो बंधति १, गो० !
नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसुणापरणिज्जं कम्मं णियच्छति, दंसणापरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसण्णमोह
णिज्ज कम्मं णियच्छति, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छवं नियच्छति, मिच्छचेणं उदिएणं गो० ! एवं सुद्ध
जीवो अहु कम्मपगढीतो बंधति, क्वण्णं मंते ! नेरइए अहु कम्मपगढीओ बंधति १, गो० ! एवं धेव, एवं जाव वेमाणिते ।
क्वण्णं मंते ! जीवा अहु कम्मपगढीतो बंधति, गो० ! एवं धेव जाव वेमाणिया ॥ २ (सूत्रं २८९)

'कइ पगडी' इत्यादि, कति प्रकृतयो भवन्तीत्यादि प्रथमोऽधिकारः, तथा कय-केन प्रकारेण ताः प्रकृतीर्वि-
 भातीति द्वितीयः, कतिभिः स्थानैर्विभातीति तृतीयः, कति प्रकृतीर्विद्यते इति चतुर्थः, कस्य कर्मणः कतिविधोऽनु-
 मागः पञ्चमः । तत्र प्रथमाधिकारनिरूपणार्थमाह—'कति ण भते ! कम्मपयडीओ पण्णचाओ' इति, ननु कमेव
 क्रियापदे कति कर्मप्रकृतय इति ततः किमर्थमिह प्रकृतिसङ्गमार्थं प्रश्नः ?, उच्यते, विशेषप्रतिपादनार्थं, स चाय
 विशेषः—पूर्वं ज्ञानावरणीयादि कर्म बभूवन् कतिभिः क्रियामियुज्यते इत्युक्तं, क्रियाश्च प्राणातिपातहेतवः, प्राणाति-
 पातश्च धास ज्ञानावरणीयादिकर्मवधकारण, कर्मबन्धः कार्य, इह तु ज्ञानावरणीयादिकर्म पदान्तर कर्मबन्धका-
 रण प्रतिपाद्यमिति, भगवन्नविषयनमाह—गौतम ! अष्टौ कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः, एता एव नामप्राह दर्शयति—
 'ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय' इत्यादि, ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञान—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि
 विशेषप्रवृत्त्यात्मको बोधः, आप्रियते—आच्छाद्यते अनेनेत्सावरणीय 'कृच्छुल'मिति वचनात् करणेऽनीयप्रत्ययः,
 ज्ञानसावरणीय ज्ञानावरणीय, इत्यतेऽनेनेति दर्शन—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यप्रवृत्त्यात्मको बोध,
 उक्तं च—'ज सामञ्जसगहण माषाण नेय कट्टु भागारं । अविसेसिकण अत्थे दसणमिह सुणए समए ॥ १ ॥'
 [यत् सामान्यप्रवृत्त्यात्मको माषाणां नेय कट्टुभाऽऽकारम् । अर्पानविशेष्य दर्शनमित्युच्यते समये ॥ १ ॥] तत्सावरणीय
 कर्मसावरणीय गहण वेद्यते—आच्छाद्यद्विरूपेण पठनमयते तद्वेदनीयं. अत्र कर्मण्यनीयः, यद्यपि च सर्वे कर्म वेद्यते

तथापि पङ्कजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वत् सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते, न श्रेयं, तथा
मोहयति—सुदसद्विवेकविकल करोति आत्मानमिति मोहनीय, अत्र बहुलवचनात् कर्त्तव्यनीयः, तथा प्रति—
आगच्छति प्रतिपन्धकर्तां स्पृष्टतकर्मबद्धनरकादिक्लुगतेर्निष्कमितुमनसो जन्तोरित्यायुः, अथवा आ समन्तावेति—
गच्छति मवात् मयान्तरसङ्क्रान्तौ विपाकोदयमित्यायु, समयत्राप्यौणादिक उच्छ्रस्ययः, तथा नामयति—गत्यादि-
पर्यायानुमवन प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम, तथा गूयते—शुच्यते उवाचैः शुद्धैर्यत् तद् गोत्र—उचनीचकु-
लोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेषः तद्विपाकवेषं कर्मापि गोत्र, कार्ये कारणोपचारात्, यद्वा कर्मणोऽपादानविषया
गूयते—शुच्यते उवाचैः शुद्धैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयाद् गोत्रं, तथा जीष दानादिक घान्तरा व्यवधानापा-
दनाय प्रति—गच्छत्यन्तराय, जीपस्य दानादि कर्तुंशुघतस्य विषातकृद् भवतीत्यर्थः, अत्राह—नन्यित्य ज्ञाना-
परणीयाद्युपन्यासे किञ्चिदस्मि प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्तिरिति ? अस्मीति श्रुमः, किं तदिति चेत्, उच्यते,
इह ज्ञान दर्शन च जीपस्य स्वतस्यभूत, तदभावे जीपत्वस्यैषामावात्, धेतनालक्षणो हि जीपस्वतः स कथं ज्ञान-
दर्शनाभावे भवेत् ? ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधान ज्ञान, तद्वन्नादेव सकलशास्त्रादिविषयविचारसन्ततिप्रवृत्तेः,
अपि—सर्वा अपि लघ्वयो जीवस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायन्ते, न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य, 'सवाओ लक्ष्मीओ
सागरोवउत्तस्स नो अण्णागारोयओगोवउत्तस्से' [सर्वा लघ्ववः साकारोपयोगोपयुक्तस्य नानाकारोपयोगोपयुक्तस्य]

ति घचनप्रामाण्यात्, अन्यथ—यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तस्वरूपो जीवाः सम्पद्यते तस्मिन् समये ज्ञानोप-
योगोपयुक्त एव न दर्शनोपयुक्तो, दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमये भाषात्, ततो ज्ञान प्रधान, तदाभारकं च ज्ञानावर-
णीय कर्म ततस्तत्रप्रथममुक्त, ततस्त्वदनन्तरं दर्शनावरणीय ज्ञानोपयोगाभ्युत्तस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात्, एते च ज्ञान-
दर्शनावरणीये स्वविपाकमुपदर्शयती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः, तथाहि—
ज्ञानावरणमुपशयोत्कर्षमधिरूढ विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्म ३ तरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं ज्ञानानः स्थिद्यते भ्रुरि-
लोकः, ज्ञानावरणकर्मव्योपशमपाटयोपेतञ्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया भिन्दानो बहुजनतिशायिनमा-
त्मानं पश्यन् सुखं वेदयते, तथाऽतिनिविष्टदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखमद्भुत, दर्शनावरणक-
र्मव्योपशमपटिततापरिकरितञ्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथापहं वस्तूनि पश्यन् वेदयते प्रमोदम्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं
दर्शनावरणीयानन्तरं वेदनीयग्रहण, वेदनीयं च सुखदुःखे जनयत्समीधानमीष्टविषयसम्बन्धात्, अभीष्टानमीष्टविषयस-
म्बन्धे चावश्यं सप्सारिणा रागद्वेषौ तौ च मोहनीयद्वेतुक्तौ तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहण, मोह-
नीयद्वेषो जन्तवो बह्वारम्भपरिग्रहायासुक्ता नरकाद्यायुक्तभाषन्ति ततो मोहनीयानन्तरं आयुष्कप्रहण, नरका-
द्यायुष्कोदये घामस्य नरकगत्यादीनि नामानुदयमायान्ति एव आयुष्कानन्तरं नामग्रहण, नामकर्मोदये च निय-
मादुचनीचान्यतरंगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यमतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहण, गोत्रोदये चोदयेः क्रुञ्जोत्पत्त्यस्य

प्रायो दानलाभान्तरायादिष्वयोपशमो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्, नीचैःकुलोत्पन्नस्य तु
 दानलाभान्तरायाद्युदयोऽन्त्यजातीनां तथादर्शनात्, तत पतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहण । तदेवमुक्तं प्रथम
 द्वारम्, अधुना कथं पश्नातीति द्वितीयद्वारप्रतिपादनार्थमाह—‘कहण्य मते !’ इत्यादि, कथं—केन प्रकारेण प्मिति
 याक्यालङ्कारे जीवोऽष्टौ प्रकृतीर्विभ्राति ?, भगवानाह—गौतम ! ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन दर्शनावरणीयं
 कर्म निर्गच्छति—निश्चयेन गच्छति, विशिष्टोदयापन्नमासादयति, किमुक्तं भवति ?—ज्ञानावरणीयमुत्कर्षप्राप्तमुद-
 येन अनुभवन् दर्शनावरणीयमुदयेन वेदयते, दृश्यन्ते हि खलु शून्यवादिप्रभृतयः कुषादिनः कुञ्चानवासितान्तःक-
 रणा विपरीत पश्यन्त इति, दर्शनावरणीयस्य च कर्मण उदयेन दर्शनमोहनीय कर्म निर्गच्छति, विपाकावस्थोदयेन
 प्रतिपद्यते इति भावः, तस्य दर्शनमोहनीयस्य कर्मण उदयेन सिद्ध्यत्य निर्गच्छति, अतत्त्व तत्त्वमच्यवस्यति तस्य
 चातत्त्वमिति भावः, तत एवं सिद्ध्यत्योदयेन जीवोऽष्टौ प्रकृतीर्विभ्राति, खलुशब्दः प्रायोदृष्टिदर्शनार्थः, प्रायस्त्वा
 धेवमन्यथा सम्यग्दृष्टिरपि कश्चिदष्टौ प्रकृतीर्विभ्राति, केवल कश्चित् न यन्नात्यपि यथा सूक्ष्मसम्परायाविरिति स
 प्रकारो नोक्तः, एष चात्र तात्पर्यार्थः—पूर्वकर्मपरिणामसामर्थ्यात् उत्तरकर्मणः सम्भवो, यथा धीजादुदुरपप्रना-
 लादीनां, उक्तं च—“जीवपरिणामहेतु कम्मत्ता पुग्गला परिणमति । पुग्गलकम्मनिमित्त जीयोवि तहेव परिण-
 मर ॥ १ ॥” इति [जीवपरिणामहेतोः पुद्गलाः कर्मवया परिणमन्ति । कर्मपुद्गलहेतोर्जीवोऽपि तथैव परिणमति

॥ १ ॥] उक्तमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति—‘कहणं भते ! नेरइए’ इत्यादि सुगम, तदेवमुक्त एकत्वेन दण्डकः, सम्प्रति यदुत्वेनाह—‘कहणं भते ! नेरइया’ इत्यादि पाठसिद्ध । उक्तं द्वितीयद्वारमपि, अधुना कतिभिः स्थानैर्ब्रह्मातीति तृतीयद्वारमभिधित्सुराह—

जीवे णं भते ! णाणावरणिञ्जं कम्मं कखिहिं ठाणेहिं बंधति !, गो० ! दोहिं ठाणेहिं, त०—रागेण य दोसेण य, रागे दुविहे पं०, तं०—माया य लोमे य, दोसे दुविधे प०, तं०—कोहे य माणे य, इवेतेहिं चछहिं ठाणेहिं विरितोवग्गहि-
एहिं एवं खलु जीवे णाणावरणिञ्जं कम्मं बंधति, एव नेरखिते चाव वेमाणिते, जीवा णं भते ! णाणावरणिञ्जं कम्मं कति हिं ठाणेहिं बंधति !, गो० ! दोहिं ठाणेहिं एवं वेध, एवं नेरइया जाव वेमाणिया, एवं दंसणावरणिञ्जं चाव अंसराइञ्जं, एवं एते पगचपोहसिया सोलस वदगा ॥ ३ (सूत्रं २१०)

‘जीवे ण भते !’ इत्यादि प्रथमसुगमं, भगवानाह—‘आस्यां स्थानास्यां, त एव स्थाने नामग्राहमाह—सद्यथा—रागेण द्वेषेण च, अथ कोऽसौ रागः को वा द्वेष इति ?, उच्यते, प्रीतिलक्षणो रागोऽप्रीत्यात्मको द्वेषः, एतौ च प्रीत्यप्रीत्यात्मको रागद्वेषौ नात्यन्त क्रोधादिभ्यो व्यतिरिच्येते, किन्तु तेष्वेवान्तर्भवतः, स चान्तर्भावो नयमेवादि-
ष्यत्र इति विनियजनानुप्रदाय प्रदर्शयते, तत्र सद्ब्रह्मो मन्यते—क्रोधोऽप्रीत्यात्मकः प्रतीत एव, मानोऽपि परगुणासह-
नात्मकत्वाद्प्रीत्यात्मकः, सतोऽप्रीत्यात्मकत्वात् प्रीतिरूपः सुप्रसिद्धो,

मायामपि परब्रह्मनात्मिकां किञ्चिदभिलषन् प्रपुङ्गे अभिलाषम् प्रीतिस्रमाय इति साऽपि प्रीत्यात्मिका, तत एतौ
 मायालोमौ प्रीत्यात्मकत्वात् रागः, उक्तं च—“कोह माण चापीइजाइतो वेइ सगहो दोस । मायाए लोमेण य
 स पीइसामणतो राग ॥ १ ॥” अत्र उच्यते—“साधरार्द्धसाधरयोजना—मायया लोमेन सह प्रीतिजातिसामान्यात् स मान-
 प्रीतिजातिभाषात् द्वावपि मायालोमौ स सङ्गहो रागमाद्ये इति । व्यवहारः पुनर्भूते—माया खलु परोपधाताय
 प्रयुज्यते परोपधातपरिणामम् द्वेष इति मायाया अपि द्वेषेऽन्वर्भावः, या तु न्यायोपादानेनार्ये मूर्च्छां स परोप
 धातरहितः शुद्धो लोम इति रागः, एव चेदमस्य मतेन वस्तु व्यवस्थित—क्रोधमानमाया द्वेषो लोमो राग इति, आह
 च—“मायपि दोसमिच्छइ पवहारो जं परोपधामात्र । नायोषामाणे विय सुच्छा लोमेत्ति तो रागो ॥ १ ॥”
 ऋजुसूत्रः पुनराह—“क्रोधो नियमाद्प्रीत्यात्मकः, ततः स परोपधातात्मकत्वात् द्वेषः, ये तु मानमायालोमास्ते
 द्विधाऽपि सम्भवन्ति—प्रीत्यात्मका अप्रीत्यात्मकाश्च, तथाहि—मानः स्वाहङ्कारोपयोगकाले प्रीत्यात्मकः स्वगुणव
 दुमानभाषात्, परगुणद्वेषोपयोगवेलायामप्रीत्यात्मको मात्सर्योदिभाषात्, मायाऽपि परब्रह्मनोपयोगप्रवृत्तौ परोप-
 धातरूपत्वात् अप्रीत्यात्मिका परगतप्रभ्योपादानचि तायां त्वभिव्यक्तात्मकत्वात् प्रीतिरूपा, लोमोऽपि क्षत्रियादीनां
 परिधिन्त्यमानः प्रीत्यप्रीत्यात्मकः सुप्रतीतः, तथाहि—क्षत्रिया एवं मन्यन्ते परधिपयापहारोऽस्माक न्यायो ‘धीर-
 भोग्या बहुधरा’ इति न्यायात्, ततो यदा परधिपयापहाराय तेषामत्यर्थमभियोगस्त्वदाऽसौ अप्रीत्यात्मकः, परोप-

पातहेतुत्वात्, यदा तु परापिपयजिष्ण्वीपयोगस्तदा सोऽभिष्वङ्गात्मकत्वात् प्रीत्यात्मकः, तत एव मानमावालोमा
 उभयरूपा अपि संवेधन्ते, यदा च प्रीत्युपयोगो न तदा चाप्रीत्युपयोगः, यदा चाप्रीत्युपयोगो न तदा प्रीत्युपयोगः,
 एकस्मिन् समये उपयोगद्वयामावात्, ततो मानमायालोमाः प्रीत्युपयोगकाले रागोऽप्रीत्युपयोगकाले द्वेषः, उक्त
 च—“उज्जुसुयमय क्रोहो दोसो सेसाणमयमणेगंतो । रागोचि य दोसोचि य परिणाम वसेण उ विसेसो ॥ १ ॥
 माणो रागोचि मओ साहकारोबभोगकालमि । सो धेव होइ दोसो परगुणदोसोवयोगमि ॥ २ ॥ मायालोमा
 धेव परोषथाओषओगतो दोसो । सुष्णोषभोगकाले रागोऽमिस्सगळिगोचि ॥ ३ ॥” अष्टादशमः पुनरेकमाहु-
 इह धावेव कपायौ—क्रोधो लोमश्च, ये तु मानमाये ते क्रोधलोमयोरस्तर्मयतः, तथाहि—माने मायायां च ये परो-
 पथातरेतवोऽध्यवसायास्ते क्रोधोऽप्रीत्यात्मकत्वात् ये तु सगुणोत्कर्षपरद्रव्यमूर्च्छात्मकास्ते लोमोऽभिष्वङ्गरूपत्वात्,
 लोमोऽपि च लोकप्रसिद्धो द्विधा—परोपघातात्मको मूर्च्छात्मकश्च, तत्र परोपघातात्मको यथा क्षत्रियाणां परराष्ट्रा-
 पक्षे, मूर्च्छात्मको न्यायोपाधे निजद्रव्ये, तत्र यः परोपघातात्मकः स क्रोधो भवति, क्रोधश्च सर्वोऽपि त्रयोऽस्व-
 रूपो द्वेषोऽप्रीत्यात्मकत्वात्, केवलस्तु मूर्च्छात्मकोऽध्यवसायो लोमः स च रागः, तथा चोक्तम्—“सदाइमय माणे
 मायाए य सगुणोबरागा य । उषओगो लोहो विव जतो स तत्थेव उषरदो ॥ १ ॥ सेससा कोहो विप सपरोवषा-
 यमइओचि सो दोसो । ताउवसुणो य लोमो भइ सुष्णो केवळो रागो ॥ २ ॥” इति, तत्र अष्टादशममतेवाह—

‘रागे बुधिहे पण्णत्ते’ इत्यादि सुगम, माषितत्वाद्, उपसर्गारम्भाद्—‘इवेतेहिं षठ्ठिं ठाणेहिं’ इत्यादि, एव खलु इत्तेतरनन्तरोक्तेष्वतुर्मिः स्वानैः, कथमूतेरित्याह—धीर्योपगूढतैर्जीवनीर्योपस्थापितैरित्यर्थः, शानाशरणीय कर्म जीवो वप्नोति, अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिवृण्णकक्रमेण चिन्तयति—‘एवं नेरइए जाव वेमाणिय’ सुगम, नवरमेष सूत्रपाठः—‘नेरइए ण मंते ! नाणावरणिअ कम्म कइदिं ठाणेहिं संघइ’ इत्यादि । तदेवमेकत्वेन चिन्त्वा कृत्वा, सम्प्रति चतुर्वेन तां कुर्वन्नाह—‘जीवा ण मंते !’ इत्यादि सुगम, यथा च ज्ञानाशरणीयमेकत्वचतुत्वाभ्यां वृण्णकद्वयेन चिन्तितं तथा इद्वेनाशरणीयादीन्यपि चिन्तनीयानि, सर्वसङ्ख्याया पोळइ वृण्णकाः । तदेवमुक्तं सुतीयं द्वारम्, सम्प्रति कति प्रकृती-वदयते इति चतुर्थं द्वारमभिधित्सुराह—

जीवे ण मंते ! पाणावरणिअं कम्म वेदेति ?, गो० ! अत्थेगइए वेदेति अत्थेगइए नो वेइए, नेरइए णं मंते ! पाणावर-
 णिअं कम्मं वदेति !, गो० ! नियमा वेदेति, एवं अत्थ वेमाणिजे, गवरं मणूसे अहा जीवे । जीवा ष मंते ! पाणावर-
 णिअं कम्मं वेदेति !, गो० ! वेदेति एवं वेव, एवं अत्थ वेमाणिजा, एवं अहा पाणावरणिअं एहा दंसणावरणिअं मोइ-
 णिअं अंतराइवं च, वेयणिआठनामगोवाइ एवं वेव, नवरं मणूसेवि नियमा वेदेति, एवं एते एगथपोहचिया सोळस
 दंडगा ॥ ४ (एतं २९१)

‘जीवे णं मंते !’ इत्यादि, अस्त्येककः कश्चित् यो न वेदयते ऽस्त्येककः कश्चिद् यो न वेदयते अक्षीजपतिकर्मा वेद-

यते क्षीणघातिकर्मा तु न वेदयते इति भावः, असुमेयार्थं घतुर्विश्रुतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—‘नेरइप ण मते !’ इत्यादि सुगम, मनुष्य मुक्त्वा श्रेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु नियमाद्देवयते इति वक्तव्य, सर्वेषामक्षीणघातिकर्मत्वात्, मनुष्ये यया जीवपदेऽभिहित तथाऽभिधातव्य, क्षीणघातिकर्मणोऽपि मनुष्यस्य लभ्यमानत्वात्, एवमेव एकत्वेन दण्डक उक्तः, एवं घतुत्वेनापि वक्तव्यः, यया च ज्ञानावरणीयमेकत्वपृथक्त्वाम्यां भावित एव दर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायाण्यपि भावनीयानि, वेदनीयायुर्नामगोत्राणि तु जीवपदे मजनीयानि, यतः—सिद्धा न वेदयन्ते श्रेषा वेदयन्ते इति, श्रेषास्तु नैरयिकावयो मनुष्या अपि च नियमाद्देवयन्ते, आससारधरमसमयमवश्यममीपासुदयसम्भवात्, सर्वसङ्ख्या चास्मिन्नप्यधिकारे एकत्वपृथक्त्वाम्यां पोटश दण्डका भवन्ति । गत चतुर्थद्वारम्, इवानी तु अनुभावः कस्य कर्मणः कतिविध इति पञ्चमद्वारमभिधित्सुराह—

णागावरणिजस्त षं मते ! कम्मस्त जीवेण वदस्त पुट्तस्त वदफासपुट्तस्त संधियस्त चियस्त उवधियस्त आवागप-
 चस्त विवामपघस्त फलपघस्त उवपपघस्त जीवेण कयस्त नीवेण निवधियस्त जीवेण परिणामियस्त सयं वा उवि-
 प्यस्त परेण वा उवीरियस्त तदुमएण वा उवीरिज्जमाजस्त गतिं एव मवं पप्य पोग्गळपरिणामं पप्य क्वटि
 विधे अणुमाये पण्णसे ?, गो० ! जाप्पावरपिजस्त षं कम्मस्त जीवेण वदस्त नाव पोग्गळपरिणामं पप्य वसविधे अणु-
 माये पं०, तं०—सोतावरये सोवविष्वाणावरणे नेवावरणे नेचविष्वाणावरणे पाजावरणे पाजविष्वाणावरणे रसावरणे रस

विष्णुणावरणे फासावरणे फासविष्णुणावरणे, अं वेदेति पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा पीससा वा पोग-
 लानं परिणामं तेसिं वा उदएणं वाभियं न वाभयि जाणितकामे ण याणति जाणितकामे ण याणति उच्छश्रणाभी
 याधि मवति णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, एस न गोयमा ! वाभावरणिजे कम्मे एस नं गोयमा ! जाणावरणि
 ज्जस्स कम्मस्स नीवेणं वदस्स आव पोगलपरिणामं पप्य दसविधे अणुमावे ५० । दरिसणावरणिज्जस्स नं मते ! कम्म
 स्स नीवेणं वदस्स आव पोगलपरिणामं पप्य कतिविधे अणुमावे ५० । गो० ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स नीवेण
 वदस्स आव पोगलपरिणामं पप्य षवविधे अणुमावे ५०, त०—जिहा विहा २ पपला पपला २ बीपदी चबसुदंसणा
 यरणे अषकसुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंसणावरणे, जं वेदेति पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा
 पीससा वा पोगलानं परिणामं तेसिं वा उदएणं वासियं वा न पासति पासितकामेणि न पासति पासिवा वि ण
 पासति, उच्छश्रदंसणी याधि मवति दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, एस नं गो० ! दरिसणावरणिजे कम्मे एस
 नं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स नीवेणं वदस्स आव पोगलपरिणामं पप्य षवविधे अणुमावे पण्ये, साया
 देयजिज्जस्स नं मते ! कम्मस्स नीवेणं वदस्स आव पोगलपरिणामं पप्य कतिविधे अणुमावे ५० । गो० ! सावावेद
 जिज्जस्स न कम्मस्स नीवेण वदस्स आव अहविधे अणुमावे ५० तं०—मणुष्णा सवा १ मणुष्णा सवा २ मणुष्णा गंधा
 ३ मणुष्णा रसा ४ मणुष्णा फसा ५ मणुष्णा ७ कायसुहवा ७ कायसुहवा ८ नं वेदेति पोगलं वा पोगले वा पोग-
 लपरिणामं वा पीससा वा पोगलानं परिणामं तेसिं वा उदएणं सातावेदपिज्जं कम्मं वेदेति, एस नं गो० ! सायावेय-

भिक्षे कम्मे एस णं गो० । सातावेयणिकस्स जाव अट्ठविधे अणुमावे पं० । असातावेयणिकस्स णं भंते ! कम्मस्स
 जीवेणं तरेष पुच्छा, उचरं व, नवरं अमणुष्णा सदा चाव कायदुहया एस णं गो० । असायावेयणिके कम्मे एस ण
 पो० । असातावेयणिकस्स जाव अट्ठविधे अणुमावे पं० । मोहणिकस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वदस्स जाव कति-
 विधे अणुमावे पं० ? गो० । मोहणिकस्स कम्मस्स जीवेणं वदस्स जाव पंचविधे अणुमावे पं०, ४०—सम्मत्तवेयणिके
 सिच्छपवेयणिके सम्मासिच्छपवेयणिके कसायवेयणिके नो कसायवेयणिके अ वेदेति पोग्गल वा पोग्गलपरि-
 णामं वा पीससा वा पोग्गलाव परिणामं तेसि वा उदएणं मोहणिकं कम्मं वेएए वा एस णं गोयमा । मोहणिकस्स कम्म-
 स्स जाव पंचविधे अणुमावे पं० । आठस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तरेव पुच्छा, गो० । आठयस्स णं कम्मस्स जीवेणं
 वदस्स जाव चउविधे अणुमावे पं०, ४०—नेरइयाउठे ठिरियाउठे मणुयाउए देवाउए, अ वेवेति पोग्गलं वा पोग्गलं वा
 पोग्गलपरिणामं वा पीससा वा पोमालाव परिणामं तेसि वा उदएणं आठयं कम्मं वेदेति वा एस णं गो० । आठए कम्म-
 एस णं गो० । आठकम्मस्स जाव चउविधे अणुमावे पण्णावे । सुहणामस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा, गो० । सुहणामस्स
 णं कम्मस्स जीवेणं चउसविधे अणुमावे पं० ४०—इहा सदा १ इहा रुवा २ इहा गंवा ३ इहा रसा ४ इहा फासा ५ इहा गती
 ६ इहा ठिडी ७ इहे छाण्णे ८ इहा असोकिची ९ इहे उट्ठाणकम्मबलपीरियुरिसकारपरकमे १० इडस्सरा ११ कंतस्स-
 रवा १२ पियस्सरया १३ मणुष्णस्सरया १४ वं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गले वा पोमालपरिणामं वा पीससा वा पोमालाव
 परिणामं तेसि वा उदएणं सुमणामं कम्मं वेएए एस णं गो० । सुहणामकम्मे एस णं गो० । सुहणामस्स कम्मस्स जाव

धठइसविधे अणुमावे पं०, डुरनामस्स णं मंते ! पुच्छा, गो० ! एवं धेव, णवरं अण्डिहा सहा जाव हीणस्सखा वीणस्सखा
 अकतस्सखा जं वेदेति सेसं से धेव जाव धठइसविधे अणुमावे पण्यसे । उवागोतस्स ण मंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा,
 गो० ! उवागोतस्स कम्मस्स जीवेणं षट्ठस्स जाव अठ्ठविदे अणुमावे पं० तं०—चातिविसिद्धया १ कुलविसिद्धया २ षसं
 विसिद्धया ३ रूववि० ४ तववि० ५ सुपवि० ६ लामवि० ७ इस्सरियवि० ८ ज्ञ वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्ग-
 रूपरिणार्णं वा पीससा वा पोग्गलायं परिणामं वेसिं वा उदएयं जाव अठ्ठविधे अणुमावे पं०, वीयागोयस्स णं मंते !
 पुच्छा, गो० ! एवं धेव, णवरं चातिविहीणया चाव इस्सरियविहीणया जं वेदेति पुग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणाम
 वा पीससा वा पोग्गलायं परिणामं वेसिं वा उदएयं जाव अठ्ठविधे अणुमावे पण्यसे, अंतरायस्स ण मते ! कम्मस्स
 जीवेणं पुच्छा, गो० ! अंतरायस्स कम्मस्स जीवेणं षट्ठस्स जाव पचविधे अणुमावे पं०, तं०—दाणंतराय लामतराय
 भोगंतराय उवभोगंतराय पीरियंतराय, जं वेदेति पोग्गलं जाव वीससा था० वेसिं वा उदएय अंतरायं कम्मं वेदेति,
 एसं णं गो० ! अंतरायए कम्मो, एसं णं गो० ! जाव पंचविधे अणुमावे पं० (सूत्र २९२) ॥ पण्यणाय तेवीसति-
 वंमस्स पयस्स पढमो उवेसो २३-१ ॥

'नाणापरयिच्चस्स ण मंते !' इत्यादि, ज्ञानापरणीयस्य णमिति वाक्यालङ्कारे भवन्त ! जीयेन षट्ठस्स—राग-
 द्वेषपरिणामधन्तः कर्मरूपतया परिणमितस्य स्पृष्टस्य—आत्मप्रदेशैः सह सन्धेयमुपगतस्य 'षट्ठकासपुट्टस्से'ति पुन-

रपि गात्रतरं पदस्यातीय स्पृशन् स्पृष्टस्य च, किमुक्त भवति ?—आधिष्टनपरिवेष्टनरूपतयाऽतीय सोपषय गाढतर
 च पदसेति, 'सञ्चितस्य' आपाधाकालातिक्रमेणोचरकालवेदनयोग्यतया निपिक्तस्य 'चितस्य' उत्तरोत्तरस्थितियु
 प्रवेदशब्दान्या रसदृश्याऽवस्थापितस्य 'उपचितस्य' समानजातीयप्रकृत्यन्तरदलिकसङ्क्रमेणोपषय नीतस्य 'आपाकप्रा-
 सस्य' ईपरपाकाभिमुखीभूतस्य 'विपाकप्रासस्य' विद्विष्टपाकमुपगतस्य अत एव 'फलप्रासस्य' फल दातुमभिसुखीभू
 तस्य ततः सामप्रीवद्यादुदयप्रासस्य, एते चापाकप्रासत्वादेयः कर्मघर्माः यथा भ्रात्रफलस्य, तथाहि—भ्रात्रफल प्रथमत
 ईपत्पाकाभिमुख भवति, ततो विद्विष्ट पाकमुपागतं तदनन्तर तुसिप्रमोदादि फल दातुमुचित ततः सामप्रीयथा-
 दुपनोगप्राप्त भवति, एव कर्मापीति, तत् पुनर्जीविन कथं बद्धमित्यत आह—'जीवेण कथस्त्व' जीवेन कर्मबन्धन-
 यदेनेति गम्यते 'कृतस्य' निष्पादितस्य जीवो सुपयोगसमावस्यतोऽसौ रागादिपरिणतो भवति, न श्रेयो, रागा-
 दिपरिणतश्च सन् कर्म करोति, सा च रागादिपरिणतिः कर्मबन्धनबद्धस्य भवति, न तद्वियोगे, अन्यथा सुकाना-
 मप्यधीतरागतप्रसङ्गे, ततः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति द्रष्टव्य, उक्तं च—'जीवस्तु कर्मबन्धनबद्धो
 धीरस्य भगवतः कर्त्ता । सन्तत्याऽनाद्य च तदिष्टं कर्मात्मनः कर्तुः ॥ १ ॥' इति, तथा जीवेन निर्बन्धितस्य, इह
 बन्धसमये जीवः प्रथमतोऽविद्विष्टान् कर्मपर्यग्नान्त पातिनः पुत्रान् गृहान् जनामोगिकेत वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धस-
 मये ज्ञानावरणीयादितया प्यबन्धापबन्धाहारमिष रसादिससधातुरूपतया यच्च ज्ञानावरणीयादितया ज्वरबन्धापन

सन्निर्यन्तुच्यते, तथा जीयेन परिणामितस्य—विशेषप्रत्ययैः प्रद्वेपनिवृत्तादिभिस्तु तमुत्तरोत्तर परिणामं प्रापि-
 तस्य, स्वयं वा विपाकप्राप्ततया परनिरपेक्षमुदीर्णस्य—उदयप्राप्तस्य परेण वा उदीरितस्य—उदयमुपनीतस्य तदुप-
 येन—स्वपररूपेणोभयेन उदीर्यमाणस्य—उदयमुपनीयमानस्य गतिं प्राप्य किञ्चिद्धि कर्म काञ्चिद् गतिं प्राप्य तीव्रा-
 नुमाद्य भवति, यथा नरकगतिं प्राप्यासातवेदनीयं, असातोदयो हि यथा नारकाणां तीव्रो भवति न तथा तिर्य-
 गादीनामिति, तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टामिति श्रेयः, सर्वोत्कृष्टां हि स्वितिसुपगतमश्रुम कर्म तीव्रानुमाद्य भवति,
 यथा मिथ्यात्व मयं प्राप्य, इह किमपि कर्म कञ्चिन्नयमाश्रित्य स्वविपाकदर्शनसमर्थं यथा निद्रा मनुष्यमव तिर्य-
 रमय वा प्राप्य ततो मय प्राप्येत्युक्तं, एतावता किल सत उदयस्य कारणानि दर्शितानि, कर्म हि तां तां गतिं
 स्थितिं मय वा प्राप्य स्वयमुदयमागच्छतीति, सम्प्रति परत उदयमाह—पुत्रल काष्ठलेपुच्छङ्गादिलक्षणं प्राप्य, तथाहि—
 परेषु खिस काष्ठलेपुच्छङ्गादिकमासाद्य मयत्ससातवेदनीयक्रोधादीनामुदयः, तथा पुत्रलपरिणामं प्राप्य—इह किञ्चि-
 त्कर्म कमपि पुत्रलमाश्रित्य विपाकमायाति, यथाऽस्वपद्मत्तत्साधारस्याञ्जीर्णत्यपरिणाममाश्रित्य असातवेदनीय ज्ञाना-
 परणीय सुरापानमिति, ततः पुत्रलपरिणामं प्राप्येत्युक्तं, फतिविधोऽनुमाद्यः प्रवृत्त इत्येव प्रसङ्गः, अत्र निर्येषन—
 वन्नयिधोऽनुमाद्यः प्रवृत्तः, तदेव वन्नयिधमनुमाद्य दर्शयति—‘सोयावरणे’ इत्यादि, इह श्रोत्रद्वन्द्वेन श्रोत्रेन्द्रियविषयः
 श्रयोपद्मः परिरुद्धते ‘सोयविण्णणावरणे’ इति श्रोत्रविज्ञानद्वन्द्वेन श्रोत्रेन्द्रियोपयोगी, यत्तु निर्द्वेषुपकरणलक्षण

द्रव्येन्द्रिय तदज्ञोपाज्ञानासकर्मनिर्वर्त्यं न ज्ञानावरणविषय इति न श्लोत्रशब्देन एवमेत, एवं नेत्रावरणे इत्याद्यपि
 माषनीय, तथैकेन्द्रियाणां रसनघाणषण्णुःश्लोत्रविषयाणां लक्ष्युपयोगानां प्राय आवरण, प्रायोग्रहण च बहुला-
 दिष्यवच्छेदार्थं, यकुलादीनां हि यथायोग पञ्चानामपीन्द्रियाणां लक्ष्युपयोगा फलतोऽस्वप्ना उपलभ्यन्ते, आग-
 मेऽपि च प्रोच्यन्ते—“पर्षिदिवोषि षत्तलो नरोष पर्षिदिवोषधोगाओ । तद्विचि न मण्णइ पर्षिदिवोषि दधि-
 दियामावा ॥ १ ॥” तथा “जह सुदुमे माषिदियनाण बर्षिदियावरोद्वेचि । दवसुयामाषमिचि मावसुय पत्तियवार्णं
 ॥ २ ॥” इति [पञ्चेन्द्रियोऽपि बहुलो नरं इव पञ्चेन्द्रियोपयोगात् । तथापि न मण्णते यञ्चेन्द्रिय इति द्रव्येन्द्रि-
 यामावात् ॥ १ ॥ यथा सूक्ष्म माषेन्द्रियज्ञान द्रव्येन्द्रियावरोधेऽपि । द्रव्यश्रुतामोषेऽपि माषश्रुत पार्थिवादीनां
 ॥ २ ॥] ततः प्राय इत्युक्तं, द्वीन्द्रियाणां घ्राणषण्णुःश्लोत्रेन्द्रियविषयाणां लक्ष्युपयोगानां त्रीन्द्रियाणां षण्णुःश्लोत्र-
 विषयाणां चतुरिन्द्रियाणां श्लोत्रेन्द्रियलक्ष्युपवोगावरण सर्वेषामपि स्पर्शनेन्द्रियलक्ष्युपयोगावरण कुष्ठादिष्व्याधिविरु-
 पहतदेहस्य द्रष्टव्य, पञ्चेन्द्रियाणामपि जालघादीनां यथाश्वा भन्धबधिरिभूतानां षण्णुरादीन्द्रियलक्ष्युपयोगावरण
 माषनीयं, कथमेवमिन्द्रियाणां लक्ष्युपयोगावरणमिति चेत्, उच्यते, स्वसुदीर्घस्य परेष वा उदीरितस्य ज्ञानाव-
 रणीयकर्मण उदयेन, तथा बाह—‘अ वेपइ’ इति, योद्वयते परेष विस काष्ठलेहृबादिलक्षण पुङ्गवं तेजाधिवा-
 तजननसमर्षेन ‘पुगण्ठे वा’ इति वाषड्डन् पुङ्गलान् काष्ठादिलक्षणान् परेष विसान् वेचन्ते तेरचिवातलक्षणवच-

मयैः, 'पुद्गलपरिणामं वा' इति न वा पुद्गलपरिणाममभ्यधत्ताहारपरिणामरूप पानीयरसादिकमतिदुःखजनकं भवे-
 यते तेन वा ज्ञानपरिणामरूपहननात् तथा—'धीससा वा पोग्गलाण परिणाम'मिति यिसस्रया यः पुद्गलानां परि-
 णामः शीतोप्यातपादिरूपस्य वेदयते यदा तदा तेनेन्द्रियोपघातजननद्वारेण ज्ञानपरिणताद्युपघातायां ज्ञातव्यमेवै-
 न्द्रियकमपि सद्धस्तु न जानाति, ज्ञानपरिणतेरुपहतत्वात्, अय सापेक्ष उदय उक्को, निरपेक्षस्य तु विषये सूत्रमि-
 दम्—'तेसिं वा उदण्ण'ति तेषां वा ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानां विपाकप्राप्तानामुदयेन ज्ञातव्यं न जानाति 'जाणि-
 उक्कामेधि न याणइ' इति ज्ञानपरिणामेन परिणंहुमिच्छन्नपि ज्ञानपरिणत्युपघातात् जानाति, 'जाणिप्तायि न
 याणइ' इति, प्राङ् ज्ञात्वाऽपि पञ्चान्न जानीते, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामुदयात्, 'उच्छन्ननाणी यायि
 मवइ' इत्यादि, ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नज्ञान्यपि भवति, उच्छन्नं च तद् ज्ञानं च उच्छन्नज्ञान
 तदस्यास्तीति उच्छन्नज्ञानी, सर्वधनादिपाठान्मुपगमादिन्, यापत्शक्तिप्रच्छादितज्ञान्यपि भवतीत्यर्थः, 'एस ण
 गोयमा ! णाणावरणिजे कम्मे' इत्याद्युपसहारवाक्य कण्ठ्य, 'दसणावरणिजस्स ण मते !' इत्यादि प्रमसूत्र पूर्व-
 षत्, निर्वचनमाह—गौतम ! नवविधः प्रज्ञसः, तदेव नवविधत्व दर्शयति—'नित्रा' इत्यादि, नित्राञ्चदार्थमत्रे
 पक्ष्यामो, मायार्थस्त्ययम्—'सुहपठिबोहा निहा बुहपठिबोहा य निहनिहा य । पयला होइ ठियस्स उ पयलय
 यला य चकमतो ॥ १ ॥ यीणगिद्धी पुण अइसकिलिद्धकम्माणुधेयणे होइ । महप्पिहा दिणधितियवाधारपस्राहणी

पाय ॥ २ ॥” [सुखप्रतिषोधा निद्रा दुःखप्रतिषोधा च निद्रानिद्रा च । प्रचला मयति स्थितस्य तु प्रचलाप्रचला च
 चङ्कमतः ॥ १ ॥ स्थानर्दिः पुनरतिसंश्लिष्टकर्मणुषेवने मयति । महानिद्रा विनश्चित्तव्यापारप्रसाधनी प्रायः
 ॥२॥] षष्टुर्दर्शनाधारण—षष्टुःसामान्योपयोगाधारण, एष श्रेयेष्वपि भावनीय, ‘ज वेयह’ इत्यादि, य वेदयते पुद्-
 गत् ष्टुश्रयनादिक ‘पुग्गले वा’ इति यान् पुद्गलान् बहून् सुदुश्चयनीयादीन् वेदयते पुद्गलपरिणाम माहियवव्याप-
 म्यपहताहारपरिणाममित्यर्थः, ‘धीससा पोगगलाण परिणाम’मिति धर्पास्वप्नसम्भूतनमोरूप धारास्युनिपातरूप वा
 य वेदयते तेन निद्रापुदयापेक्षया दर्शनपरिणत्युपघाते एतावता परत उक्तः, सम्प्रति स्वत उदबमाह—‘तेसिं वा
 उदपण्’ति तेषां वा दर्शनाधारणीयकर्मपुद्गलानामुदयेन परिणतिविधातेन द्रष्टव्य न पश्यति, तथा कश्चित् दर्शनपरि-
 णामेन परिणन्तुमिच्छन्नपि जात्यधत्वादिना दर्शनेनपरिणत्युपघातात्न पश्यति, प्राग् दृष्टापि पद्मान्न पश्यति, दर्शना-
 धरणीयकर्मपुद्गलानामुदयात्, किं बहुना ?, दर्शनाधारणीयस्य कर्मण उदयेन जीष उच्छन्नदर्शन्यपि यावच्छक्तिप्रच्छा-
 दितदर्शन्यपि भवति, ‘एस ए गोयमा ! दरिसणाधरणिजे कस्मे’ इत्यापुयसहारबान्धयं । ‘सांयावेयमिच्छस्स ए मंते !
 कम्मस्स’ इत्यादि प्रश्नसूत्र प्राग्वात्, निर्बधनमाह—गौतम ! अद्यपिषोऽनुमाव प्रश्नतः, अद्यपिषत्वमेव दर्शयति—
 ‘मशुन्ना सहा’ इत्यादि, मनोज्ञाः शब्दा आगन्तुका वेणुवीजादिसम्बन्धिनः, अन्ये आत्मीया इत्यादुस्यदसुकं, आ-
 त्मीयशब्दानां पाश्चुषेनेत्यनेनैव दृष्टीतत्वात्, मनोज्ञा रसा-इन्द्रसप्रसूतवः, मनोज्ञा गन्धाः—कर्पूरादिसम्बन्धिनः,

मनोव्रानि रूपाणि—स्वगतस्वस्त्रीगतचित्रादिगतानि मनोव्रानाः स्वर्श्री—दसतूल्यादिगता 'मणोसुहृदा' इति मनसि सुख
यस्यासौ मनःसुखस्वस्य भावो मनःसुखता, सुखित मन इत्यर्थः, वाचि सुख यस्यासौ वाक्सुखस्वस्य भावो वाक्-
सुखता, सर्वेषां श्रोत्रमनःप्रल्हादकारिणी वागिति तात्पर्यार्थः, काये सुख यस्यासौ कायसुखस्वस्त्रावः कायसुखता,
सुखितः काय इत्यर्थः, एते चाष्टौ पदार्थाः सातावेदनीयस्योदयेन प्राणिनामुपतिष्ठन्ते तत्र उक्तोऽष्टयिधः सातवेद-
नीयस्थानुमायः, परत सातावेदनीयस्योदयमुपदर्शयति—'अ वेपइ पुगल'मित्यादि, यद्वेदयते पुगल स्रक्चन्दनादि
यान् वेदयते पुगलान् बहून् स्रक्चन्दनादीन् य वा वेदयते पुगलपरिणाम देसफालवयोऽवस्थानुरूपारुपाधारपरिणाम,
'वीससा वा पुगलाण परिणाम' विस्रसया वा य पुगलानां परिणाम कालेऽमिलपित श्रीतोष्णादिचेदनाप्रतीकार-
रूप, तेन मनसः समाधानसम्पादनात् सातवेदनीय कर्मानुभवति, सातवेदनीयकर्मफल सात वेदयते इत्यर्थः, उक्तः
परत उदयः, सम्प्रति स्वत उदयमाह—'तेसिं वा उदएण'ति तेषां वा सातवेदनीयकर्मपुगलानामुदयेन मनोज्ञशब्दा-
दिव्यतिरेकेणापि कदाचित् सुख वेदयते, यथा नैरयिकास्त्रीर्येफरजन्मादिकाले 'पस ण गोयमा !' इत्याद्युपसहार-
वाक्य, 'असायावेयजिजस्स ण मते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, निर्यचन पूर्ववत्, तथा चाह—'तद्वेव पुच्छा उत्तर
व' नवरमित्यादिना पूर्वसूत्रावस्य विधेयमुपदर्शयति, 'अमणुणा सदा' इत्यादि, अमनोव्रानाः शब्दाः—खरोप्राभादिस
न्वधि न आगन्तुका अमनोव्राना रसाः—स्वसाप्रतिभासिनो दुःखजनकाः अमनोव्राना गन्धा—गोमहिपादिमृतकच्छेवरा-

दिग्धा अपनोन्नानि रूपाणि—स्वगतस्वस्वीगतादीनि अपनोन्नाः स्वर्गाः—कर्मश्रावयः, 'मणोबुद्धिया' इति बुःखित
 मन इति 'यद्बुद्धिया' इति अमन्या याक् इति माचार्यः, 'कायबुद्धिया' इति काये बुःख यस्यासौ कायबुःखस्त
 ज्ञायः कायबुःखिता दुःखितकाय इत्यर्थः, 'ज वेदय' इत्यादि, य वेदयते पुद्गल—वियदक्षकण्टकादि 'पुग्गले वा
 इति यान् वा पुद्गलान् यद्गन् विपन्नक्षकण्टकादीन् वेदयते पुद्गलपरिणामपञ्चाहारलक्षण, विससया वा य वेदयते
 पुद्गलपरिणाम अफालेऽनमिलयित शीतोव्यादियपरिणामं, तेन मनसोऽसमाधानसम्पादनात्, भसातवेदनीय कर्मानुम
 धति, असातवेदनीयकर्मफलमसात् वेदयते इति माषः, एतेन परत् उदय उक्तः, सम्प्रति स्वत उदयमाह—'तेसिं वा
 उदयण'ति तेषां या भसातवेदनीयकर्मपुद्गलानामुदयेनासात् वेदयते, 'एस ण भोपमा !' इत्याद्युपसहारपाक्य
 'भोहणिञ्चस्स ण भते !' इत्यादि प्रभसूत्र प्राग्यत्, निर्यधन यच्चविधोऽनुभाषः प्रञ्जसः, तदेव पञ्चविधत्व वक्ष्यति—
 'सम्यक्त्ववेदनीय'मित्यादि, सम्यक्त्वरूपेण यद्वेद्य तत्सम्यक्त्यवेदनीय, एव श्रेयपदेष्वपि शब्दार्थो भावनीयः
 मायार्थस्त्वय—यदिह वेद्यमान प्रथमादिपरिणाम करोति तत्सम्यक्त्यवेदनीय, यत्सुनरेषादिबुद्धिरेतुलान्मिष्यात्
 वेदनीय, मिथपरिणामहेतुः सम्यग्मिष्यात्ववेदनीय, क्रोधादिपरिणामकारण कपायवेदनीय हास्यादिपरिणामकार
 नोक्फपायवेदनीय, 'ज वेदय पुग्गल'मित्यादि, य वेदयते पुद्गलविषय प्रतिमादिक पुद्गलान् वा यान् वेदयते षड्ग
 प्रतिमादीन् य वा पुद्गलपरिणाम वेदाद्यनुरूपाहारपरिणाम कर्मपुद्गलविशेषोपादानसमर्थे भवति आहारपरिणाम

विशेषादपि कदाचित्कर्मपुद्गलविशेषो, यथा ब्राह्मणोपध्याद्याहारपरिणामात् ज्ञानावर्णायकर्मपुद्गलानां प्रतिविश्लिष्टः
 क्षयोपशमः, उक्तं च—“उदयस्यस्यखलोषसमोषसमावि य ज च कमुषो भणिया । दष सेच काल माय च भव च
 सपप ॥ १ ॥” विस्रसया वा य पुद्गलानां परिणाम अत्रविकारादिक यद्वर्णनादेव विवेक उपजायते, “आयुः शर-
 ज्जलघप्रतिम नराणां, सम्पत्तयः कुमुमितद्युमसारुल्पाः । स्वप्नोपभोगसख्या विपयोपभोगाः, सङ्कल्पमाश्रमणीय-
 मिद हि सर्वम् ॥ १ ॥” इत्यादि, अन्य वा प्रश्नमादिपरिणामनिवधन य वेदयते तत्सामर्थ्यात् मोहनीय सम्य-
 क्त्यवेदनीयादिक वेदयते, सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मफल प्रश्नमादि वेदयते इति भावः, एतावता परत उदय उक्तः,
 सम्प्रति स्वतन्त्रमाह—‘तेसिं वा उदयण’ति तेषां च सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मपुद्गलानामुदयेन प्रश्नमादि वेदयते, ‘एव
 ण’ इत्याद्युपसहारवाक्य । ‘आउस्स ण मते ! इत्यादि, प्रश्नस्य प्राग्भूत्, निर्धेयन चतुर्विधोऽनुभावः प्रश्नसः, तरेप
 चतुर्विधत्य दर्शयति—‘नेरइयाउए’ इत्यादि सुगम, ‘अ वेपइ पुगल वा’ इत्यादि, य वेदयते पुद्गल श्रद्धादिकमायुरप
 वर्त्तनसमर्थं यद्वन् पुद्गलान् श्रद्धादिरूपान् यान् वेदयते य वा पुद्गलपरिणाम विपान्नादिपरिणामरूप विस्रसया वा य
 पुद्गलपरिणाम शीतादिकमेवायुरपवर्त्तनक्षम, तेनोपयुज्यमानमवायुपोऽपवर्त्तनात्, नारकाद्यायुःकर्म वेदयते, एतायता
 परत उदयोऽभिहितः, स्वत उदयस्य सूत्रमिद—‘तेसिं वा उदयण’ति तेषां वा नारकाद्यायुःपुद्गलानामुदयेन नारका

धायुर्वेदयते 'एस ण'मित्याद्युपसहारवाक्य । नामकर्म द्विधा—शुभनामकर्म अशुभनामकर्म च, तत्र शुभनामकर्मोधि-
 कृत्य सूत्रमाह—'शुभनामकम्मस्स ण मते !' इत्यादि प्रमत्सूत्र प्राग्वत्, निर्षेचन चतुर्वेदशिविधोऽनुभाष प्रज्ञप्तः, तत्रैव
 च चतुर्वेदशयिषत्व दर्शयति—'इट्ठा सहा' इत्यादि, एते शब्दादय आत्मीया एव परिगृह्यन्ते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्य-
 मानत्वात्, तत्र पादित्रायुत्पादिता इत्येके, तद्व्युक्त, तेषामन्यकर्मोदयनिष्पाद्यत्वात्, इष्टा गतिर्मत्तवारणाथनुका-
 रिणी शिविकाधारोहणतमेत्येके, इष्टा स्थितिः सहजा सिंहासनादौ चान्ये, इष्ट लाषण्य—छायाविशेषलक्षण कुङ्कुमाद्य-
 नुलेपनजमित्यपरे इष्टा यज्ञकीर्तिः यज्ञसा युक्ता कीर्तिः २, यज्ञःकीर्त्योश्चाय विशेषः—'दानपुण्यकृता कीर्ति', परा-
 क्रमश्रुत यज्ञः' 'इहे उट्ठाणकम्मचलबीरियपुरिसंकारपरक्खे' इति उत्थानं—वेदचेष्टाविशेषः कर्म—आरेचनभ्रमणादि
 चल-द्वारीरस्वामर्थ्यविशेषः धीर्यं—जीवप्रमथः स एव पुरुषकारः—अभिमानविशेषः स एव निष्पादितस्वविषयः परा-
 क्रमः इष्टस्वराता—फलमस्वराता, तत्र इष्टाः शब्दा इति सामान्योक्ताविय विशेषोक्तिसद्वन्यषडुतमत्वापेक्षाऽवगन्तव्या,
 'कातस्वराते'ति कान्तः—कर्मनीयः सामान्यतोऽभिलषणीय इत्यर्थ, कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भाषः कान्तस्वराता,
 'प्रियस्वराते'ति प्रियो—भूयोऽभिलषणीयः प्रियः स्वरो यस्य स तथा तद्भाषः प्रियस्वराता, 'मणुग्णस्सराता' इति उप-
 रतमायोऽपि स्वात्मन्नप्रीतिजनको मनोज्ञः स स्वरो यस्य स मनोज्ञस्वराता, 'ज वेण्ण' इत्यादि, य
 वेदयते पुद्गल धीणावर्णकगघतान्मूलपट्टशिविकासिंहासनकुङ्कुमदानराजयोगुल्लिकादिलक्षण, तथा च धीणादिस-

म्यन्धाद् भयन्तीष्टाः शम्बदादय इति परिभाषनीयमेतत्सूक्ष्मधिया मार्गप्रदर्पमनसोऽनुवारिष्या, 'पुगगले धा' इति यतो
 षट्त्वं पुद्गलान् घेणुयीणादिकान् वेदयते य पुद्गलपरिणाम प्राथम्योपस्थाहारपरिणाम त्रिस्रसया धा य पुद्गलानां
 परिणाम—शुभजलदाविक तथा चोन्नतान् कज्जलसमप्रमान् मेधानयलोक्य गायन्ति मच्चपुवतयो रेखुकानिष्टस्वरानि-
 त्यादि, तत्रप्रभावात् शुभनामकर्म वेदयते, शुभनामकर्मफलमिष्टस्वतादिकमनुभवतीति भावः, प्रतापता परत उक्तः,
 इदानीं स्वतस्त्रमाह—'तेसिं वा उदण्ण'ति तेषां धा शुभानां कर्मपुद्गलानामुदयेन इष्टस्वदादिकं वेदयते, 'एस णं गो०'
 इत्याद्युपसहारवाक्य, 'दुहनामस्स ण मते!' इत्यादि प्रथमसूत्र प्राग्यत्, निर्वचनसूत्र प्रागुक्तार्थैपरीत्येन भावनीय,
 गोत्र त्रिधा—उद्यैर्गोत्र नीचैर्गोत्र च, तत्रोद्यैर्गोत्रथिपर्य सूत्रमाह—'उद्यैर्गोत्रस्स णं मते!' इत्यादि प्रथमसूत्र प्राग्यत्,
 निर्वचनमथथिघोऽनुभावः प्रज्ञप्तः, तदेवाटविधत्वं दर्शयति—'जाइयिसिष्टया' इत्यादि, जालादयः सुप्रतीताः, शब्दार्थ-
 स्तथेयम्—जाला यिथिघो जातिविशिष्टस्वप्नायो जातिविशिष्टता इत्यादि 'अ वेपइ पुगगल धा' इत्यादि यं वेदयते पुद्गल
 वाद्यद्रव्यादिलक्षणं, तथाहि—द्रव्यसम्यन्धाप्राजादिविशिष्टपुरुषसम्परिमहाद्वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जालादिस-
 म्पत्त इय जनस्य मान्य उपजायते, षलविशिष्टताऽपि मलानामिष लकुटिन्नमणवशात् रूपविशिष्टता प्रतिविशिष्टतापु-
 ग्पञ्जालद्वारसम्यन्धात् तपोविशिष्टता गिरिकृत्वाद्यारोहणेनात्तापनां कुर्वतः श्रुतविशिष्टता मनोज्ञमूदेन्नसम्यन्धात्
 स्वाभ्याय कुर्वतः लामविशिष्टता प्रतिविशिष्टस्वादिभ्योगात् ऐश्वर्यविशिष्टता धनकनकादिसम्यन्धाविति, 'पुगगले धा'

इति यान् बहून् पुद्गलान् वेदयते पुद्गलपरिणाम-विष्यफलाधाहारपरिणामरूप विचित्रसया वा य पुद्गलानां परिणाम-
 अफस्मादिमिहितजलदागमसयादादिलक्षण तत्प्रमावातुर्धैर्गोत्र वेदयते-उधैर्गोत्रकर्मफल जातिविशिष्टत्वादिक वेदयते,
 एतेन परत उदय उक्तः, सम्प्रति स्वतस्त्रमाह-‘तैसिं वा उदप्यज’ तेषां वा उधैर्गोत्रकर्मपुद्गलानां उदयेन जातिवि-
 शिष्टत्वादिक भवति, ‘एस ण गोयमा’ इत्याद्युपसहारवाक्यं, ‘नीयागोयस्स णं भत्ते !’ इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्,
 निर्पचनमष्टविधोऽनुमायः, तमेवाष्टविधमनुमाय दर्शयति-‘जाइविहीणया’ इत्यादि, सुप्रतीत, ‘ज वेपइ पुगगळ’मि-
 ऽपि यदि नीचैःकर्मवशात् यथा (अघम) जीविकारूपमासेवते घाण्ढाली वा गच्छति तदा भवति घाण्ढालादिरिष-
 जनस्य निन्द्यः, बलहीनता सुखशयनीयादिसम्बन्धतः रूपविहीनता कुत्सितवस्त्रादिसम्बन्धात् तपोविहीनता पार्थ-
 स्यादिससर्गात् श्रुतविहीनता विकयापरसाध्यामासादिससर्गात् लामविहीनता देशकालानुचितकुक्रयाणकसम्पर्कतः
 ऐश्वर्यविहीनता कुप्रहकुलत्रादिसम्पर्कत इति ‘पुगगळे’ इति यान् बहून् पुद्गलान् वेदयते सं वा पुद्गलपरिणाम
 दृन्ताकीफलाधाहारपरिणामरूप, दृन्ताकीफल इत्यवदत्तं कण्डूत्युत्पादनेन रूपविहीनतामापादयतीत्यादि, विद्य-
 सया वा पुद्गलानां परिणाम अभिहितजलदागमविसंवावलक्षण वेदयते, तत्प्रमावात् नीधिःकर्म वेदयते नीधिःकर्म-
 फल जात्यादिपिहीनतारूप वेदयते इत्यर्थः एतावता परत उदय उक्तः सम्प्रति स्वतस्त्रमाह-‘तैसिं वा उदप्यज’

ण'ति तेषां वा-नीचैर्गोत्रकर्मपुत्रलानामुदयेन जात्यादिविहीनतामनुभवति, 'एस ण गोयमा !' इत्याद्युपसहारवाक्यं,
 'अतरायस्स ण मत्ते !' इत्यादि प्रससूत्र प्राग्भूत्, निर्बन्धन पञ्चभिधोऽनुमावः प्रवृत्तः, तदेव पञ्चविधत्व वर्धयति-'दा-
 णतराय' इत्यादि, दानस्यान्तरायो-विद्वान् दानान्तरायः, एव सर्वत्र भावनीय, तत्र दानान्तरायो दानान्तरायस्य कर्म-
 णः फल लाभान्तरायादयो लाभान्तरायादिकर्मणामिति 'ज वेएइ पुग्गळे धा' इत्यादि, य वेदयते पुत्रल तथाविध-
 विधिष्टरत्नादिलक्षण, तथाहि-प्रतियिन्निष्टरत्नादिसम्बन्धात् इत्यते तद्विषये एव दानान्तरायोदयः, सन्धिष्वेदनाद्यु-
 पकरणसम्भवात् लाभान्तरायकर्मोदयः प्रतिविशिष्टाहारसम्बन्धाद्वा लोमतो भोगान्तरायोदयः एव-
 मुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि भावनीयः, तथा लकुटादिवभिधाताद्वीर्यान्तरायकर्मोदय इति, 'पुग्गळे धा' यद्वन्
 तथायिधान् यान् पुत्रलान् वेदयते य वा पुत्रलपरिणाम तथाविधाहारौपष्याविपरिणामरूप, तथाहि-इत्यते
 तथाविधाहारौपघपरिणामाद्वीर्यान्तरायकर्मोदयः मन्नापसिक्कासादिगघपुत्रलपरिणामात् भोगान्तरायादयो यथा
 सुययुसञ्चिवस्य, यिल्लसया वा यं पुत्रलानां परिणामं चित्र शीतादिलक्षण, तथाहि-इत्यन्ते वस्त्रादिक दातुकामा
 अपि शीतादि निपतन्त्वमालोक्य दानान्तरायादयात् तस्यादातार इति तत्रभावात्, एय परत उदय उक्तः, स्वतस्स-
 माह-'तेसिं वा उदएणं'ति तेषां धा-अन्तरायकर्मपुत्रलगलानामुदयेन अन्तरायकर्मफल दानान्तरायादिक वेदयते-'एस
 ण'मित्याद्युपसहारवाक्यम् । इति श्रीमलयगिरिविधिरचितायां प्र० प्रयाविन्नतितमस्य कर्मप्रकृतिपदस्य प्रथमादेशकः ॥१॥

व्याख्यातः प्रथमोद्देशकः, इदानीं द्वितीयो व्याख्येयः, तस्य चायमभिसम्बन्धः, इहान्तरोद्देशके ज्ञानावर्णीया-
 दीनामनुमाष उक्तः, इह तु तेषामेष ज्ञानावर्णीयादीनामुत्प्ररुतिविभाग उच्यते, सत्र विशेषपरिज्ञानार्थं भूयोऽ-
 पे मूलप्रकृतिविषयं प्रथमनिर्वचनसूत्रमाह—

कति णं मंते ! कम्मपगढीओ पण्णत्ताओ, गो० ! अट्ट कम्मपगढीओ पं०, तं०—गाप्पावरणिअ जाष अंतराहयं, गाणाव-
 रणिअे णं मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—आभिण्णियोहियणाणावरणिअे जाव केवलनाणावर-
 णिअे, दंसयावरणिअे ण मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! दु० पं०, तं०—निहापंचए य दंसणचउक्कए य, निहाप
 चए णं मंते ! कतिविधे पं० ?, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—निहा जाष यिण्णदी, दंसणचउक्कए ण पुच्छा, गो० ! चउ
 विधं पं०, तं०— षक्खुदंसयावरणिअे जाव केवलदंसयावरणिअे, वेयणिअे णं मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० !
 दुविधे पं०, तं०—सायावेयणिअे य असायावेयणिअे य, सातावेयणिअे णं मंते ! कम्मे पुच्छा, गो० ! अट्टविधे पं०,
 तं०—मज्जुप्प्या सहा जाव कायसुहया, असायावेदणिअे ण मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! अट्टविधे पं०, तं—
 अमज्जुप्प्या सहा जाव कायसुहया, मोहणिअे णं मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! दु० पं०, तं०—दंसणमोहणिअे य
 चरिअमोहणिअे य, दंसणमोहणिअे णं मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! तिविधे पं०, तं०—सम्मचवेदणिअे मिच्छए
 वेयणिअे सम्माभिच्छएवेयणिअे, चरिअमोहणिअे णं मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! दुविधे पं०, तं०—कसायवे०

नोर्कस्तायवेद०, कस्तायवेदगिञ्जे षं मंते ! कतिविधे प० १, गो० ! सोलसविधे प०, ष०-अर्भताशुर्वंधी कोहे अर्भताशुर्वंधी
 माये अ० माया अ० लोमे, अपवख्वाणामे कोहे एवं माये माया लोमे, पवख्वाणावरणे कोहे एवं माये माया लोमे,
 संबलजकोहे एवं माये माया लोमे, नोःसायवेयपिञ्जे षं मंते ! कम्मे कतिविधे प० १, गो० ! षवविहे प०, सं०-
 इत्थीवेयवेयपिञ्जे पुरिसवे० नपुंसगवे० हासे रती अरती मए सोगे दुगुंछा, आउए णं मंते ! कम्मे कतिविधे प० १,
 गो० ! षउविधे प०, तं०-नेरइमाउए जाव देवाउए, णामे षं मंते ! कम्मे कतिविधे प० १, गो० ! धायालीसतिविहे
 एणचे, तं०-गतिनामे १ जातिनामे २ सरीरनामे ३ सरीरेवगनामे ४ सरीरबंधणनामे ५ सरीरसंधयणनामे ६ संघा
 यणनामे ७ संठाणनामे ८ ऋणनामे ९ गणनामे १० रसनामे ११ फासनामे १२ अगुरुलघुनामे १३ उवघायणामे १४
 पराघायणामे १५ आशुपुत्रिणामे १६ उस्तासणामे १७ आयणामे १८ उल्लोपणामे १९ विहायगतिणामे २० तसनामे
 २१ धावरणाम २२ सुदुमनामे २३ पादरणामे २४ पज्जखणामे २५ अपज्जखणामे २६ साहारणसरीरणामे २७ पचे
 यसरीरणामे २८ धिरणामे २९ अधिरणामे ३० सुमणामे ३१ अहुमणामे ३२ सुमणामे ३३ दुमणामे ३४ सुसरनामे
 ३५ वसरनामे ३६ आदेच्चनामे ३७ अणादेच्चनामे ३८ जसोकिचिणामे ३९ अजसोकिचिणामे ४० णिम्माणणा० ४१
 तिर अगणणा० ४२ । गतिनामे णं मंते ! कम्मे कतिविधे प० १, गो० ! षउविधे प०, सं०-निरय० तिरिय० मणु०
 देवगतिणामे, जातिणामे णं मंते ! कम्मे पुच्छा, गो० ! पंच० प०, सं० एगिदियजातिणामे जाव पंचिदियजातिणा०,
 सरीरनामे णं मंते ! कम्मे कतिविधे प० १, गो० ! पंच० प०, सं०-ओरात्थियसरीरनामे जाव कम्मगसरीरणामे, सरीरो

धंनानामे णं मंते ! कतिविधे पं० ?, गो० ! तिविधे पं० सं०—ओरालियसरीरोवंगणामे वेत्तवियसरीरोवंग० आहारगस-
 रीरोव०, सरीरवघण्णनामे षं मंते ! कतिविधे पण्णे ?, गो० ! पंचविधे पं० तं०—ओरालियसरीरवघण्णनामे जाव कम्मग
 सरीरवघण्णनामे, सरीरसंधायणामे णं मंते ! कति० ?, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—ओरालियसरीरसंधायणामे जाव
 कम्मगसरीरसंधायणामे, संघयणनामे णं मंते ! कतिविधे पं० ?, गो० ! छविहे पं०, तं०—वइरोसमनारायसंधयणनामे
 उवइनारायसं० नारायसंधं० अब्दनारायसं० कीलियासंधं० छेवइसंधयणनामे, संठाणनामे णं मंते ! कतिविधे पं० ?,
 गो० ! छविहे पं०, तं०—समवउरंसंठाणनामे निग्गोहपरिर्मडलसंठा० साइसं० वामणसं० सुअसं० हुंइसंठाणनामे,
 वण्णनामे णं मंते ! कम्मे कतिविधे पं० ?, गो० ! पंचविधे पं०, तं०—कालवण्णनामे जाव सुक्खिष्ठवण्णनामे, गंधनामे
 णं मंते ! कम्मे पुच्छा, गो० ! दु० पं०, तं०—सुरमिगंधनामे दुरमिगंधनामे, रसनामे णं पुच्छा, गो० ! पंचविधे पं०,
 तं०—त्तिचरसनामे जाव महुररसनामे, फासनामे णं पुच्छा, गो० ! अट्टविहे पं०, तं०—कक्खुवफासनामे जाव लहुय-
 फासनामे, अगुल्लहुयनामे एगागारे पं०, उवधायनामे एगागारे पं०, पराघातनामे एगागारे पं०, आणुपुधिणामे षव-
 विहे पं०, तं०—नेरइयआणुपुधीणामे जाव देवाणुपुधीणामे, उस्सासनामे एगागारे पं०, सेसाणि सवाणि एगागारां पण्ण-
 चाइ जाव तिरयगरनामे, षवरं विहायगतिनामे दुविधे पं०, तं०—पसत्यविहायगइनामे अपसत्यविहायगतिनामे य ।
 गोए णं मंते ! कम्मे कइविहे पं० ?, गो० ! दुविहे पं०, तं०—उवागोए य नीयागोए य, उवागोए णं मंते ! कइविधे
 पं० ?, गो० ! अट्टविधे पं०, तं०—चाइविसिइया जाव इस्सरियविसिइया, एवं नीयागोएवि, णवरं जातिविहीणता

आप्त इस्सरिपिषीणया । अंतराप णं मते ! फम्मे फतिविधे पं० !, गो० ! पंचविधे प० वं०-दानंवरारूप आव
 वीरिंतरारूप । (छत्रं २९३)

‘कइ णं मते !’ इत्यादि पूर्ववत्, सम्प्रति ‘ययोदेसं [तया] निर्देस’ इति न्यायात् ज्ञानावरणीयोचरप्रकृतिविषयं
 सूत्रमाह—‘नायावरणिज्जे णं मते !’ इत्यादि, इह आमिनिषोधिकारि इत्यादिशब्दार्थ उपयोगपदे षक्यते, विप्र-
 दमापना त्वियम्—आमिनिषोधिकज्ञानस्यावरणीयं आमिनिषोधिकज्ञानावरणीयं, एष श्रुतज्ञानावरणीयमित्यादि-
 व्यपि मावनीयं । वद्वेनावरणीयोत्तरप्रकृतीराह—‘वरिससावरणिज्जे ण मते !’ इत्यादि, ‘द्रा कुत्सावां’ नियतं द्राति-
 कुटियतत्वमविस्पष्ट्य गच्छति धैतन्वं यस्मां स्वापायस्थायां सा निद्रा, यविषा ‘त्रे स्वप्ने’ निद्राण निद्रा, नखच्छो-
 ट्टिकामात्रेण यस्या प्रबोध उपजायते सा स्वापामस्या निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा कारणे कार्योपचा-
 रात्, ‘निदानिद’सि निद्रातोऽतिशायिनी निद्रानिद्रा, शाकपार्षिवादिदर्शनात् ‘मयूरव्यसकादय’ इति मध्यमपदलो-
 पी समासः, तस्यां हि धैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वात् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवति, ततः सुषुप्रबोधोऽनु-
 निद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्य, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा उपचारात्, तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा
 प्रचलयति—घूर्णयति यस्यां स्वापायस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला, ‘पथलापयला’ इति
 प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचलाप्रचला, पूर्ववत् मध्यमपदलोपी समासः, सा हि चङ्कमणादिकमपि कुर्वत उदयमधि-

गच्छति, ततः स्नानस्थितस्वप्नप्रथमप्रबोधोपश्रया तस्मा अतिशायिनीत्व, 'पीणक्षी' इति स्नाना—पिण्डीमृता
 ऋद्धिः—आत्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्नानर्द्धिः, तन्नावे हि प्रथमसंज्ञानस्य केशवार्द्धकलसदृशी श्र-
 क्तिरुपजायते, तथा च श्रूयते प्रबचने—कचिच् प्रवेशे कोऽपि प्राप्तः झुञ्जक स्नानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरेन विवा
 दलीकृतः, ततस्त्रसिन् द्विरे घट्टामिनिवेशो रज्ज्वा स्नानर्ध्युदये प्रवर्त्तमान समुत्थाय तद्वन्तमुगलमुत्पाद्य स्योपा-
 ग्रयद्वारि च प्रथिय्य पुनः प्रसुप्तयानित्यादि, तथा घण्टुपा दर्शनेन चक्षुर्दर्शनेन तस्यापरणीय चक्षुर्दर्शनावर्णीय अक्षण्डु-
 या—चक्षुर्वर्जज्ञेपेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनेन तस्यावर्णीयमचक्षुर्दर्शनापरणीय अयधिरेव दर्शनमवधिदर्शनेन तस्याव-
 र्णीयमवधिदर्शनापरणीयं केवलमेव दर्शनेन केवलदर्शनावर्णीयं, इह निद्रापञ्चक प्राप्ताया
 दर्शनलब्धेरुपपातकृद् दर्शनावर्णयणघण्टुष्टय तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहरति, आह च गन्धहस्ती—“निद्रादयः
 प्रमधिगताया दर्शनलब्धेरुपपाते यर्चन्ते, दर्शनावर्णयणघण्टुष्टयं तदुद्गमोच्छेदित्वात् समूलघात इन्ति दर्शनल-
 ब्धे”मिति, वेदनीयं द्विधा—सातवेदनीयमसातवेदनीय च, सातरूपेण यद्वेद्यते तत्सातवेदनीयं, तद्विपरीतमसातवे-
 दनीय, किमुक्तं भवति ?—यस्योदयात् शरीर मानस च सुख वेदयते तत्सातवेदनीय, यस्योदयात् पुनः शरीरे
 नसि च दुःखमनुभवति तदसातवेदनीय, एकैरुमष्टविधं, मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयमेवात्, मोहनीय द्विधा—
 दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय च, दर्शनेन—सम्पक्त्य तन्मोहयतीति दर्शनमोहनीय, चारित्र—सावधेतरयोगनिष्ठचित्तप्र-

४ १
 वृत्तिगम्यं शुभात्मपरिणामरूपं तं मोहयतीति चारित्रमोहनीयं, चशब्दौ स्वगतानेकमेवसूचकौ, दर्शनमोहनीयं
 त्रिषिधं, तद्यथा—सम्यक्त्ववेदनीयं मिथ्यात्ववेदनीयं मिश्रवेदनीयं, तत्र जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानात्मकेन सम्यक्त्वरूपेण
 यद्वेद्यते तत्सम्यक्त्ववेदनीयं, यत्पुनर्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानात्मकेन मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते तन्मिथ्यात्ववेदनीयं,
 यत्पु मिश्ररूपेण—जिनप्रणीततत्त्वेषु न श्रद्धान नापि निन्देत्सेयंलक्षणैः वेद्यते तन्मिश्रवेदनीयं, आह—सम्यक्त्ववेद-
 नीयं कथं दर्शनमोहनीयं ? न हि तद्दर्शनं मोहयति, तस्य प्रश्नमादिपरिणामहेतुत्वात्, उच्यते, इह सम्यक्त्ववेदनीयं
 मिथ्यात्प्रकृतिः, ततोऽतिचारसम्मवात्, औपश्रमिकश्चायिकदर्शनमोहनायेदं दर्शनमोहनीयमित्युच्यते, चारित्र-
 मोहनीयं द्विषिधं—कृपायवेदनीयं नो कृपायवेदनीयं च, तत्र यत्क्रोधादिकृपायरूपेण वेद्यते तत्कृपायवेदनीयं, य-
 त्पुनः स्त्रीवेदादिनो कृपायरूपेण वेद्यते तन्नो कृपायवेदनीयं, चशब्दौ स्वगतानेकमेवसूचकौ, तत्र कृपायवेदनीयं पौढ-
 श्रविषं, क्रोषमानमायालोमानां प्रत्येकमनन्तानुषङ्गप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्चलनरूपत्वात्, तत्रानन्तं ससा-
 रमनुभवन्तीत्येवंशीला अनन्तानुपधिना, उक्तं च—“अनन्तानुषङ्गमन्ति, यतो जन्मानि भूतये । ततोऽनन्तानुष-
 ङ्गाख्या, क्रोधाद्येषु नियोजिता ॥ १ ॥” एषां संयोजना इति द्वितीयमपि नाम, तत्रायमन्यर्थः—संयुज्यन्ते—सम्भ-
 व्यन्तेऽनन्तसङ्घैर्भवेजन्तवो येस्ते संयोजनाः, उक्तं च—‘संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसङ्घैर्भवेः कथायास्ते । संयोजनता-
 ऽनन्तानुपधिना वाप्यतस्तेषाम् ॥ १ ॥’ सर्वे प्रत्याख्यान वेदप्रत्याख्यानं च येषामुदये न लभ्यन्ते ते भवन्त्यप्रत्या-

स्थानाः, सर्वनिषेधघनोऽयं नञ्, उक्त्वा च—‘सस्यमपि नोत्सदेद्येषां, प्रत्याख्यानमिदोवयात् । अप्रत्याख्यानसञ्ज्ञाऽ-
 तो, द्वितीयेषु निषेधिता ॥ १ ॥’ तथा प्रत्याख्यान—सर्वधिरतिरूपमाप्रियते चैच्छे प्रत्याख्यानानुवर्णाः, आह ष-
 “सर्वसावद्यधिरतिः, प्रत्याख्यानमुदाहृतम् । तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निषेधिता ॥१॥” तथा परीपहोपसर्गनिपाते
 सति चारित्रिणमपि सस्—ईपत् न्यल्यन्तीति सख्यलनाः, उक्त्वा च—“सज्वलयन्ति यतिं यत्सविद्म सर्वपापधिरत-
 मपि । तस्मात् सख्यलना इत्यप्रथमकरा निरुच्यन्ते ॥ १ ॥” अन्यत्राप्युक्त्वा—“शब्दादीन् विषयान् प्राप्य, सख्यल-
 यन्ति इतो मुहुः । ततः सख्यलनाहान, चतुर्थानामिदोष्यते ॥ १ ॥” स्वरूपं च पञ्चानुपूर्व्याऽमीपापमिद—‘जलरे-
 णुयुठधिपवयराईसरिसो षवधिदो कोदो । तिषिसल्यकद्विष्टियसेल्यंभोवमो माणो ॥ १ ॥ मायावलेहीगोमुष्टि-
 मिदसिगपणवसमूलसमा । लोदो इळिखजषकइमकिनिरागसारित्यो ॥ २ ॥ पक्खचवम्मासवच्छरजावज्जीवाणु-
 गामिणो कमसो । देवनरतिरियनारगइसाहणदेयवो मणिया ॥ ३ ॥’ [जलरेणुपृष्ठीपर्वतरात्रीसश्चबन्धुर्विधः
 क्रोधः । तिनिश्लताकाष्ठास्त्रिशैलस्रम्भोपमो मानः ॥ १ ॥ मायावलेखिकामेण्डुश्रयनवधमूलसमा । लोमो हरि-
 प्राखलनकर्दमकमिरागसदृशः ॥ २ ॥ पक्खचतुर्मासपत्सरयावजीवाणुगामिनः क्रमश्च । देवनरतिर्यग्नरकगतिसा-
 धनहेतवो भणिताः ॥ ३ ॥] ‘इत्थीवेप’ इति वेपते इति वेदः स्त्रिया वेदः स्त्रीवेदः, स्त्रियाः पुमांस प्रत्यभिलाप
 इत्यर्थः, तद्विपाकवेष कर्मापि स्त्रीवेदः, पुरुषस्य स्त्रिय प्रत्यभिलाप इत्यर्थः, तद्विपाकवेष क-

५
 ५
 र्मापि पुरुषवेदः, ननुसकस्य वेदो ननुसकवेदः, ननुसकस्य स्त्रिय पुरुष च प्रत्यभिहाय इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्य कर्मापि
 ननुसकवेदः, तथा यदुदयात् सनिमिचमनिमिच वा हसति सा हासयते वा तत् हास्यमोहनीय, यदुदयाद्वासास्य-
 न्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमात्रे तत् रतिमोहनीय, यदुदययथात् पुनर्वासास्यन्तरेषु वस्तुषु अप्रीतिं करोति तदरति-
 मोहनीय, यदुदयात् प्रियविप्रयोगादौ सोरस्वाङ्माक्रन्दति परिदेवते मृषीठे च छुठति दीर्घे च निःश्रसिति तत्
 श्लोकमोहनीय, यदुदययथात् सनिमिचमनिमिच वा तयारूपसङ्कल्पतो विभेति तन्नयमोहनीय, यदुदयवधात्
 पुनः शुभमशुभ वा वस्तु शुगुप्सते तत् शुगुप्सामोहनीय, शुगुप्साञ्जनक मोहनीय शुगुप्सामोहनीयं, एष सर्वपदे-
 व्यपि विप्रदो माषनीयः, नोकपायता चामीपां हास्यादीनां कपायसहचारित्वात्, कैः कपायैः सहचारितेति चेत्,
 उच्यते, आर्षेर्द्वावृत्तभिः, तथाहि—नाथेषु द्वादशकपायेषु धीषेषु हास्यादीनामवस्थानसम्भवस्वदनन्तरमेष तेयामपि
 क्षणाय प्रवृत्तिः, अथवा एते प्रादुर्भवन्तोऽवश्यं कपायादीनुदीपयन्ति ततः कपायसहचारिणः, एष नोद्यब्दः साह-
 चर्ये द्रष्टव्यः, कपायैः सहचारिणो नोकपाया इति, लक च—“कपायसहवर्षित्वात्, कपायप्रेरणादपि । हास्यादिन-
 यकस्योक्ता, नोकपायकपायता ॥ १ ॥” आयुःकर्मसूत्र पाठसिद्ध, नामकर्म द्विषत्नारिश्चिद्धं, तानेष द्वाषत्वारिधत्तं
 मेदानाह—‘गतिनामे’त्यादि, गम्यते—तथाविधकर्मसन्धिवैः प्राप्यते इति गतिः—नारक्त्यादिपर्यायपरिणतिः, सा
 चतुर्था, तद्यथा—नरकगतिस्त्रियर्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिस्त्रिज्वनक नाम गतिनाम, तदपि चतुर्था, ‘नरकगतिनामे’—

स्यादि, तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणामलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशमाह यत्सामान्य सा
 जातिस्त्वञ्चक नाम जातिनाम, इदमत्र तात्पर्यं—द्रव्यरूपमिन्द्रियमज्ञोपाज्ञनामेन्द्रिय पर्यासिनामसामर्थ्यसिद्धं, भा
 यरूप तु स्वर्धनादीन्द्रियावरणखयोपशमसामर्थ्यात्, 'क्षायोपशमिकाणीन्द्रियाणी'ति ष घनात्, यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्
 द्प्रवृत्तिनिवधनं तयारूपसमानपरिणतिलक्षण सामान्यं तदनन्यसाध्यत्वाज्जातिनिवन्धनमिति, तत्र जातिनाम
 पञ्चधा, तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम यावत्सद्येन्द्रियजातिनाम, तथा स्त्रीर्येते इति शरीर, तत्पञ्चधा, तद्यथा—औ
 दारिकं वैक्रियमाहारकं तैजस कर्मणं, एतानि प्रागेव व्याख्यातानि, तन्निवधन नामापि पञ्चधा, तद्यथा—औवा
 रिकनाम वैक्रियनाम इत्यादि, तत्र यदुदयादौदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुत्रलानादाय औदारिकशरीररूपतया परि
 णमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सह परस्परानुगमरूपतया सम्बधयति तदौदारिकशरीरनाम, एव शेषशरीरना
 मान्यपि मावनीयानि, 'सरीरोपाज्ञनामे'ति शरीरस्वाज्ञान्यष्टौ श्चिःप्रवृत्तीनि, उक्त च—'सीससुरोयरपिष्टी दो चाद्
 करुया य अट्टगा [शीर्षमुवर वृष्टिर्दो वाद् उरुषी चाष्टाज्ञानि] इति, उपाज्ञानि अज्ञानि अज्ञानि अज्ञानि अज्ञानि अज्ञानि
 तत्रत्यथयवभूतान्यहृत्पर्वरेखादीनि अज्ञानि अज्ञानि च उपाज्ञानि ष २ अज्ञानि अज्ञानि ष २ अज्ञानि अज्ञानि "स्या
 दावसङ्क्षेपः" इत्येकशेषः, तन्निमित्त नाम शरीरोपाज्ञनाम, तत्र त्रिधा, तद्यथा—औदारिकज्ञोपाज्ञनाम वैक्रियाज्ञोपा
 ज्ञनाम आहारकाज्ञोपाज्ञनाम, तत्र यदुदयवशादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुत्रलानामज्ञोपाज्ञनिमागपरिणति-

रूपजायते तदौदारिकाश्रोपाङ्गनाम्, एष वैक्रियाहारकाश्रोपाङ्गनाम्नी अपि वाच्ये, तेजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेसस-
 स्थानानुरोधित्यान्नास्त्यश्रोपाङ्गसम्भवः, तथा वच्यतेऽनेनेति वचनं, यदौदारिकपुद्गलानां यद्गीतानां यद्दमाणानां
 च परस्परं तैजसादिपुद्गलैर्वा सह सम्बन्धजनक तद्बन्धननाम, आह च मूळटीकाकारः—“विद्यते तत्कर्म यन्निमि-
 त्ताद्यादिसयोगापत्तिरायिर्भवति, यथा काष्ठद्वयभेदैक्यस्य कारणे जतु कारण”मिति, तत्र पञ्चधा, तद्यथा—औदारि-
 कबन्धननाम वैक्रियबन्धननाम आहारकबन्धननाम तैजसबन्धननाम कार्मणबन्धननाम, तत्र यदुदयवशात् औदा-
 रिकपुद्गलानां यद्गीतानां यद्दमाणानां च परस्परं तैजसादिपुद्गलैश्च सह सम्बन्ध सपजायते तदौदारिकबन्धनं, यदु-
 दयवशाद्वैक्रियपुद्गलानां यद्गीतानां यद्दमाणानां च परस्परं तैजसकार्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तद्वैक्रियबन्धनं, यदु-
 दयादाहारकपुद्गलानां यद्गीतानां यद्दमाणानां च परस्परं तैजसकार्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तदाहारकब-
 न्धनं, यदुदयात्तैजसपुद्गलानां यद्गीतानां यद्दमाणानां च परस्परं कार्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्ततैजसबन्धननाम,
 यदुदयात् कार्मणपुद्गलानां यद्गीतानां यद्दमाणानां च परस्परं सम्बन्धस्तत्कार्मणबन्धननाम, तथा सहायन्ते—पि-
 ण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्सहात तत्र तन्नाम च सहातनाम, तदपि पञ्चधा, तद्यथा—औदारिकसहा-
 तनाम वैक्रियसहातनाम आहारकसहातनाम तैजससहातनाम कार्मणसहातनाम, तत्र यदुदयवशादौदारिकशरी-
 रारथनाडनुकारिसहातरूपा जायते तदौदारिकसहातनाम, एष वैक्रियादिशरीरसहातनामस्वपि भावनीयं, ‘सघयण-

नामे' इति सहननाम, सहनन—अस्थिरचनाविशेषः, आह च मूल्टीकाकारः—“सहननमस्थिररचनाविशेषः” इति, तेन च ग्राह सूत्रे शक्तिविशेष एव सहननमिति, तथा च तद्वन्धः—‘सुचे सच्चिविसेसो संघयण’मिति स आन्त, मूल्टीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना सहननस्यास्थिररचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात्, यत्त्वेकेन्द्रियाणां सेवार्थसहननमन्यत्रोक्तं तत् टीकाकारेण समाहितं, औदारिकशरीरत्वाद्युपचारत इवमुक्तं द्रष्टव्यं न तु तत्त्वदृश्येति, यदि पुन शक्तिविशेषः स्यात् ततो देवानां नैरपिकाणा च सहननमुच्येत अथ च ते सूत्रे साक्षादसहननिन उक्ता इत्यल उरसूत्रग्रन्थरूपकयिस्वर्दिदेषु, स चास्थिररचनाविशेष औदारिकशरीर एव नान्येषु तेषामस्थिररहितत्वात्, तच्च योदा,

१ नठसिद्ध भिन्नवसमीष यत्सधो न भीमकरिमद्रसूरिसूत्रिवाया दृशौ कश्चिद्विषयुद्धेस्तः, न चानुकोपाह्वसभावना यतः तेन नितव क्षणेन विदिशे तदनुसारिनिम्न निदृते सूत्रमार्थसार्थशतके स्पष्टमश्लोक्यते चतुर्दश्यां गायार्थो “सुचे सच्चिविसेसो संघयणमिहट्टिनिषट”चि सूत्रे, व्याख्याने च—तथा सूत्रे—आगमे शक्तिविशेषः सहननमुच्यते, कोऽमित्रायः?—वर्षर्पमनाद्यपविशद्यस्य सहननमभिप्रायकस्य शक्तिविशेषे यामिप्रायश्चत्वा व्याख्यातवान् शक्तिविशेषे सहननमागमे प्रोच्यते । ईदृशं च सहननं देवनारफपोरपीष्यत एव, तेन वेवा वर्षर्पमनाद्यपसहननिनो नारका सेवार्थसहननिन इत्यागाममिमायतो बोद्धव्य । इह तु प्रत्येऽस्मिन्विषयटीलिकाविरूपाणामस्मासेव रचनाविशेषः सहनन योऽन्य, एतद्व्यासिनिषयरूपं सहननमौदारिकशरीर एव, नान्येषु सेपाणामरूप्याद्यभावाविति गायार्थः ॥ व्याख्याकारः पञ्चवश्यमपि गायार्थो साश्रेयसमिदृशो यथा मत्राह—ननु “नरद्विरियाणं हृषिय, हर्षति विगलिधियाण छेष्टुः”मिति वचनत्वात् यो विकलेन्द्रियाणां वि

वीक्षित्वादीनां षोडशसहस्रनोवसोऽभ्युपगताः सोऽरुध्यमाने कृष संगच्छते । इत्यत्रोच्यते—योऽयमस्त्रिविन्यासप्रयत्नोऽभिहितोऽसौ बलप्रक-
 र्पस्यापकोऽव एष सूत्रे शक्तिविशेषः सहननमुक्तं, अन्यथोमयमर्कटप्रष्टुफीलिकाप्रयत्ने सति गात्रसकोषविकाशामावो भाव्येठ । अतः
 विपीक्षित्वादीनां द्वादशस्थानां यद्यप्यस्तीनि न संभाव्यन्ते तथापि कायबलमधिकृत्य सहननमुच्यते, तथाह—लोकेऽस्त्रिसन्नावेऽप्यस्यबलः
 पुरुषोऽसंहनन एव व्यपन्निरयते । ततः शक्तिमेवेत्य वेपां सहनन वेदियम्बं । अथवा शङ्खशीनां द्वीन्त्रियाणामपि इत्यन्ते एवास्तीनि, पि
 वीक्षित्वादीनां तु सूत्रमत्वात्केवलमग्न्यानीति न कश्चिद्विरोध इति पञ्चसहस्रमहामिप्राय । इतीदं पद्विचं सहननमस्त्रिसविचयात्मकं यदुदयान्
 षति क्षीरे तवपि तत्संश्लिष्ट पद्विच सहननमकर्ममिति गायार्थः ॥ प्रसारकसमाशुत्रिसे प्रस्त्रावनाकर्तृभिविधितं च तत्र “सहननव्याख्याधिकारे
 यदुक्तं—“युक्ते सचिविसेसो” तत्र समयविभिन्नः समालोचनीय समयेष्वस्त्रिचरनारमकस्यैव स्वीकृतत्वात्, यदुक्तं विवाहप्रकृतिपृथौ सूत्रम्
 सूत्रमठरपरवार्धसार्धवर्णनोद्देशानानि कालसंघट्टमिष्यात्वाविरतकृपायापन्तरपविर्गस्वात्कृत्वापापवित्तमूलककर्माष्टकमहामलापनयनश्रमनाना
 विषयमभियमप्राप्तोर्मिमुक्त्वाचित्तमुवनापूर्णगाढतरुः तत्रसमर्थकपायाणाम्पीत्यागतधिरंतनमुमिपुङ्गवजीवनधरनिर्भयश्रीभोपशोभिसे सिद्धान्त
 रत्नाकरे बुल्यमारकराक्षसेन कञ्जलीयमानमेषामुर्वलानामैवंगुणजनानां प्रवेशाय सरलनवाङ्गवाधिवृत्त्या पदवटैः विद्युपेनार्थनीयकर्मकजैः
 भीमदभयदेवसुरिपादैः—“इह सहननं अस्त्रिचरनाविज्ञेयः” । तथा चरणसप्तशिररजोभिः पवित्रितमूमण्डलैः भीमदेवमद्रसूरिपादैः द्वे
 लोच्यशीपिकापुत्रावपि तथैवामिषानात् । तत्पाठश्चायम्—“सहनन्यन्त्रे सहविविशेषं प्राप्यन्ते शरीररुष्यवयवाः यैस्त्वानि सहननामि इहहृत्त
 रायवः क्षरीररंध्याः” । ननु तर्हि एकेन्द्रियाणां सेवार्थंसहनन जीवाभिगमोपाङ्गे विद्युधानां च वक्ष्यंमनापचं प्रहापनावौ प्रोक्तमस्ति तत्र
 भवतां का गस्तिरिति चेत्, न, एकाद्याणां सुधाशिनों च शक्तिमयेत्यौपचारिकमुक्तं, तथाहि—एकाद्याणामत्यन्तवास्थीयसी शक्तिरेतत्प्रशक्तिविषय

म्य सेवावसंहननस्य तदौदारिकशरीरसञ्चयमात्रमेत्य द्रष्टव्यं, निर्भयानामपि चक्रवर्तिभ्योऽप्यत्यन्तमहती शक्तिः सा च प्रथमसंहननविषयो
 इति । न चैतत्प्रथमशक्तिः सूत्रे शक्तिविशेषं(पः) सहननमुक्तं, वृत्तिहृत्वा तु तदभिप्रायः प्रकटीकृतः, तत् किमर्थं भवन्ति? समालोचनीयमुच्यते
 इति याच्यं, प्रथमशक्तिस्तु “सुष्ठु सत्त्विससतो” इत्यनेन सूत्रे शक्तिविशेष(पः) सहननं सत्त्वापितं, वृत्तिकारेणपि तदेवातिदृढीकृतं, न त्वौप
 चारिकमुक्तं, ननूपचारोऽपि सदस्तुन एव क्रियते, नत्वसदस्तुन इति चेत्, सत्यं, परम्—“अत्रस्मिन् तदव्यवसायः उपचारः” इति वचनान्तरं
 उपचारोऽप्यसत्येन सदस्तुनो न तु सदस्तुमि सदस्तुन । अपि च सूत्रे शक्तिविशेषः सहननं स्यात् तर्हि जीवागिगमसूत्रे क्वच वेवनारका
 असहननाः प्रोच्यः, तथा च तद्वच्यं—“सुरनेरइया छण्डं सपयणाय असपयया” इति, पुनः तत्रैव हेतुमद्भवेनोक्तं—‘नेवही नेव सिर
 नेव ज्हारु नेव संपयपणमट्टी’ति । किं च सूत्रे शक्तिविशेषः सहननं तर्हि गर्भजनरतिरत्नमपि प्रथमशक्तिप्रयोगेण सूत्रे शक्तिविशेषः सहननं-
 मुक्तं स्यात्, तत्र कुत्रपिवागमे नोपलभ्यते इति, एतन्न स्वमनीषिकाया विनृभित्, किं तूत्पत्तिविनाशादिजीवनानुपूर्णेनमवाब्धिमिमञ्जतस्तत्त्वोद
 रणयोवापमानै भीमम्मध्यगिरिसुरिपादैः जीवाभिगमापुपांगपृष्टिषु तथैवोक्तेस्तः कृतः । तद्रूपवशात्प्रथमम्—“अस्मिन्निश्चयात्मकं च सहननमतोऽ-
 रण्यापमावात्सहननानि क्षरीराणि, इयमत्र भावना—इह तत्त्ववृत्त्या सहननमस्मिन्निश्चयात्मकं, यत्तु प्रागेकेन्द्रियाणां सेवार्थसंहननमभ्य
 धायि तदौदारिकशरीरसंघचमात्रमपेत्यौपचारिकं, देवा अपि यदभ्यत्र प्रज्ञापनादौ वक्ष्येयमनाद्यसंहनननिनः वच्यन्ते तेऽपि गौणवृत्त्या,
 तथाहि—इह यादृशी मनुष्यलोके चक्रवर्त्योर्विशिष्टवर्षमनाद्यसहननमितिः सकृद्येयमनुष्यजनासाधारणी शक्तिः—‘वो सोळा बचीसा सब
 बळेण तु संकळनिपद्ध’मित्यादिना, ततोऽप्यधिकतर देवानां पर्वतोत्पाटनाविषयया भूयते न च क्षरीरपरिक्षिप्त इति तेऽपि वक्ष्येयमनाद्यस
 सहनननिनः वच्यः, न पुनः परमार्थतत्त्वे सहनननिनः, ततो नारकाधामस्थमावात् सहननामाव । एतेन चोऽपरिणतमगवत्सिद्धान्तसारो

वाचवृक्षः सिद्धान्तवादानुस्यमात्मनाः स्थापयमेव प्रकटाप “सुप्ते सच्चिविसेसो सपयजसिद्धट्टिनिबन्धो” इति सोऽपाक्षिणो ब्रह्मव्यः । साक्षा
 इत्रैव सूत्रेऽस्मिन्निचयात्मकस्य सहननस्याभिधानात् । अरुध्यमात्रे सहननप्रतिषेधात् इति (जीवाभिगमसू० ३२) एवमेव त्रैलोक्यवीथिका
 दृषावप्युल्लेखित । तस्य पुनः कस्यैसा जानन्ति” ॥ अत्र नैव वाच्यं यदुपोपसर्जनानुपसर्जनकृत एव विशेषो यतः भीमस्मिन्निबन्धसूरिप्राये
 रपि भावदयकदृष्टव्यौ “इह परैर्यन्मृतास्त्रिसंशयोपमितः शक्तिविशेषः सहननमुच्यते न त्वस्त्रिसंशय एव, देवानामस्त्रिदिवानामपि प्रथम
 सहननमुच्यतात्” इति वचनेन शक्तिविशेषरूपस्यैव सत्त्वाङ्गीकारविति, भावौ धावात् क एव तावत्त्वेत् गणनां विदुषेपु यो मुख्यं सूर्यं व्यो
 क्षिरिज्जणमाख्याय ज्योतिरिज्जणमेव ज्योतिरिज्जणवया व्याहरेत् !, नैव चेत् कश्चित् कश्चिन्मिव व्याकृतं सूत्रेऽस्मिन्निचयस्य सहननवाच्यत्वानिये
 याप ‘सुप्ते सच्चिविसेसो’ इत्यादि, भावदक्षिणोऽपि अस्मिन्निचयस्यैव सहननवाच्यता स्पष्टैव, एत उच्यते ‘इह चेत्यादि’ अन्यथाभियुक्त-
 मर्तं तु केवलमेवास्मिन्निचय सहननशब्दवाच्यत्वयाऽपेक्षितमपाङ्कुर्यात् न तु शास्त्रसिद्ध सहननस्यास्मिन्निचयवाच्यतापक्षं, तथा च देवाना-
 मापसहननिवा शक्तिविशेषोपेक्षिणी एकैन्त्रियाणामन्त्यसहनमितौषारिकक्षरीरसत्त्वाऽपेक्षिणीत्येवं भवत्यौपचारिकी ननु अस्मिन्निचयस्यौपचा-
 रिक्तत्वं सहननशब्दवाच्यतायां केषातोऽपि, एतौ युक्तमेवोक्तं भीमस्मिन्निबन्धसूरिचरैरुत्तरीकृत्य जिनवल्लभगणिसत्क ‘सुप्ते
 सच्चिविसेसो’ इति वचनं ‘इत्यज्जुःसूत्रप्ररूपकवित्स्त्रियतेषु’ इत्येव कुमार्गमृगसिंहनाथीय वचनं, एव च ‘सादृश्या परिनिबन्धे’ इति वचनस्य
 कस्याणकरवया व्याख्यान गर्भापहारस्य पठकस्याणकरवया व्यञ्जीकृतस्य सत्येव मुखमलङ्काराणां शोभते न सूत्रानुसारिणां भीमवृद्धिरित्यत्रा-
 पार्याभयदेवसूरिब्याख्यावरीवरभीमवृद्धिर्मानस्यामिच्छस्याप्यशक्यवित्त्वानामित्येवं चसूर्या ।

तथया—यर्प्रमनाराच ऋपमनाराच नाराच अर्द्धनाराच कीलिका सेवार्त्तं च, तत्र वञ्ज—कीलिका ऋपम—परि-
पेटनपट्ट नाराच—उभयतो मर्कटबन्धः, उक्तं च—“रिसहो य इोइ पट्टो वञ्ज पुण कीलिया मुणेयवा । उमवो
मफट्टवधो नाराय त धियाणादि ॥ १ ॥ [ऋपमम भवति पट्टो यञ्ज पुनः कीलिका ज्ञातव्या । उभयतो मर्कटबन्धो
यत्नं नाराच विजानीहि ॥ १ ॥] ततश्च द्वयोरस्योरुभयतो मर्कटबन्धनवद्भयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्था परिवे-
ष्टितयोरुपरि तदस्मिन्नयमेदि कीलिकास्य यत्रनामकमस्य यत्र भवति तद्वर्प्रमनाराचसहनन, यत्पुनः कीलिकार-
हित सहनन तत् ऋपमनाराच, यत्र त्यस्त्वां मर्कटबन्ध एव केवलो भवति तत्सहनन नाराच, यत्र त्वेकपार्थेन
मर्कटवधो द्वितीयपार्थे च कीलिका तद्वर्द्धनाराचसहनन, यत्रास्थीनि कीलिकामात्रवद्धान्येष भवन्ति तत्सहनन
कीलिकास्य, यत्र पुनः परस्परपर्यन्तमात्रसंस्पर्शलक्षणं सेवामागतानि अस्थीनि नित्यमेव सेवाम्यङ्गादिरूपां परि-
शीलनामाकाङ्क्षन्ति तत्सेवार्त्तसहनन, एतन्नियन्धन सहनननामापि पोढा, तथया—वर्प्रमनाराचसहनननाम ऋपम-
नाराचनाम नाराचनाम अर्द्धनाराचनाम कीलिकानाम सेवार्चनाम, तत्र यदुदयात् वर्प्रमनाराचसहनन भवति
तत् वर्प्रमनाराचसहनननाम, एव शेषसहनननामस्यपि भावनीय, तथा संस्थान-भाकारविशेषस्त्वेष्वेय गृहीतसञ्जाति-
तपद्वेषु बौवारिकादिषु पुष्टेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयाद् भवति तत्संस्थान, एतच्च पोढा, तथया—समचतुर-
त्रसंस्थाननाम यमोद्यपरिमण्डलसंस्थाननाम साविसंस्थाननाम वामनसंस्थाननाम कुण्डसंस्थाननाम पुण्डसंस्थान-

नाम च, तत्र यदुदयादधुमतां समधतुरसस्थानमुपधायते तत्समधतुरससंस्थाननाम, यदुदयासु न्यम्रोधपरिम-
 ष्टुल सस्थान तन्न्यम्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, एवं श्लेषाण्यपि षाध्वानि, तथा धर्ष्यते-जलक्रियते शरीरमनेनेति
 वर्णः, स च पञ्चप्रकारः श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णमेवात्, तन्निघन्धन नामापि पञ्चधा, तद्यथा—श्वेतवर्णनाम पीतवर्ण-
 नाम रक्तवर्णनाम नीलवर्णनाम कृष्णवर्णनाम, तत्र यदुदयाञ्जन्तुशरीरेषु श्वेतवर्णप्रादुर्भावो यथा विशकण्डिकाणां
 तत् श्वेतवर्णनाम, एव श्लेषवर्णनामान्यपि भावनीयानि, तथा 'गन्ध अर्धने' गन्धयते—आप्रायते इति गन्ध, स
 द्विधा—सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च, तन्निघन्धन गन्धनामापि द्विधा, तद्यथा—सुरभिगन्धनाम दुरभिगन्धनाम च,
 तत्र यदुदयाञ्जन्तुशरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते यथा श्वेतपत्रमालतीकुसुमादीनां तत्पुरभिगन्धनाम, यदुदयाद् दुर-
 भिगन्ध शरीरेषूपजायते यथा लज्जुनादीनां तत् दुरभिगन्धनाम, तथा 'रस आस्वादनश्लेहनयोः' रस्यते आस्वाद्यते
 इति रसः, स पञ्चधा, तिरक्तकटुकपायाम्लमधुरमेवात्, तन्निघन्धन रसनामापि पञ्चधा, तद्यथा—तिरक्तनाम कटु-
 नाम कपायनाम अम्लनाम मधुरनाम, तत्र यदुदयात् जन्तुशरीरेषु तिरक्तो रसो भवति यथा मरिचादीनां तत्तिरक्त-
 सनाम, एवं श्लेषाण्यपि रसनामानि मावनीयानि, तथा 'स्युश सस्यर्धे' स्युस्यते इति स्युर्धः, 'अकर्धरी'ति षञ्प्रत्य-
 यः, स च कर्कशमृदुलयुगुरुस्निग्धरूक्षशीतोष्णमेवावष्टप्रकारः, तन्निघन्धन स्युर्धनामाप्यष्टप्रकार, तत्र यदुदयाञ्जन्तु-
 शरीरेषु कर्कश स्युर्धो भवति यथा पायाणविशेषादीनां तत्कर्कशस्युर्धनाम, एव श्लेषाण्यपि स्युर्धनामानि भावनी-

यानि, तथा यदुदयात् प्राणिनां शरीराणि न गुरुणि नापि लघूनि किन्धगुरुलघुरूपाणि मयन्ति तदगुरुलघुनाम,
तथा यदुदयात् सशरीराययैरेष शरीरान्तः परियर्द्धमानैः परियर्द्धमानैः प्रतिजिह्वागलदृन्दलम्बकचोरदन्तादिभिरुपहन्यते यद्वा
स्वयकृतोद्घ धनभैरयप्रपाताविस्त्रदुपधातनाम, यदुदयात् पुनरोजस्वी वर्द्धनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभा-
मपि गतः सम्भानामपि प्राप्तमापादयति प्रतिषादिनम् प्रतिभाविधात करोति तत्पराधातनाम, तथा कूर्परलाङ्ग-
लगोमृत्रिकाफारेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन धिम्रहेण मधान्तरोत्पच्छिस्थान गच्छतो जीयस्यानुद्रेणिनियता
गमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकबंध नामकर्मोपि कारणे कार्योपचारात् आनुपूर्वी नाम, तच्च चतुर्धा, तद्यथा—
नैरयिकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनाम मनुष्यानुपूर्वीनाम देवानुपूर्वीनाम, तथा यदुदयधन्नादात्मन उच्छ्वासनि-
धासलब्धिरुपजायते तदुच्छ्वासनाम, आह—यथेषमुच्छ्वासपर्यासिनाम्नः कोपयोगः ? उच्यते, उच्छ्वासनाम्न उच्छ्वास-
निधासयोग्यदुद्गलम्रदणमोक्षविषया लब्धिरुपजायते, सा च लब्धिनोच्छ्वासपर्यासिमन्तरेण स्वफल साधयति, न
सह इदुक्षेपणन्नकिमानपि धनुर्मदणशक्तिमन्तरेण क्षेप्तुमल, तत उच्छ्वासपर्यासिनिष्पादनार्थमुच्छ्वासपर्यासिनाम्न
उपयोगः, एवमन्यत्रापि यथायोग भिन्नविषयता सूक्ष्मधिया भावनीया, तथा यदुदयात् जन्तुशरीराणि स्वरूपे
णानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमासप कुर्वन्ति तदातपनाम, तद्विपाकम् मानुमण्डलगतेषु पृथिवीफायिकेष्वेव न
यक्षौ, मन्चनेऽपि निषेधात्, तत्रोष्णान्यमुष्णस्पर्शनामोदयात् उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति, तथा

यदुदयाञ्चन्द्ररीराण्यनुष्णाप्रकाशरूपमुपोत कुर्वन्ति यथा यत्तिदेवोच्चरैवैक्रियचन्द्रनक्षत्रतारविमानरौपधयस्त्रु-
घोतनाम, तथा विहायसा गति — गमन विहायोगतिः, ननु सर्वगतत्वात् विहायसखतोऽन्यत्र गतिर्न सम्भवतीति
किमर्थं विशेषण ? व्ययच्छेद्यामावात्, सत्यमेतत्, किन्तु यदि गतिरेयोच्यते ततो नाम्नाः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्वी-
ति पौनरुक्त्याञ्च सात्, अतस्त्रद्व्यवच्छेदार्थं विहायसा गतिः, न तु नारकादिपर्यायपरिफितिरूपेति विद्यायो-
गतिः, सा द्विविधा—प्रश्रद्धा अश्रद्धा इत्यस्या हसगजवृषभादीनां अश्रद्धा खरोष्ट्रमहिषादीनां, तद्विपाक-
वेद्य विहायोगतिनामकर्म द्विधा—प्रश्रद्धविहायोगतिनाम अश्रद्धविहायोगतिनाम चेति, तथा प्रसन्ति—उ-
ष्णाद्यमितसाः सन्तो विषधितस्थानादुद्विजते गच्छन्ति च छायाथासेवनार्थं स्थानान्तरमिति प्रसा—द्वीन्द्रियाद-
यस्त्रपर्यायपरिणतिषेध नामकर्मोपि प्रसनाम, तथा यदुदयादुष्णाद्यमितार्थेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्था पृथिन्यपत्ते
जोयायुयनस्पतय स्थावरा जायन्ते तत् स्थायरनाम, तथा धावरनाम यदुदयाज्जीया धावरा भवन्ति, धादरत्य परि-
णामयिज्ञेप, यद्वद्वात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्भ्रामत्वामावेऽपि यद्वनां समुदाये चक्षुषा प्रहण भवति,
तद्विपरीत सूक्ष्मनाम, यदुदयाद्वह्नामपि समुदिताना जन्तुशरीराणां चक्षुर्भ्रामता न भवति, उक्तं च श्रायकप्रज्ञसि-
मूढटीकार्यां—“सूक्ष्मनाम यदुदयात् सूक्ष्मो भवति, बलन्तसूक्ष्मोऽतीन्द्रिय इत्यर्थः” इति, पर्याप्तकनाम यदुदयात्
स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्यत्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तिनाम—आहारादिषुदुग्धप्रहणपरिणमनधेतुरात्मनः शक्तिविशेषः,

प्तश्च प्रागेवोक्तमिति, तद्विपरीतमपर्याप्तकनाम, तथा यदुदयात् जीव जीव प्रति भिन्न शरीर तत्प्रत्येकनाम, यदु-
 दययथात् पुनरनन्तानां जीधानामेक शरीर भवति तत्साधारणनाम, तथा यदुदयवशात् शरीरावयवानां शिरोऽस्थि-
 दन्तानां स्थिरता भवति तत्स्थिरनाम, तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयवशाच्चिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तद-
 स्थिरनाम, तथा यदुदयाच्चाभेदपरितना अवयवाः शुभा प्रायन्ते तत् शुभनाम, यदुदयवशात् नाभेरघस्रना पादाद-
 योऽवयवा भङ्गना भवन्ति तदङ्गनाम, तथाहि-शिरसा स्पृष्टस्युच्यति पादेन तु रुच्यति, कामिन्या पादेनापि स्पृष्टः
 तोपमुपयाति ततो व्यभिचार इति चेत्, न, तस्य परितोपस्य मोहनीयनिवघनत्वात्, वस्तुस्थितिभेद चिन्त्यते
 इत्यदोषः, तथा यदुदयवशादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनाम, तद्विपरीत दुर्मगनाम, यदुदयादुप-
 कारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति, तच्छ ष—“अणुवकपि षड्गण जो दु पिबो तस्स सुभगनामुदबो । उवगारकारगो
 वि दु न रुषए दुग्मगस्सुदए ॥ १ ॥ सुभगुदपवि दु कोई किंघी आसज्ज दुग्मगो जइवि । जायइ तदोसागो
 जइआ भमवाण तित्यचरो ॥ २ ॥” [अनुपकृतेऽपि षड्गणां यः प्रियस्तस्य सुभगनाच्च उदयः । उपकारकारकोऽपि
 न रोषते दौर्भाग्यस्योदये ॥ १ ॥ सुभगस्योदयेऽपि कश्चित्कश्चिदासाद्य दुर्मगो यद्यपि । जायते तदोपात् यथाऽमभ्याना
 तीर्थकर ॥ २ ॥] तथा यदुदयवशात् जीवस्य स्वरः श्रोत्रेण प्रीतिरेतु उपजायते तत्सुस्वरनाम, तद्विपरीत दुःस्वर-
 नाम यदुदयात् स्वरः श्रोत्रेणामप्रीतये भवति, तथा यदुदयवशात् यन्नेष्टे मापते वा तत्सर्वं लोक प्रमाणीकरोति

दर्शनसमनंतरमेव च जनोऽभ्युत्थानादि समाचरति तदादेयनाम, तद्विपरीतमनादेय, यदुदयवशादुपपन्नमपि बुधाणो
 नोपादेयवधनो भवति नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्यसाम्युत्थानादि समाचरति, तथा तपःशौर्यत्यागादिना समु-
 पादितेन यशसा कीर्त्तन—सशब्दनं यद्वा कीर्त्तिः, यद्वा यशः—सामान्येन ख्याति कीर्त्तिः—गुणोत्कीर्त्तनरूपा
 प्रशसा अथवा सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्त्तनीयगुणता यशः एकदेशगामिनी पुण्यकृता वा
 कीर्त्तिः ते यदुदयवशाद्भवत्सद्यशःकीर्त्तिनाम, यदुदयवशात् मर्यादयस्यापि जनस्याप्रशस्यो भवति तदयशःकीर्त्तिनाम,
 तथा यदुदयपन्नाञ्जन्तुशरीरेषु स्वस्वजात्यनुसारेणाङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्त्तिता भवति तन्निर्माणनाम, तथ
 सूत्रधारकल्प, तदभाषे हि तद्भूतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्त्तितानामपि श्रिडरउदरादीनां स्याच्चतुरनियमः
 स्यात्, तथा यदुदयवशात् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाम्तुस्त्रिदशदतिशया प्राबुध्यन्ति तर्त्तीर्थकरनाम, तदेवमुक्ता
 नामकर्मणो द्विचत्वारिंशद्रेवाः, सम्प्रत्येतेषामेव गत्यादीनामभान्तरमेवप्रतिपादनार्थमाह—‘गङ्गानामे ण भते ! कम्मे
 कश्चिद्वे प०’ इत्यादि, समस्तमपि निगदसिद्धम्, उक्ता नामकर्मणो भेदाः, सम्प्रति गोत्रकर्मभेदानाह—‘गोप ण
 भते !’ इत्यादि, यदुदयवशादुत्तमजातिकुलबलतपोरूपैर्धर्मश्रुतसत्काराम्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रहादिसम्भवस्तु-
 र्गोत्रेण, यदुदयवशात् पुनर्ज्ञानादिसम्पन्नोऽपि निन्दां लभते हीनजात्यादिसम्भव च तत् नीचैर्गोत्र, उक्तौ गोत्रमे-
 दौ, सम्प्रति तयोरेव भेदानाह—‘उषगोप ण भते ! कम्मे कश्चिद्वे प०’ इत्यादि सुगम, सम्प्रति अन्तरायभेदानाह—

‘अतराए ण मते ! कम्मं कइयिहे’ इत्यादि, तत्र यदुदयवशात् सति विभये समागते च गुणयति पात्रे दत्तमसौ महाफलमिति जानन्नपि दातु नोत्सहते तदानान्तराय, तथा यदुदयवशादानगुणेन प्रसिद्धावपि दातुर्हे द्वे विद्यमानमपि देयमर्थज्ञात याञ्चाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तछामान्तरायं, तथा यदुदयवशात् सत्यपि विश्वि-
 दाहाराविसम्मथेऽसति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा केषलकार्पण्याभ्रोत्सहते भोक्तु तन्नोगान्तरायमेवमुपमो-
 गान्तरायमपि मायनीय, नवर भोगोपभोगयोरथ विद्वेषः—सकृद् मुज्यते इति भोगः—आहारमाल्यादि, पुन पुनर्मु-
 ज्यते इत्युपमोगो—वञ्जालङ्कारादि, उक्त च—“सइ सुञ्जइत्ति भोगो सो पुण आहारपुष्फमार्ईओ । उवभोगो उ-
 पुणो पुण उवमुञ्जइ वतययिलयाइ ॥ १ ॥” [सकृद् मुज्यते इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिकः । उवभोगस्तु पुनः पुनरु-
 पमुज्यते वञ्जवनितादिः ॥ १ ॥] तथा यदुदयात् सत्यपि नीरुञ्जि शरीरे यौवनिकायामपि वर्धमानोऽल्पप्राणो
 मयति यद्वा बलवत्यपि शरीरे साध्मेऽपि प्रयोजने हीनसम्पत्तया न प्रवर्त्तते तद्दीर्घान्तराय, उक्तो मूलोचरप्रकृति-
 विभागः, सम्प्रति उत्तरप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनं चिकीर्षुः प्रथमतो ज्ञानावरणीयस्य पञ्चप्रकारस्यापि
 विषये प्रथमसूत्रमाह—

जाणावरणिअस्स भ भंते ! कम्मस्स केवतिवं कालं ठिठी प० ? , गो० ! बह्व्येणं अंतोसुद्धुचं उक्कोसिणं सीसं सागरोवम
 कौठाकोढीवो विष्णि य वाससइस्साइ अघाहा, अनाइणिमा कम्मठिठी कम्मनिसेगो, निरापचगस्स णं मते ! कम्मस्स

केवतिं कालं ठिवी पं० ? गो० ! बह० सागरोवमस्त तिवि सचमागा पलिवोवमस्त असंखेखतिमार्गेणं उगिया,
 तकोसिर्णं वीसं सागरोवमकोढाकोढीवी, तिवि य वाससहस्ताई अबाहा, अबाहणिया कम्मट्टिवी कम्मनिसेगो, वंसण
 चठकस्त यं मंते ! कम्मस्त केवइय कालं ठिवी पं० ? गो० ! बह० उ० तीसं सागरोवमकोढाकोढीवी,
 तिवि य वाससहस्ताई अबाहा०, सायावेयणिअस्त ईरियावदिनं पंघर्णं पइय अबहणमपुकोसेर्णं दो समयया संपराइय
 घर्णं पइय ज० बारस युडुणा, उ० पण्यरस सागरोवमकोढाकोढीवी, पण्यरस वाससयाई अबावा०, असावावेदपिअस्त
 बह० सागरोवमस्त तिवि सचमागा पलिवोवमस्त असंखेखतिमार्गेणं उगिया उ० तीसं सागरोवमकोढाकोढीवी,
 तिवि य वाससहस्ताई अबाहा, सम्मचवेयणिअस्त पुच्छा, गो० ! ब० अंतो० उ० छावटि सागरोवमाई साविरगातिं,
 मिच्छचवेयणिअस्त बह० सागरोवमं पलिवोवमस्त असंखेखतिमार्गेण उग्यं उ० सचरि कोढाकोढीवी, सच य
 वाससहस्ताई अबाहा, अबाहणिया०, सम्माभिच्छचवेयणिअस्त ब० अंतो० उ० अंतो०, कसायपारसगस्त ब० साम
 रोवमस्त चचारि सचमागा पलिवोवमस्त असंखेखामार्गेणं उगिया, उको० घचालीसं सागरोवमकोढाकोढीवी, चचान-
 तीसं वाससवाई अबाहा जाव निसेगो, कोहसंजलने पुच्छा, गो० ! बह० दो मासा उको० घचालीसं सागरोवमको-
 ढाकोढीवी घचालीसं वाससवाइ अबाहा जाव निसेगो, मापसंबलजाते पुच्छा, गो० ! ब० मासं उ० जहा कोहस्त,
 मापासंबलजाते पुच्छा, गो० ! ब० अदं मासं उ० जहा कोहस्त, कोहसंबलपाए पुच्छा, गो० ! ब० अंतो० उ०
 अहा कोहस्त, इतियवेयस्त पुच्छा, गो० ! बह० सागरोवमस्त दिवटु सचमागं पलिवोवमस्त असंखेखामार्गेण उग्य

उक्तो० पण्यरस सागरोवमकोढाकोढीतो पण्यरस वाससत्ताई अवाहा०, पुरिसवेदस्स णं पुच्छा, गो० ! अह० अह संवच्छ-
 राति० उक्तो० इत्थं सागरोवमकोढाकोढीतो इत्थं वाससत्ताई अवाहा वाव गिसेगो, णपुंसगवेदस्स णं पुच्छा, गो० ! अह०
 सागरोवमस्स देवणि सत्तमागा पल्लितोवमस्स असंखेज्जसत्तमागेणं उणया, उक्तोसेण धीसं सागरोवमकोढाकोढीतो धीस
 य वाससत्ताई अवाहा०, हासरतीणं पुच्छा गो० ! अह० सागरोवमस्स एक सत्तमाग पल्लितोवमस्स असंखेज्जसत्तमागेणं
 उक्तं उक्तो० इत्थं सागरोवमकोढाकोढीतो इत्थं वाससत्ताई अवाहा, अरतिमयसोगदुगुछाणं पुच्छा, गो० ! अह० साग-
 रोवमस्स देवणि सत्तमागा पल्लितोवमस्स असंखेज्जसत्तमागेणं उणया, उक्तो० धीसं सागरोवमकोढाकोढीतो धीसं वासस
 ताई अवाहा०, नेरइयात्तयस्स णं पुच्छा, गो० ! अह० इत्थं वाससत्ताई अंतोसुपुषमग्गदियाई उक्तो० सेत्थीसं सागरोव-
 माई पुत्तकोढीत्तिमागमम्मदियाई, तिरिक्खच्चोप्पियात्तयस्स पुच्छा, गो० ! अह० अंतो० उक्तो० उक्तो० तिष्णि पल्लितोवमाई
 पुत्तकोढीत्तिमागमम्मदियाई, एवं मत्तसात्तयस्स इत्थं नेरइयात्तयस्स इत्थं तिष्णि, निरयगतिनामए णं पुच्छा
 गो० ! अह० सागरोवमत्तइत्तस्स दो सत्तमागा पल्लितोवमस्स असंखिज्जसत्तमागेणं उणया, उक्तोसेण धीसं सागरोवमको
 ढाकोढीतो धीसं वाससत्ताई अवाहा । तिरियगतिनामए इत्थं नपुसगवेदस्स, मत्तयगतिनामते पुच्छा, अ० सागरोवमस्स
 दिवदं सत्तमागं पल्लितोवमस्स असंखेज्जसत्तमागेणं उणया उक्तो० पण्यरस सागरोवमकोढाकोढीतो पण्यरसत्तमागसत्ताई
 अवाहा । देवमतिनामए णं पुच्छा, गो० ! अह० सागरोवमत्तइत्तस्स एगं सत्तमागं पल्लितोवमस्स असंखेज्जसत्तमागेणं
 उक्तं उक्तो० इत्थं पुरिसवेदस्स, एगिदियज्जसत्तमागए णं पुच्छा, गो० ! अह० सागरोवमस्स देवणि सत्तमागा पल्लि

धीनमस्स असंखेज्जतिमागेणं ऊणया उक्कोसेणं धीसं सागरोवमकोढाकोढीतो धीसति वाससत्ताइं अवाहा, वेइदियजाति
 नामेणं पुच्छा, गो० ! जइ० सागरोवमस्स नव पणवीसतिमागा पलिवोवमस्स असंखेज्जइमागेणं ऊणया उ० अद्वारस
 सागरोवमकोढाकोढीतो अद्वारस य वाससत्ताइं अवाहा, वेइदियजातिनामाए षं जइण्णेणं एवं वेव, उक्को० अद्वारससागरो-
 वमकोढाकोढीतो अद्वारस वाससत्ताइं अवाहा, चउरिदियजातिनामाए पुच्छा, गो० ! जइ० सागरोवमस्स षव पणवी
 सतिमागा पलिवोवमस्स असंखेज्जइमागेणं ऊणया उक्को० अद्वारस सागरोवमकोढाकोढीतो अद्वारस वाससत्ताइं अवाहा,
 पंधिदियजातिनामाए पुच्छा, गो० ! जइ० सागरोवमस्स दोष्णि सचमागा पलिवोवमस्स असंखेज्जतिमागेणं ऊणया
 उक्कोसेणं धीसं सागरोवमकोढाकोढीतो धीस य वाससत्ताइं अवाहा, ओरालियसरीरएधि एवं वेव, वेउवियसरीरनामाए
 णं मंते ! पुच्छा, गो० ! जइ० सागरोवमसइस्स दो सचमागा पलिवोवमस्स असंखेज्जइमागेणं ऊणया, उक्को० धीसं
 सागरोवमकोढाकोढीओ धीसइ वाससत्ताइं अवाहा, आहारगसरीरनामाए जइ० अंतोसागरोवमकोढाकोढीओ उक्को०
 अंतोसागरकोढाकोढीओ, वेयाकम्मसरीरनामाए जइण्णेणं दोष्णि सचमागा पलिवोवमस्स असंखेज्जतिमागेणं ऊणया
 उक्को० धीसं सागरोवमकोढाकोढीओ धीस य वाससत्ताइं अवाहा, ओरालियवेउवियआहारगसरीरोवगनामाए विष्णिधि
 एवं वेव, सरीरषणनामाएधि पचण्हवि एवं वेव, सरीरसंपायनामाए पंचण्हवि जइहा सरीरनामाए कम्मस्स ठिइधि,
 धइरोसमनारायसंपयणनामाए जइहा रइनामाए, उतमनारायसंपयणनामाए पुच्छा, गो० ! सागरोवमस्स छ पणवीसति
 मागा पलिवोवमस्स असंखेज्जइमागेण ऊणया, उक्को० पारस सागरोवमकोढाकोढीओ, भारत वाससत्ताइं अवाहा०, नारा-

यसंघयणनामस्स बह० सागरोवमस्स सप्त पद्मवीसतिमागा पलितोवमस्स असंख्खेज्जतिमागेणं ऊणया उक्को० षोडस साग-
रोवमकोठाकोठीवो षडस वाससताई अवाहा०, अद्रनारायसंघयणनामस्स बह० सागरोवमस्स अह्ण पणवीसतिमागा
पलितोवमस्स असंख्खेज्जतिमागेणं ऊणया उक्को० सोलस सागरोवमकोठाकोठीवो सोलस वाससताई अवाहा०, खीलियासं-
घयणे णं पुच्छा, गो० ! ज० सागरोवमस्स नव पणवीसतिमागा पलितोवमस्स असंख्खेज्जतिमागेणं ऊणया, उक्कोसिणं
अद्वारस सागरोवमकोठाकोठीवो अद्वारस वाससताई अवाहा, छेवट्टसंघयणनामस्स पुच्छा, गो० ! बह० सागरोवमस्स
दोष्मि सत्तमागा पलितोवमस्स असं० ऊमया, उक्को० षीसं सागरोवमको० षीस ५ वाससताई अवाहा, एवं बहा संघय-
णनामाते छम्भयिया एवं संठायावि छम्भाणितवा, सुच्छिवण्यणामाते पुच्छा, गो० ! बह० सागरोवमस्स एवं सत्तमागं
पलितो० असं० ऊणगं, उक्को० दस सागरोवमकोठाकोठीवो, दस वाससताई अवाहा, हलिवण्यणामाए णं पुच्छा, गो० !
ब० सागरोवमस्स पंच अद्वावीसतिमागा पलितोवमस्स अ० मा० ऊ० उ० अद्वेतरससागरोवमकोठाकोठी, अद्वेतरस वासस-
ताई अवाहा, लोहितवण्यणामाए णं पुच्छा, गो० ! बह० सागरोवमस्स छ अद्वावीसतिमागा पलितोवमस्स असं० मार्गेहिं
ऊणया, उ० पण्यरस सागरोवमकोठाकोठीवो पण्यरस वाससताई अवाहा, नीलवण्यणामाए पुच्छा, गो० ! ब० सागरो
वमस्स सत्त अद्वावीसतिमागा पलितोवमस्स असंख्खेज्जतिमागेणं ऊणया, उक्को० अद्वारस सागरोवमकोठाकोठीवो अद्व-
द्वारस वाससताई अवाहा, काठवण्यणामाए बहा छेवट्टसंघय०, सुग्गिमंगणामाते पुच्छा, गो० ! बह सुच्छिवण्यणा-
मस्स, दुग्गिमंगणामाए बहा छेवट्टसंघयणसस, रसाणं महुरादीणं बहा वण्यणं मणितं तदेव परिवाहीते माणितवं, फाला

जे अपसत्या तेसिं जहा छेवइस्स, जे पसत्या तेसिं जहा सुच्छिवण्णनामस्स, त्रयुवल्लुणामाते जहा छेवइस्स, एव एव
 घाणनामाएवि, पराघायनामाएवि एवं वेव, निरयाणुपुबीनामाए पुञ्जा, गो० ! जह० सागरोवमसहस्सस्स दो सचमागा
 पल्लिवोवमस्स असंखेज्जविमाणेणं ऊणया, उक्को० धीसं सागरोवमकोढाकोढीओ, धीसं वाससत्ताइं अवाहा०, तिरियाणु
 पुबीए पुच्छा, गो० ! जह० सागरोवमस्स दो सचमागा पल्लिवोवमस्स असंखेज्जविमाणेणं ऊणया उक्कोसेयं धीसं
 सागरोवमकोढाकोढीओ धीसति वाससत्ताइं अवाहा०, मणुपाणुपुबीनामाए णं पुच्छा, गो० ! जह० सागरोवमस्स दिवहुं
 सचमागं पल्लिवोवमस्स असंखेज्जविमाणेणं ऊणमं, उक्को० पण्णरस सागरोवमकोढाकोढीओ पण्णरस वाससत्ताइं अवाहा०,
 देवाणुपुबीनामाते पुच्छा, गो० ! जह० सागरोवमसहस्सस्स एगं सचमागं पल्लिवोवमस्स असंखेज्जविमाणेणं ऊणयं, उक्को०
 दस सागरोवमकोढाकोढीओ दस य वाससत्ताइं अवाहा०, ऊत्तासनामाते पुच्छा, गो० ! जहा तिरियाणुपुबीए, आयवना
 माए वि एवं वेव, उच्चोयनामाएवि, पसत्थविहायोगतिनामाएवि पुच्छा, गो० ! जह० एगं सागरोवमस्स सचमागं उ०
 दस सागरोवमकोढाकोढीओ, दस वाससत्ताइं अवाहा०, अपसत्थविहायोगतिनामस्स पुच्छा, गो० ! ज० सागरोवमस्स
 दोष्मि सचमागा पल्लिवोवमस्स असंखेज्जविमाणेणं ऊणया उ० धीसं सागरोवमकोढाकोढीओ धीस य वाससत्ताइं अवा-
 हा०, तसनामाए पावरनामाए य एवं वेव, सुहुमनामाए पुच्छा, गो० ! जह० सागरोवमस्स णव पप्पतीसतिमागा
 पल्लिवोवमस्स असंखेज्जविमाणेणं ऊणया, उक्को० अद्वारस सागरोवमकोढाकोढीओ अद्वारस य वाससत्ताइं अवाहा०,
 पादरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स, एव पप्पत्तनामाएवि, अपज्जप्रनामाए जहा सुहुमनामस्स, पत्तेवसरीर-

नामाएवि दो सचमाणा, साहारणसरीरनामाए अहा सुदुमस्त, विरनामाए एगे सचमार्गं अचिरनामाए दो सुमनामाए
एगो बहुमनामाए दो सुमगनामाए एगो दुमगनामाए दो सुसरनामाए एगो वृसरनामाए दो आदिजननामाए एगो
अणाइखनामाए दो बसोकिपिनामाए जह० अह सुदुचा उको० दस सागरोवमकोडाकोडीतो दस वाससवाइं अवाहा०,
अजसोकिपिनामाए पुच्छा, गो० ! जहा अप्सत्त्वविहायोगतिनामस्त, एवं गिम्माणनामाएवि, वित्थगरणामाए णं
पुच्छा, गो० ! जह० अतोसागरोवमकोडाकोडीओ उकोसेगवि अतो० कोडाकोडीओ, एवं अत्थ एगो सचमार्गो तत्थ
उकोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ दस वाससवाइं अवाहा०, जत्थ दो सचमाणा तत्थ उको० वीसं सागरोवमकोडा-
कोडीओ वीस य वाससवाइं अवाहा, उवागोमस्त णं पुच्छा, गो० ! जहकेणं अह सुदुचा उ० दस सागरोवमकोडाको
डीओ, दस य वाससवाइं अवाहा०, जीयागोचस्त पुच्छा, गो० ! जहा अप्सत्त्वविहायोगतिनामस्त, अंतराए णं पुच्छा,
गो० ! जह० अतो० उको० वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिप्पि य वाससवइस्साइं अवाहा, अवाहगिया कम्मट्ठि
कम्मनिसेगो । (सूत्रं २९४)

‘आपावरणिच्छस्त णं मते ! कम्मस्त केवइयं कालं ठिती पं०’ इति ज्ञानावरणीयस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्याय-
केवलावरणमेवतः पञ्चप्रकारस्य कर्मणो मदन्त ! कियन्तं कालं यावत् स्थितिः प्रज्ञप्ता ? एवमुक्ते मगयानाह—
गौतम ! जचन्येनान्तसुइं, तच्च सर्वलघु सुहससम्परायस्य अपकस्य स्वगुणस्थानकधरमसमये बर्षमानस्य वेदितव्यं,

उत्कर्षतस्त्रिभुजागरोपमकोटीकोट्याः, सा च विष्याद्येष्टरुष्टे सङ्क्षेपे वर्धमानस्यावसातभ्या, तदेव नियता प्रागुक्तस्य प्रमोचरसिद्धिः, इवमष्टव्याकरण त्रीणि वर्षसहस्राणि अथावा अथावोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनियेक इति, किमर्थमिति चेत्, उच्यते, स्थितिद्वैविध्यप्रदर्शनार्थं, तथाहि—द्विविधा स्थितिः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा अनुभवयोग्या च, तत्र कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणां स्थितिमधिष्ठेत्वेदमुक्तं त्रिभुजागरोपमकोटीकोटय इति, अनुभवयोग्या च वर्षसहस्रत्रयोना यतः, आह च—‘त्रीणि वर्षसहस्राणि अथावा’ किमुक्तं भवति ?—ज्ञानावरणीयं कर्म उच्छृण्वत्यस्य किं यच्च सत् च घसमयादारम्य त्रीणि वर्षसहस्राणि यावत् न किञ्चिदपि खोदयतो जीवस्य धाधासुत्पादयति, तावत्कालमध्ये दलिकनियेकरूपाभावात्, तत ऊर्ध्वं हि दलिकनियेकः, तथा चाह—अथावोना—अथाधाकालपरिहीना अनुभवयोग्या कर्मस्थितिः, किमुक्तं भवति ?—कर्मनियेकः, स चैव—प्रथमस्थितौ प्रमूलो द्वितीयस्थितौ विभेपहीनः तृतीयस्थितौ विभेपहीनः एव विभेपहीनो विभेपहीनश्च तावद् वक्तव्यो यावत्स्थितिचरमसमयः, एतावता च यदुक्तमप्रायणीयास्ये द्वितीयपूर्वे कर्मप्रकृतिप्राप्तौ व च विधाने स्थितिषन्वाधिकारे—“वत्पर्यनुयोगद्वाराणि, तद्यथा—स्थितिबन्धस्यानप्ररूपणा अथाधाफण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनियेकप्ररूपणा अल्पषडुत्वप्ररूपणा चे”ति, तत्रोत्कृष्टाऽवाधाफण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनियेकप्ररूपणा च वर्द्धिता भवति, अथाधाकालपरिज्ञानोपायमाय—यस्य यावत्स्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्य तावन्ति वर्षसहस्रान्यथावा, यस्य पुन सागरोपमकोटीकोट्या मध्ये स्थितिसत्सायुर्वर्जस्यान्तर्भु-

हर्षमायुषस्तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमवाधा उत्कर्षतः पूर्वकोटीत्रिभाग, तत एषमवाधाकालं परिमाणावाधाविपया-
 णि सञ्जायि स्व मावनीयानि, निद्रापञ्चकषिपय सूत्रमाह—'निद्रापञ्चगस्त ष मते !' इत्यादि, अत्र जघन्यतः
 स्थितिः त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः पल्थोपमासङ्घेपभागोनाः, फाऽत्र मायनेति चेत्, उच्यते, पञ्चानां ज्ञानावर-
 णप्रकृतीनां घतसुर्णां दर्शनावरणप्रकृतीनां चक्षुर्वर्धनावरणालीनां सञ्चलनलोभस्य पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां च जघ-
 न्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं, सातवेवनीयस्य सकपायिकस्य द्वादश मुहूर्त्तां, इतरस्य तु द्वौ समयौ, प्रथमसमये घन्यो
 द्वितीयसमये वेदन तृतीयसमये त्वकर्ममधनमिति, चन्द्रकीर्त्युर्वेगोत्रयोरष्टौ मुहूर्त्ताः, पुरुषपेदसाष्टौ सप्तसराणि,
 सञ्चलनक्रोधस्य द्वौ मासौ, सञ्चलनमानस्यैको मासः, सञ्चलनमायामा वर्षमासः, श्लेषाणां तु प्रकृतीनां या या
 स्वकीया उत्कृष्टा स्थितिरस्य उत्कृष्टायाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणाया मिरयात्वस्थिस्या भागे इते यष्ट-
 म्यते तत्पल्थोपमासङ्घेवभागहीन जघन्यस्थितिपरिमाण, तत्र निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टा स्थितिर्ब्रह्मसागरोपमकोटी-
 कोत्पः, तासां मिथ्यात्वस्थिस्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया माये षुपमाने 'घ्न्य घ्न्येन पातये'विति
 पञ्चनाट् उच्यन्त्यः सागरोपमस्य सप्तभागाः, ते पल्थोपमासङ्घेयमागहीनाः क्रियन्ते, ततो भवति ययोक्तं जघन्य-
 स्थितिपरिमाणाभिमिति, 'सायावेयणिञ्चस्त ईरियावहियषवग पडुष अजहणमणुद्धोसेज दो समया सपराइयषवग
 पडुष जहणेष भारतस मुडुषा' इति प्रागेव भाषित, असातावेदनीयस्य जघन्यतत्त्वयः सप्तभागाः पल्थोपमासङ्घेय-

भागोना निद्रापश्चकवद् भावनीया, तस्याप्युत्कर्षतः स्थितेऽस्मिन्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, सम्यक्त्ववेदनी-
 यस्य यत् जघन्यतः स्थितिपरिणाममन्तमुद्भूतं उत्कर्षतः पट्टपट्टिः सागरोपमाणि सातिरेकाणि तेष्ववनमधिकृत्य वेदितव्य
 न षडमाश्रित्य, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्वेकंधामावात्, मिथ्यात्वपुद्गला एव हि जीवेन सम्यक्त्वानुगुणविशो-
 धिपलतस्त्रिधा क्रियन्ते, तद्यथा—सर्वविशुद्धाः अर्धविशुद्धाः अविशुद्धाश्च, तत्र ये सर्वविशुद्धास्ते सम्यक्त्ववेदनीयव्यप-
 देव लभन्ते येऽर्धविशुद्धास्ते सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशे अविशुद्धा मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमतो न तयोर्वेकंधस
 म्यः, यदा तु तेषां सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलानां स्वरूपतः स्थितिचिन्त्यते तदाऽन्तमुद्भूतानसप्तसत्तिसागरोपम-
 कोटीकोटीप्रमाणा वेदितव्या, सा च तावती यथा भवति तथा कर्मप्रकृतिटीकायां सङ्क्रमकण्ठे भावितेति ततो
 ऽप्यर्थाय, मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्या स्थितिरैक सागरोपम पल्योपमासङ्ख्येयभागोनमुत्कर्षतस्त्वोत्कृष्टस्थितेः सप्त
 तिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्यत उत्कर्षतो वा अन्तमुद्भूतं वेदनापेक्षया,
 पुद्गलानां त्ववस्थानमुत्कर्षतः प्रागेवोक्तं, कपायद्वादसकस्थानन्तानुषाधिकचतुष्टयाप्रत्यास्थानचतुष्टयप्रत्यास्थानावरण-
 चतुष्टयरूपस्य प्रत्येक जघन्या स्थितिभूत्वार सागरोपमसप्तभागा पल्योपमासङ्ख्येयभागोनाः, उत्कर्षतस्तेषां स्थिते-
 भ्यत्वारिभूत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणात्, सत्त्वलानां च जघन्या स्थितिर्मासङ्ख्येयमाणा क्षपकस्य स्वबन्धव-
 रमसमयेऽयसातव्या, स्त्रीवैवस्य जघन्या स्थितिर्बर्द्धसागरोपमस्य सप्तभागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागोनाः, कथमिति चेत्,

लभ्यते, त्रैराशिककरणबद्धात्, तथाहि—यदि बद्धानां सागरोपमकोटीकोटीनां एक सागरोपमसप्तमागो लभ्यते ततः पञ्चदशभिः सागरोपमकोटीकोटीभिः किं लभ्यते ?, राशित्रयस्यापन्ना—१० । १ । १५ । अत्रान्त्येन राशिना पञ्चदशलक्षणेन मन्व्यो राशिरेकलक्षणो गुण्यते, जाताः पञ्चदशैव, 'एकस्य गुणेने तदेव भवती'ति वचनात्, तेषामा-
 देन राशिना दशकलक्षणेन मागहरण लब्धा सार्द्धाः सप्तमागा इति, 'हासरश्मरश्मयसोगबुगुच्छाण जदण्णुक्कोस ठिई माणियघा' इति हासरतिभरतिभयद्योफक्षुगुप्सानां अधन्या उत्कृष्टा च स्थितिर्वक्तव्या, सा च सुप्रसिद्ध-
 त्वात्त्रोका, कथं वक्तव्येति चेत्, उच्यते, 'हासरर्षेणं पुच्छा गो० ! जदण्णेण एगो सागरोवमस्स सप्तमागो पलि-
 ओपमस्स असखेज्जमागेण कणो उत्तो० दस सागरोवमकोट्टाकोट्टीओ दस वाससभाइ अघाहा जाव निसेगो, अरइ-
 मयसोगबुगुच्छाणं पुच्छा, गो० ! जदण्णेण सागरोवमस्स दोषिण सप्तमागा पलिओवमस्स असखेज्जमागेण कणगा
 उत्तोसेण वीस सागरोवमकोट्टाकोट्टीओ बीससयाइ अघाहा जाव निसेगो' इति ज्ञेय, तिर्यगायुपि मनुव्यायुपि च त्रीणि
 पत्योपमानि पूर्वकोटिप्रिमागाम्यधिकानि इति यदुक्तं तत् पूर्वकोट्यायुपस्त्रिर्यग्मनुव्यान् धन्वकानधिकृत्य वेदितव्यं,
 अन्यत्रैतावत्याः स्थितेः पूर्वकोटिप्रिमागरूपाया अघाघायाश्चालम्यमानत्वात्, 'तिरियगइनामाए जहा नपुसगवेपस्स'
 इति, जयन्तवो द्वौ सागरोपमस्य सप्तमागौ पन्थोपमासङ्खेयमागहीनौ, उत्कर्षतो विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्य
 इत्यर्थः, मनुष्यगतिनाञ्चि 'जदण्णेण सागरोवमस्स विषइसप्तमाग पलिओवमस्स असखेज्जमागेण कणग'ति अत्र

भायना स्त्रीषेवद् भावनीया, 'विषद्वससमाग'मित्यादौ तु नपुसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्, नरकगतिनाम्नो जघन्यतः
 सागरोपमसदृस्य द्वौ ससमागौ, किमुक्त मवति ?—सागरोपमस्य द्वौ ससमागौ सदृशेण गुणिताविति, तदुत्कृष्टस्थि-
 तेर्द्विद्वतिसागरोपमकोटीप्रमाणत्वात्, तद्वदस्य च सर्वजघन्यस्यासद्विषधेन्द्रियस्य भायात्, असद्विषधेन्द्रियक-
 र्मषधस्य च जघन्यैकैन्द्रियजघन्यकर्मषधयोपेक्षया सदृशगुणत्वात्, सावयिष्यते धायमर्थो वैक्रियचिन्तायां, देवगति-
 नाम्नो जघन्यतः सागरोपमसदृस्यैकः ससमागः, एकः सागरोपमस्य ससमागः सदृशगुणित इति भावः, तस्य दि-
 दत्कृष्टा स्थितिर्दश सागरोपमकोटीकोटयः, ततः प्रागुक्तकरणवद्भादेकः सागरोपमस्य ससमागो लब्धा, यन्धोऽपि धास्य
 जघन्यतोऽसद्विषधेन्द्रियस्येति सदृशगुणितः, देवगतिनामद्ये 'उक्थोसेण जहा पुरिसवेयस्स' इति 'दस सागरोपम-
 कोटीजो दसथाससयाइ भयादा, धावाहणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो' इति षकष्यमिति भावः, द्वीन्द्रियजातिनाम
 सूत्रे 'जहन्नेण नव पणतीसइमागा पळिमोक्कमस्स असंखेब्बइमागेण कजगा' इति, द्वीन्द्रियजातिनाम्नो हुत्कृष्टा स्थिति
 रष्टाब्दश्च सागरोपमकोटीकोटयः, 'अद्धारस सुभुमधिगलतिगे' चि [सुस्सा विषडेन्द्रियाधाष्टादन्न] षधनात्, ततोऽष्टा-
 दशानां सागरोपमकोटीकोटीनां मिश्र्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीप्रमाण्या भागो त्रियते,
 मागम न पूर्णते, ततः शून्य शून्येन पालते, जाता उपरि अधावन्न जघन्नात् सप्ततिल्लयोरैरेणानापवर्षनाच्छब्धा नष षध-
 त्रिन्नन्नागाले पत्योपमासङ्क्षेपमागोनाः क्रियन्ते, आगत सूत्रोक्त परिमाणमिति, एव त्रिचतुरिन्द्रियजातिनामद्ये

अपि भावनीये, वैक्रियशरीरानामसूत्रे 'ज्वरुण्येणं सागरोपमस्स द्वौ सप्तमागा पलिओपमस्स असखेज्जभागेण ऊण
 गा' इति, इह वैक्रियशरीरानाम् उल्लेखा विंशतिः सागरोपमकोटीकोटयः स्थितिस्रतः प्रागुक्करणवशेन अघन्यस्यि-
 तिचिन्तार्या तर्सा द्वौ सागरोपमस्य सप्तमागौ लभ्येते, पर वैक्रियपट्टमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च न भवन्ति, किन्त्वस-
 त्रिपञ्चेन्द्रियादयः, असत्रिपञ्चेन्द्रियाश्च अघन्यतोऽपि षड् कुर्वाणा एकेन्द्रियवधापेक्षया सहस्रगुणं कुर्वन्ति, 'पणवी-
 सा पण्णासा सय सहस्स च गुणकारो' [पञ्चविंशतिःपञ्चाशत् शत सहस्र च गुणकारः] इति षचनात्, ततो यौ
 द्वौ सागरोपमस्य सप्तमागौ प्रागुक्करणवशाच्छब्धी तौ सहस्रेण गुण्येते ततः सूत्रोक्तं परिमाणं भवति, सागरोपमस्य
 द्वौ सहस्रौ सप्तमागानां सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तमागाविति श्लेकोऽर्थः, आहारशरीरानाम्चोः अघन्यतोऽप्यन्तःसागरो-
 पमकोटीकोटी उरकर्षतोऽप्यन्तं सागरोपमकोटीकोटी, नवर जघन्यादुल्लेखं सञ्ज्ञेयगुणं द्रष्टव्यं, अन्ये त्वाहारकचतुष्क-
 स्य अघन्यतोऽप्यन्तमुद्धर्षमिच्छन्ति, (तथा च) तद्वन्य — "पुवेयअट्ठवासा, अट्ठसुद्धा जसुब्बगोयाण । साए भास
 आहारपिग्घापरणाण किंचूण ॥ १ ॥" [पुवेदेऽथौ पर्पाण्यथसुद्धर्चा यम्वट्ठगोत्रयोः । साते द्वावस्र वर्षाणि आहारक-
 पिम्मावरणानां किञ्चिद्दूण ॥ १ ॥] अत्र 'किंचूण'मिति अन्तमुद्धर्षमित्यर्थः, तदत्र तस्य केपलिनो विदन्ति, यथा शरी-
 रपञ्चकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनेय क्रमेण शरीरबन्धनपञ्चकस्य शरीरसघातपञ्चकस्य च षष्ठ्यं,
 तथा चाह—'सरीरबन्धननामापि पचणहवि एव वेय, सरीरसघायणनामापि पंचणहवि' इति 'वशरोसमनारायसघय

णनामाए जडा राहनामाय' इति, षड्रपमनाराचसहनननाम्नो यथा प्राक् रतिनाम्नो मोहनीयस्योक्तं तथा वक्तव्य, तद्यथा-
 'वहरोसमनाराचसघयणनामाए मते! कम्मस्स केवइय काल ठिती पं० १, गो० १ जह० १। जह० एक सचमाग पळिओममस्स
 असखेज्जमागेण ऊर्या, उक्को० दस सागरोपमकोढाकोढीओ' इति, ऋपमनाराचसूत्रे 'सागरोपमस्स छप्पणतीस
 मागा पळिओपमस्स असखिज्जमागेण ऊणगा' इति, ऋपमनाराचसहननत्स मुत्कथा स्थितिर्हावश्च सागरोपमकोढी
 कोटय; तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोढीकोढीप्रमाणया भागो त्रियते, तत्र मागहारासम्मथात् शून्य
 शून्येन पातयित्वा छेद्यच्छेपकरान्धोरद्धेनापवर्चनाच्छब्धाः सागरोपमस्स षट् पञ्चत्रिंशद्भागा [१५], ते पत्योपमासङ्ख्येय-
 मागहीनाः क्रियन्ते, एवं नाराचसहनननाम्नो जयन्यस्थितिचिन्तायां सप्त पञ्चत्रिंशद्भागाः [१६] पत्योपमासङ्ख्येयमा-
 गहीनाः, उत्कृष्टस्थिते षट्पञ्चसागरोपमकोढीकोढीप्रमाणत्वात्, अर्धनाराचसहनननाम्नः षटौ पञ्चत्रिंशद्भागाः [१७]
 पत्योपमासङ्ख्येयमायोनाः, उत्कृष्टस्थितेः षोडशसागरोपमकोढीकोढीप्रमाणत्वात्, कीटिकासहनननाम्नो नय पञ्चत्रिं-
 शद्भागाः [१८] पत्योपमासङ्ख्येयमागहीनाः, उत्कृष्टस्थितेरष्टादशसागरोपमकोढीकोढीप्रमाणत्वात् परिभावनीयाः,
 सेयार्धसहननसूत्रं तु सुगम, यथा सहननपट्टकस्य स्थितिपरिमाणस्युक्तं तेनैव क्रमेण सस्यानपट्टकस्यापि वक्तव्य, तथा
 चाह—'एय जहा सुघयणनामा छम्मणिया एय सठाणा छम्मणियवा' उक्तवापमयोऽन्यत्रापि 'सघयणे सठाणे
 पढमे दस उयरिमेसु दुगहुसी' इति [सहनने सस्याने प्रथमे दश उपरितनेषु द्विकहसिः] द्वात्रिंशद्वर्णनामसूत्रे 'जह०

कालोना कर्मस्थितिः कर्मवृत्तिकल्पकः, तथा चाह—‘कासा जे अव्यसत्या तेषिं जहा सेवद्वस्स जे पसत्था तेषिं
 जहा सुक्खियण्णनामस्स’ इति, नरकानुपूर्वीनाम्नो जपन्वतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तमागौ, द्वौ सागरोपमस्य
 मप्तमागौ सहस्रगुणित्वाधिति मावः, भावना नरकगतियद् माथयितव्या, मनुष्यानुपूर्वीनामसूत्रे “अहण्णेण साग
 रोधमस्स दिवद्दु सत्तमाग पल्लिवोवमस्स असखिच्चइमागेण ऊणग’ति, तदुत्कटस्थितेः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटी
 प्रमाणत्वात्, उक्त वा यत्रापि—“तीस कोठाकोठी असायवाषरणअतरायाण । मिच्छे सयरी इत्थीमणुदुगसा-
 याण पन्नरस ॥ १ ॥” [त्रिंशत् सागरोपमकोटीकोट्योऽसातावरणाभन्तरायाणाम् । मिथ्यात्ये ससत्तिः स्त्रीमनुष्यधि
 कसातानां पञ्चदश ॥ १ ॥] देवानुपूर्वीनाम्नोऽपि जपन्वतः एकः सागरोपमस्य सप्तमागः सहस्रगुणितः पल्लोप-
 मासद्भेयमागहीनः, उत्कर्षतो हि तत्स्थितेः दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तथा चोक्तम्—“पुहासरईचवे
 सुमद्यगतिपिराइल्लकदेवदुगे । वस सेसाण धीसा एवइयाऽवाह याससया ॥ १ ॥” [पुषेदहात्सरत्सुवैर्गोत्रसु-
 भयिहायोपतिस्विरादिपट्टुदेवधिकेषु । दश त्रेपाणां विश्रति एतावन्त्समाधा वर्षंश्रुतानि ॥ १ ॥] षड्धमास्य अघन्य-
 तोऽसद्विपञ्चेन्द्रियेषु इति, तथा सुस्मनामसूत्रे अघन्यतो नष सागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागा पल्लोपमासद्भेयमागही-
 ना द्वीन्द्रियजातिनाम्न इय भावनीया, सुस्मनाम्नो सुत्कर्षतः स्थितेरहावदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, ‘अट्टा-
 रस सुडमणिगल्लसिगे’ इति वचनात्, एवमपर्याप्तसाधारणनाम्नोरपि भावनीय, बाहरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां तु अघन्यतो

द्वी सागरोपमस्य सप्तमागौ पल्योपमासङ्ख्येयमागदीनौ, उत्कर्षतो विञ्चतिः सागरोपमकोटीकोटयः, तथा षाह—
 'मायरनामाए जहा अपसत्पयविहायोगवनामाए, एवं पञ्चतनामापवि' इत्यादि, स्थिरानुमद्यमगद्युस्वरादेयरूपाणां
 पञ्चानां नाम्ना जघयतः स्थितिरैकः सागरोपमस्य सप्तमागः पल्योपमासङ्ख्येयमागोनः, यत्रःकीर्तिनाम्नस्तु जघन्य-
 तोऽद्यौ मुहूर्त्ताः, 'अह्म मुदुवा जमुषगोयाण'मिति वचनात्, उत्कृष्टा पुन पण्णामपि दद्य सागरोपमकोटीकोटयः
 भिराएछक्खेयदुगे दसे'ति वचनात्, अस्विरानुमदुर्मगदुःस्वरानादेयायत्र कीर्तिनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य
 सप्तमागौ पल्योपमासङ्ख्येयमागदीनौ, उत्कर्षतो विञ्चतिः सागरोपमकोटीकोटयः, एवं निर्माजनाम्नोऽपि वक्कव्य,
 तीर्यकरनाम्नो जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी उत्कर्षतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी, ननु यदि जघन्य-
 तोऽपि तीर्यकरनाम्नोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा स्थितिः तर्हि तावत्याः स्थितेः तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूर्यि-
 तुमन्नफ्यत्वात् कियन्त कालं तीर्यकरनामसत्कर्मापि तिर्यग्भवेत्, नप चासायागमे निपिद्धः, तथा षोक्त्म्—“ति-
 रिय्मु नतिय तित्थयरनाम सवति देसिय समए । फह य तिरिओ न होही अयरोयमकोडीकोडीओ ॥ १ ॥”
 [तिर्येष्टु नास्मि तीर्यकरनाम सचायां इति देशित समये । कथ च तिर्येक् न भविष्यति अतरोपमकोटीकोटी-
 स्थितिकल्पात् ? ॥१॥] इति ?, एतः कथमेतदिति चेत्, उच्यते, इह यन्निकाचित तीर्यकरनामकर्म तच्चिर्येग्रगतौ
 सचायां निपिद्ध, यत्पुनरुद्धर्चनापवर्चनासाध्य तङ्ख्येदपि तिर्येगतौ न यिरोषमास्फन्दति, तथा षोक्त्म्—“जभिह

निराश्रय तित्य तिरियमये त निसंहिय सत । इयरमि नतिय दोसो उबदृषवदृषासज्जे ॥१॥” [यदिह निकाचित-
तीर्पनाम तिर्यग्मये तन्निपिद सत्तायाम् । इतरस्मिन् नास्ति दोषः उद्वर्तनापयर्चनासाध्ये ॥ १ ॥] इति, गोत्रातरा-
यसूत्राणि सुप्रतीतानि, नवर ‘अंतराश्रयस्स ण पुञ्जा’ इति, पञ्चप्रकारस्थापीति वाक्यश्लेषः, निर्बचनमपि पञ्चप्रकार-
स्यापि द्रष्टव्य । तदेवमुक्त अथन्यत उत्कर्षतश्च सामान्यतः सर्वासां प्रकृतीनां स्थितिपरिमाण, साम्प्रतमेकेन्द्रियान-
धिकृत्य तासां तदभिधित्सुराह—

एगिदिया णं मंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? , गो० ! अह० सागरोवमस्स तिण्णि सचमागा पलि-
तोवमस्स असंखल्लमागणं ऊणया उक्कोसेणं ते चेष पडिपुण्णे बंधंति, एवं निरापंचगस्सवि, वसणचउक्कस्सवि, एगिदि-
या णं मंते ! सावावेदणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? , गो० ! अ० सागरोवमदिवद्दु सचमाग पलित्तोवमस्स असंखेज्जति
माणेणं ऊणयं उ० तं चेष पडिपुण्णं बंधंति, असायवेयणिज्जस्स अहा णाणावरणिज्जस्स, एगिदिया णं मंते ! जीवा सम्मच
वेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? , गो० ! गतिय किंचि बंधंति, एगिदिया णं मंते ! जीवा मिच्छचवेदणिज्जस्स कम्मस्स
किं बंधंति ? , गो० ! अ० सागरोवमं पलित्तोवमस्स असंखेज्जतिमाणेणं ऊणं उ० तं चेष पडिपुण्णं बंधंति, एगिदिया णं
मंते ! जीवा सम्मामिच्छचवेयणिज्जस्स किं बंधंति ? , गो० ! पत्थिय किंचि बन्धंति, एगिदिया णं मंते ! , जीवा कसाय-
वारसगस्स किं बंधंति ? , गोयमा ! अह० सागरोवमस्स चत्वारि सचमाणे पलित्तोवमस्स असंखेज्जतिमाणेणं ऊणते उ०

ते चैव पञ्चिपुष्णे बंधति, एव जा, होहसंबलणाएभि जाय लोमसंबलणाएयि, इत्येवेदस्त ब्रह्मा सातावेदगिञ्जस्त, एगि-
 दिया पुरिसवेदस्त कम्मस्त ब्रह्म० सागरोवमस्त एगं सप्तमागं पलितोवमस्त असंखेअत्तिमागेणं ऊगयं उक्को० सं चैव
 पठिपुष्ण्य यंधति, एगिदिया नंपुसगवेदस्त कम्मस्त ब्रह्म० सागरोवमस्त दो सप्तमागे पलितोवमस्त असंखेअत्तिमागेणं
 ऊगए उक्को० ते चैव पठिपुष्णं यंधति, हासरतीवे ब्रह्मा पुरिसवेदस्त, अरतिमयसोगदुगुंछाए [उक्को० ते चैव पठिपुष्णे
 बंधति, हासरतीवे ब्रह्मा पुरिसवेदस्त अरतिमयसोगदुगुंछाए] ब्रह्मा नंपुसगवेयस्त, नेरइयाऊ देवाऊ य निरयगतिनाम देव
 गतिनाम बेउषियसरीरनाम आहारगसरीरनाम नेरइयाणुपुधिनाम देवाणुपुधिनाम तित्यगरणाम एवाणि पवाणि ण बंधति,
 तिरिपखजोगियाठयस्त ब्रह्म० अतो० उक्कोसेण पुषकोबी सयहिं वाससहस्सेहिं वाससहस्सत्तिमागेण य अहिंयं बंधति, एवं
 मणुस्साउयस्सवि, तिरियगतिनामाए ब्रह्मा नंपुसगवेदस्त, मणुयगतिनामाए ब्रह्मा सातावेदगिञ्जस्त, एगिदियनामाए
 पंधिदियजातिनामाए य ब्रह्मा नंपुसगवेदस्त, पंधिदियवेइदियजातिनामाए पुञ्जा, ब्रह्म० सागरोवमस्त नव पण्ठीसत्तिमागे
 पलितोवमस्त असंखेअत्तिमागेणं ऊगए उक्को० ते चैव पठिपुष्णे बंधति, षउरिदिमनामाएवि ब्रह्म० सागरोवमस्त णव
 पण्ठीसत्तिमागे पलितोवमस्त असंखेअत्तिमागेणं ऊगए उ० ते चैव पठिपुष्णे यधन्ति, एव बत्थत्थि ब्रह्मणं दो सत्त-
 मागा तिथि वा षचारि वा सत्तमागा अट्टाधीसत्तिमागा मवंति, तत्थ यं ब्रह्मणेण ते चैव पलितोवमस्त असंखेअत्ति-
 मागेणं ऊगगा माणिसबा, उ० ते चैव पठिपुष्णे बंधति, तत्थ यं ब्रह्मणेण एगो या दिवहो वा सत्तमागो तत्थ ब्रह्म० तं
 चैव माणितर्ष उ० सं चैव पठिपुष्ण्य यंधति, असोकिचिउबागोताण ब्रह्म० सागरोवमस्त एग सत्तमाग पलितोवमस्त

असं० ऊर्ध्वं उ० तं चेव पठिपुष्णं धंषति, अतराश्वस्य णं मते ! पुञ्या, गो० ! अहा णाणावरपिंल्लं उ० ते चेव पठिपुष्णे षषति । (सूत्रं २१५)

‘एगिन्दिया ण मते ! जीवा ष नाणावरपिज्वत्स कम्मस्स किं षषति ?’ इत्यादि, अत्रेय परिभाषा—यस्य यस्य कर्मणो वा या उच्छ्रष्टा स्थितिः प्रागभिहिता तस्याः २ मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोकोटीकोटीप्रमाणया मागे इते यद्यस्यैतत्तत्पल्योपमासङ्ख्येयभागहीन जघन्या स्थितिः, सैव पल्योपमासङ्ख्येयभागसहिता उच्छ्रष्टेति, पतत्परिमास्य सकलमप्येकेन्द्रियगत सूत्रं स्वयं परिभाषनीय, तथापि विनेयजनानुग्रहाय किञ्चिच्छिष्यते—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरापञ्चकानां जघन्यत एकैन्द्रियाणा स्थितिष्वक्षयः सागरोपमस्य सप्तमागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीना, उच्छ्रष्टतस्त एव परिपूर्णाक्षयः सागरोपमस्य सप्तमागाः, सातवेदनीयस्त्रीवेदमनुव्यगतिमनुष्यानुपूर्वीणां जघन्यतः सार्द्धः सागरोपमस्य सप्तमागः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनः, उत्कर्षतस्तु स एव सार्द्धः सप्तमागः परिपूर्णः, मिथ्यात्वस्य जघन्यत एकं सागरोपम पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनमुत्कर्षतः तदेव परिपूर्णं, सम्यक्त्ववेदनीयस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य च न किञ्चिदपि षषन्ति, न किञ्चिदपि वेद्यमानतयाऽऽत्मप्रदेशैः सम्बन्धयन्तीति भावः, एकैन्द्रियाणां सम्यक्त्ववेदनीयस्य सम्बन्धिमिथ्यात्ववेदनस्य चासम्भवात्, यस्तु साक्षाद्बन्धः स सम्यक्त्वस्य सम्यग्मिथ्यात्वयोर्न षटत एवेति प्रागेवाभिहित, कथावपोऽश्चकस्य जघन्यतश्चत्वारः सागरोपमस्य सप्तमागाः पल्यो

पमासङ्घेयभागोना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः, पुरुषभेदाहास्वरतिप्रशुद्धविद्यायोगतिस्विराविपटुप्रथमसस्थानप्रथमसंहन-
नशुद्धयर्भसुरभिगन्धमधुरसौधैर्गोत्राणां जघन्यत एकः सागरोपमस्य सप्तभागः पत्योपमासङ्घेयभागहीनः उत्कर्षतः
स एव परिपूर्णाः, द्वितीयसस्थानसहननयो जघन्यतः एद पञ्चत्रिंशद्भागः पत्योपमासङ्घेयभागहीना उत्कर्षतस्त एव
परिपूर्णाः, तृतीयसस्थानसंहननयोर्जघन्यतः सप्त सागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागः पत्योपमासङ्घेयभागहीना उत्कर्षतस्त
एव परिपूर्णाः, छोटितयर्णफपायसयोर्जघन्यतः एद सामरोपमस्पाष्टाविंशतिभागः पत्योपमासङ्घेयभागहीना उत्क-
र्षतस्त एव परिपूर्णाः, द्वादशवर्षांन्धरसयोर्जघन्यतः पञ्च सागरोपमस्पाष्टाविंशतिभागः पत्योपमासङ्घेयभागहीनाः
उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः, नीलवर्णकटुरसयोः सप्त सागरोपमस्पाष्टाविंशतिभागः पत्योपमासङ्घेयभागोनाः उत्क-
र्षतस्त एव परिपूर्णाः, नपुसकवेदभयशुगुप्साशोकारतितिर्यगौदारिकद्विकषरमसस्थानचरमसहननच्छब्दवर्णतिक्रसा-
गुरुत्पुपरापातोष्णसोपघातत्रसषादरपर्याप्तप्रत्येकास्विराशुभदुर्भेदुःखरानादेयायशःकीर्त्तिस्वावरातपोधोताशुमधि-
हावोगतिनिर्माणिकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणानां जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तमागौ पत्योपमास-
ङ्घेयभागहीनौ उत्कर्षतस्तस्मादेष परिपूर्णाः निति, नरकद्विकवेदद्विक्रवैक्रियषटुष्टपाहारकचतुष्टयतीर्थद्वरनाम्ना त्येकेन्द्रि-
याणा न पञ्चः, आयुश्चिन्तायामपि एकेन्द्रिया देवायुर्नैरयिकायुर्वा न वमन्ति, तथा भयस्वामान्यात्, किन्तु तिर्य-
गायुर्मेनुष्यायुर्वा, तदपि वमन्तो जघन्यतोऽन्तर्मुष्ट्वै वमन्ति, उत्कर्षतः पूर्वकोटिप्रमाण साधिक, केयलुत्कृष्ट धि-

न्त्यते इत्येकेन्द्रिया द्वाविंशतिर्वर्षसहस्रप्रमाणायुषः स्वायुषश्च त्रिमागावश्लेषे परमवायुर्व्यघ्नन्तः परियत्यन्ते इति सप्त
 वर्षसहस्राणि वर्षसहस्रत्रिमागोचराण्यधिकानि लभ्यन्ते, ततो भवति त्रियंगायुर्मनुष्यायुश्चिन्ताया सूत्रोक्त
 परिमाणमिति । उक्तमेकैन्द्रियव्यघ्नकानधिकृत्य जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिपरिमाण, सम्प्रति द्वीन्द्रियानधिकृत्य
 तमभिधित्सुराह—

वेदंदिद्या णं मते ! जीवा पाणावरणिञ्चस्स कम्मस्स किं भवति ?, गो० ! जह० सागरोवमपणयीसाते तिष्णि सत्तमागा
 पलितोवमस्स असं०ऊज्या उ० ते चेव पढिपुण्णे बंधंति, एवं निरापचगस्सपि, एवं जहा एगिदिद्याणं भणिवं तथा वेदंदिद्याणवि
 माणित्वा, नवरं सागरोवमपणयीसाए सह माणित्वा पलितोवमस्स असंखेत्तमागेणं ऊजा सेसा (उ०) तं चेव पढिपुण्णं
 बंधंति, जस्य एगिदिद्या न बंधंति तत्थ एतेवि न वधति, वेदंदिद्या णं मते ! जीवा मिच्चवेयगिञ्चस्स किं भवति ?, गो० !,
 जह० सागरोवमपणयीसं पलितोवमस्स असंखेत्तमागेण ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पढिपुण्णं बंधति, तिरिक्खजेपियाउ-
 यस्स जह० अंती० उक्को० पुव्वफोढिं चउढिं चासेढिं अदियं बंधंति, एवं मणुयाउयस्सवि, सेसं जहा एगिदिद्याणं जाव
 अंवरारयस्स । वेदंदिद्या णं मते ! जीवा पाणावरणिञ्चस्स किं भवति ?, गो० ! जह० सागरोवमपण्यासाए तिष्णि सत्त-
 मागा पलितोवमस्स असंखेत्तमागेणं ऊज्या उ० ते चेव पढिपुण्णे बंधंति, एवं जस्स ज्विमागा ते तस्स सागरोवमप
 ण्यासाए सह माणित्वा, वेदंदिद्या णं मते ! मिच्चवेयवणिञ्चस्स कम्मस्स किं बंधंति ?, गो० ! ज० सागरोवमपण्यासं

पलितोषमस्तासंखेक्षतिभागेणं ऊण्यं उ० तं चेष पठिपुण्यं बंधति, तिरिचखज्जीणियाउयस्स जह० अतो० उक्को० पुव-
 क्कोदिं सोलसेहिं राईदियतिभागेण य अद्वियं बंधति, एवं मणुस्साउयस्सवि, सेसं जहा बेइदियाणं जाव अंतराइयस्स ।
 चउरिदिया णं मति ! जीवा णाणावरणिअस्स किं बंधति ?, गो० ! जह० सागरोषमसयस्स तिण्णि सचभागे पलितोषम
 स्स असखेक्षतिभागेणं ऊण्य उक्को० ते चेष पठिपुण्ये बंधति, एवं जस्स जति मागा तस्स सागरोषमसतेण सह माणि
 त्था, तिरिचखज्जीणियाउयस्स कम्मस्स जह० अतो० उ० पुवक्कोदिं दोहिं मासेहिं अद्वियं, एवं मणुस्साउयस्समवि, सेसं
 जहा बेईदियाण, णवरं मिच्छचधेदणिअस्स जह० सागरोषमसतं पलितोषमसतं असंखेक्षतिभागेण उमय उ० तं चेष
 पठिपुण्यं बंधति, सेसं जहा बेईदियाण जाव अंतराइयस्स । असण्णी णं मते ! जीवा पचिदिया णाणावरणिअस्स कम्म
 स्स किं बंधति ?, गो० ! जह० सागरोषमसहस्सस्व तिण्णि सचभागे पलितोषमस्यासंखेक्षतिभागेणं ऊण्य उक्को० ते चेष
 पठिपुण्ये, एवं तो चेष गमो जहा बेईदियाण, णवरं सागरोषमसहस्सेण समं भाणित्थ जस्स जति मागचि, मिच्छत्तेवे-
 दणिअस्स जह० सागरोषमसहस्सं पलितोषमासंखेक्षतिभागेणं ऊण्यं उ० तं चेष पठिपुण्यं, नेरइयाउयस्स जह० वस
 धासहहस्साइ अंतोमृचमग्मदियाई उक्कोसेणं पलितोषमस असंखेक्षतिमागं पुवक्कोदिंतिमागग्मद्वियं बंधति, एवं तिरि-
 चखज्जीणियाउयस्सवि, णवरं जह० अतो०, मणुयाउयस्सवि देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स, असण्णी ण मते ! जीवा
 पचिदियनिरयगतिनामाए कम्मस्स किं बंधति ?, गो० ! जह० सागरोषमसहस्सस्व दो सचभागे पलितोषमस असंखे
 क्षतिभागेणं ऊण्य उक्को० ते चेष पठिपुण्ये, एवं तिरियगतिवेवि, मणुयगतिनामाएवि एवं चेष, णवरं जह० सागरो

धमसहस्सस्स दिवहु सचमार्गं पलितोषमस्सासंखेज्जभागेण उष्णं उक्को० तं धेव पडिपुष्णं बंधति, एषं देवगतिनामाए, नवरं ते
 सागरोषमसहस्सस्स एणं सचमार्गं पलितोषमस्सासंखे० उष्णं उ० तं धेव पडिपुष्णं, धेठसिपसररनामाए पुष्ठा, गो० !
 उ० सागरोषमसहस्सस्स दो सचमार्गे पलितोषमस्सासंखेज्जभागेण उष्णे उक्को० दो पडिपुष्णे बंधति, सम्मचसम्मा-
 मिच्छचआहारगसरीरनामाते वित्यगरनामाए ण किंचि बंधति, अवसिट्ठं बहा वेइंदियाणं, गवरं ज्जस्स ज्जचिया मागा
 तस्स सा सागरोषमसहस्सेण सह माणितथा, सर्वेसि आणुपुवीए जाव अंतराएयस्स । सण्णी णं मति ! बीवा पंधिदिया णा-
 णावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधति !, गो० ! व० अंतोसु० उ० तीसं सा० कोढाकोढीवो तिष्णि वाससहस्साइं अवाहा,
 सण्णी णं मति ! पंधिदिया णिदापंचगस्स किं बंधति !, गो० ! बह० अंतो० सागरोषमकोढाकोढीओ उ० तीसं सागरो
 वमकोढाकोढीओ तिष्णि य वाससहस्साइं अवाहा, वसणचउक्कस्स बहा णाणावरणिज्जस्स, सायावेदणिज्जस्स बहा ओ
 दिया ठिठी मणित्ता तरेव माणितथा, ईरियाधदियबंधयं पइच्च संपराइयबचयं च, असायावेयपिज्जस्स बहा णिदापंचग-
 स्स, सम्मचवेदणिज्जस्स सम्मामिच्छचवेदणिज्जस्स सा ओहिया ठिठी मणित्ता तं बधति, मिच्छावेदणिज्जस्स व० अंतो
 सागरोषमकोढाकोढीओ उक्को० सचरिं साभरोषमकोढाकोढीओ, सचरि य वाससहस्साइं अवाहा, कसायचारसगस्स बह०
 एव धेव उक्को० षचालीसं सागरोषमकोढाकोढीओ, षचालीस य वाससयपारिं अवाहा, कोहमाणमायासोमसंबलणाए य दो
 मासा मासो अद्रमासो अतोसुपुपो, एष बहभगं, उक्कोत्सगं पुग बहा कसायचारसगस्स, षउष्णमि जाउयानं वा ओहिया ठिठी
 मणित्ता तं बंधति, आहारगसरीरस्स तित्यगरनामाए य ज्जएण्णेनं बंतोसागरोषमकोढाकोढीओ उ० अंतोसागरोषमकोढा-

फोटीनी, पुरितसेदमिअस्त ज० अ० संवच्छराई उ० वंस सागरोधमकोठाकोठीओ दस य वाससताई अवाहा, असोकि
 विषामाप टयागोपस्त एवं धेव, नवरं जह० अट्ट दुहुचां, अंतरापस्त जहा बापावरणिअस्त, सेसपस्तु संवेसु
 ठानेसु संपयेसु संठाणेसु धर्जेसु गंधेसु य अह० अंतोसागरोधमकोठाकोठीओ उको० वा जस्त ओहिया ठिठी
 मबिता सं भंभंति, गवरं इमं नाणत्तं अवाहा अवाहपिया य पुबति, एवं आणुपुधीते संवेसि, जाव अंतरापस्त ताव
 माणिवं (सूत्रं २१६)

'धेइदिया ण भते ! जीवा' इत्यादि, अत्रेय परिमाया—यस २ कर्मणो या या स्थितिरुच्छटा प्रागभिहिता
 तसाः तसाः मिथ्यात्वस्थित्या ससतिसागरोपमकोठीफोटीप्रमाणया भागे इते यछम्यते तत्पञ्चविंशत्या गुण्यते गु-
 णित च सत् याचन्द्रयति तावत्पल्योपमासङ्ख्येयमागहीन द्वीन्द्रियाणां वचकानां जघन्यस्थितिपरिमाण तदेव परि-
 पूर्णमुत्कृष्टस्थितिपरिमाण, तद्यथा—ज्ञानाधरणपञ्चकदर्शनाधरणनवकासातयेदनीयान्तरायपञ्चकानां त्रयः सागरोपमस्य
 सप्तमागाः पञ्चविंशत्या गुणिताः, धस्तुष्ट्या पञ्चविंशतेः सागरोपमाणां त्रयः सप्तमागाः पल्योपमासङ्ख्येयमागहीना
 जघन्यस्थितिष्वधपरिमाण, त एव परिपूर्णा उत्कृष्टमित्यादि । त्रीन्द्रियबन्धचिन्तायां तदेव मागलञ्च पञ्चाद्वता गुण्य-
 ते चतुरिन्द्रियबन्धचिन्तायां द्वतेन असत्रिपञ्चेन्द्रियचिन्तायां सदस्रेण, आह च कर्मप्रकृतिसद्वहणिकारः—“पञ्ज-
 वीया पन्नासा सय सदस्स च गुणकारो । कम्मसो विगलअसन्नीण”मिति [पञ्चविंशतिः पञ्चाद्यत् शत सदस्स च गुण-

कारः । क्रमेण विकलासत्रिनाम् ।] तत एतदनुसारेण सूत्र स्वयं निगमनीयं सुगमत्वात् नवर 'सागरोपमपण्णयीसा-
 पत्तिणि सप्तमागा पल्लिबोधमस्स असखेच्चइमागेण उणगा' इति, अत्रेय गणितमायना-पञ्चविंशतेः सागरोपमा-
 णां सप्तमिर्मागे द्वियमाणे यष्टम्यते तन्निगुणीकृत्य पथ्योपमासङ्ख्येयभागहीनं क्रियते इति, एष सर्वत्रापि यथायोग
 गणितमायना कर्षेन्म्या । सन्निपञ्चेन्द्रियषड्वकसूत्रे ज्ञानावरणीयादिकर्मणां अध्वन्यतः स्थितिषड्योऽन्तर्मुद्रार्चादिपरिमा-
 णः क्षपकस्य स्वस्वबन्धधरमसमये प्रतिपद्यन्त्यः, निद्रापञ्चकासातवेदनीयमिष्यात्वकपायद्वादशकादीनां तु क्षपणादर्वा-
 ष्टु बन्ध इति तेषां अध्वन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः उत्कृष्टो मिथ्याष्टेः सर्वसद्भिर्कृष्टस्य, नवर तिर्य-
 ग्मनुष्यदेवायुषां स्वस्वबन्धकेष्वतिविशुद्धस्येति । इदं सन्निपञ्चेन्द्रियसूत्रे ज्ञानावरणीयादिकर्मणां अध्वन्यस्थितिष-
 षड्योऽन्तर्मुद्रार्चादिपरिमाणं लक्षः, स कस्मिन् स्वामिनि लभ्यते इति जिज्ञासुः पृच्छति—

भाषावरणिज्जस्स णं मंते ! कम्मस्स जहण्णट्ठितीबंधए के० ? , गो० ! अण्णयरे सुदुमसंपरायते उवसामए वा खवगे वा एस
 णं गो० ! पाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जहण्णट्ठितीबंधते, तवहरिणे अजहण्णे, एवं एएणं अमिलावेणं मोहाउयवज्जाणं सेस-
 कम्मणं माणितवं, मोहणिज्जस्स णं मंते ! कम्मस्स जहण्णट्ठितीबंधते के० ? , गो० ! अण्णयरे वादरसंपराए उवसामए वा
 खवए वा एस णं गो० ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जहण्णट्ठितीबंधते, तवहरिणे अजहण्णे, आउयस्स णं मंते ! कम्मस्स
 जहण्णट्ठितीबंधते के० ? , गो० ! से ण जीवे असंखेप्पद्यापविडे सधनिग्घे से आउते, सेसे सवमहतीए आउयबंधद्राए,

वीसे णं आउयंपंघद्वाए चरिमफालसमयंसि सवजहणियं ठिं अपज्जाचापज्जाचियं निहचेति, एस ण गोयमा ! आउयक-
म्मस्त जहण्णठितीरंघते, तवहरिचे अब्बहण्णे (सुत्रं २९७)

‘नाणाधरणिज्जस्स ण मते ! कम्मस्स जहण्णठिइयंपए के० ?’ इत्यादि सुगम, नयरमन्यतरसूक्ष्मसपराय इति
यदुक्तमस्य व्याख्यान क्षपक उपश्रमफो वा सूक्ष्मसम्परायः, इह ज्ञानाधरणस्य षधः क्षपकस्य उपश्रमकस्य च जघन्य-
तोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽन्तर्मुहूर्त्तत्वाधिशेषात् उपश्रमफो वा क्षपको वा इत्युक्तम्, अन्य(थाऽ)त्रापि क्षपकोपेक्षया
उपश्रमकस्य षधो द्विगुणो वेदितव्यो, यत आह कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहणिकारः—‘खवगुवसामगपच्चिवयमाणो दुगुणो
तहिं तहिं षधो’ [क्षपकोपश्रमकप्रतिपत्ततां द्विगुणस्तत्र तत्र षधः] इति, ततो वेदनीयस्य साम्परायिकध षधि-
न्तायां जघन्याः स्थितिषन्धः क्षपकस्य द्वादश मुहूर्त्वा उपश्रमकस्य चतुर्थिद्यतिः, नामगोत्रयोजंघन्यतः क्षपकसाष्टौ मुह-
ूर्त्वा उपश्रमकस्य षोडश, पर उपश्रमकसापि जघन्यतो षन्धः शेषवन्धापेक्षया सर्वजघन्य इति तत्सुत्रेष्वपि ‘अन्नयरे सुडु-
मसपराए उपसामए वा स्वधगे वा’ इति षक्तव्य, तथा च षक्ष्यति—‘एएण अभिलाषेण मोहाउयज्जाण सेसकम्माण
माणियष’ति उपसंहारसूत्रे ‘तवहरित्ते अजहन्ने’ इति तद्व्यतिरिक्तः—क्षपकोपश्रमकसूक्ष्मसम्परायव्यतिरिक्तो जनो-
ज्जघन्यस्थितिषन्धकः, आयुर्धन्धकसूत्रे ‘जे ण जीये असखिप्पद्दापविट्ठे’ इत्यादि, इह द्विविधा जीवाः—सोपक्रमायुपो
निरुपक्रमायुपम्, तत्र देवा नैरयिका असङ्ख्येयपर्यायुपस्त्रियग्मनुव्याः सङ्ख्येयपर्यायुपोऽप्युत्तमपुरुषाम्भ्रवन्त्यादियध्वर-

मदारीणिश्च निरुपक्रमायुष एव, श्रेयास्तु सोपक्रमा अपि निरुपक्रमा अपि, उक्तं च—“देवो नैरइया वा असखवा-
सावया य त्तिरिमणुया । उचमपुरिसा य तथा चरमसरीरा य निरुवकमा ॥ १ ॥ सेसा ससारत्था मइया सोपक्कमा ष
इयरे वा । सोपक्कमनिरुवक्कमेओ मण्णिओ समासेण ॥ २ ॥” [देवा नैरयिका वा असख्यवर्षायुष्काश्च नरतिर्यश्चः ।
उचमपुरुपाश्च तथा चरमसरीराश्च निरुपक्रमाः ॥ १ ॥ श्रेयाः ससारत्था मक्काः सोपक्रमा वेतरे वा । सोपक्रमनिरु-
पक्रममेदो मण्णितः समासेन ॥ २ ॥] तत्र देवा नैरयिका असङ्ख्येयवर्षायुषस्तिर्यग्मनुष्याश्च पण्मासावशेषेपायुषः पारम-
विकायुर्षधका एव, ये पुनस्तिर्यग्मनुष्याः सस्येयवर्षायुषोऽपि निरुपक्रमायुषस्ते नियमाग्निमागावशेषेपायुषः परमवा-
युर्षमन्ति, ये तु सो पक्रमायुषस्ते स्याग्निमागावशेषेपायुषस्तिमागत्रिमागावशेषेपायुषो यावदसङ्ख्येयाद्वाप्रविष्टा इति, तत
आह—‘जे णं जीवे’ इत्यादि, यो णमिति वाक्यालङ्कारे जीवोऽसङ्ख्येयाद्वाप्रविष्टः त्रिमागादिना प्रकारेण या
सङ्घेसु न शक्यते सा असङ्ख्येया सा वासौ अस्मा च असङ्ख्येयादा तां प्रविष्टः असङ्ख्येयाद्वाप्रविष्टः, अत आह—‘से’
तस्यासङ्ख्येयाद्वाप्रविष्टस्य जीयस्यायुः सर्वनिरुद्ध उपक्रमोद्गुभिरतिसङ्घिसीकृत, आयुर्षन्धनिवर्धनमात्र एव कालः
तस्यास्ति न परतो जीवनकाल इति भावः, एतदेव स्पष्टतरमाह—‘सेसे सबमहतीए आउयबघडाए’ इह सर्वमहती
आयुर्षंघादा अटार्क्यप्रमाणा तस्याः श्रेयः—एकार्क्यप्रमाणा तावन्मात्र सर्वनिरुद्ध तस्यायुर्वर्धते इति भावः, ततो-
ऽसङ्ख्येयाद्वाप्रविष्टः, स इत्यमृतः तस्या—आयुर्षन्धवादावाचरमकालसमये—चरमकालावसरे एकार्क्यप्रमाणे, इह

धरमसमयफालप्रद्वेनेन न परमनिरुद्धः समय 'परियुद्धते किन्तु ययोकरूपः कालस्यतो हीनेन कालेनायुर्बन्धस्वास्त-
 म्भवात्, 'यत उक्तं प्राक् व्युत्क्रान्तिपदे "जीवा न मते ! 'ठिनामंनिदृच्छाद्यं' कश्चिद् ध्यागरित्सेहिं पकरेइ !, गो० !
 जह० 'एकेण उकोसेण अट्टहिं भागरित्सेहिं' इति, 'एकेन धाकर्येणायुर्निर्वर्चयति सर्वजघन्यं, 'यत आह—'सर्वजघ-
 न्निय'मिति, सर्वजघन्यां—सर्वजघ्नी स्थितिमिति गम्यते, निर्वर्चयति यद्भातीति भावः, किञ्चिद्विद्यामित्याह—
 'पर्यासापर्यासिका' शरीरेन्द्रियपर्यासिनिर्वर्चनोच्छ्वासपर्यास्यनिर्वर्चनसमर्थी, कथमेतत् अवंसेय यत्सर्वजघन्यामपि स्थितिं
 निर्वर्चयति जीवः शरीरेन्द्रियपर्यासिनिर्वर्चनसमर्थो न ततो हीनतरा इति चेत्, उच्यते, युक्त्विषयात्, तथाहि—इह
 सर्व एव देहिनाः परमवायुर्बद्धा म्रियन्ते नान्यथा, परमवायुपत्र बन्ध औदारिके वैक्रिये आहारके वा योगे वर्च-
 मानस्य न कर्मणे औदारिकादिमिमे वा, तथा चाह मूढटीकाकारः—'जेगोरालियार्पण तिण्ह सरीराण काय-
 जोगे पट्टमाणो आउयपधगो, न कम्मए ओरालियाइमिस्से वा" इति, औदारिकादिकाययोगश्च विशिष्टो भवति,
 शरीरेन्द्रियपर्यास्या, न केवलं शरीरपर्यास्या पर्यासस्य, तत एतत्सिद्ध—शरीरपर्यास्या इन्द्रियपर्यास्या च पर्यासस्य,
 मरण नान्यथेति, सर्वजघन्यामपि स्थितिं निर्वर्चयति शरीरेन्द्रियपर्यासिनिर्वर्चनसमर्थो न ततोऽपि हीनतरामिति,
 'एस ण गोयमे'त्याद्युपस्यहारवाक्यम् । तदेवमुक्तो जघन्यस्थितिबन्धकः, सम्प्रत्युत्कृष्टस्थितिबन्धके गृच्छति—

उकोसकालद्वितीयं नं मते ! पाणावरगिर्जं किं नरुजो बंधति । तिरिक्खुबोयिजो बंधद/तिरिक्खुबोयिणी बंधद मजुस्सो

बंधू मणुस्मिन्नी बंधू दूरो बंधू दधी बंधू ! नेरइओवि बंधू भाव देधीवि बंधू, केरिसए ण भवे ! नेरइए
 उओमहाअट्टियं पाणावरणिअ कम्मं बंधू !, गो० ! मण्णी पंचिदिए सवाहिं पज्जसीहिं पज्जसीहिं सागारे जागेर सुत्तो(तो)वउचे
 भिञ्जादिही कण्हलमे य उओमसंफिलिट्टपरिणामे इंसिमडिमपरिणामे वा, एरिसए णं गो० ! नेरइए उओसकालद्वितियं
 पाणावरणिअ कम्मं बंधति, केरिमए णं मंते ! तिरिखज्जोणिए उओसकालद्वितीयं पाणावरणिअ कम्मं बंधति !,
 गो० ! कम्मभूमए पा कम्मभूमगपलिमागी वा सण्णी पंचेदिए सवाहिं पज्जसीहिं पज्जए सेसं त चेव जहा नेरइएस्स,
 एषं तिरिखज्जोणिवि मणुसेवि मणुसीवि, देवदेवी जहा नेरइए, एष आउयवळाण सचण्हं कम्माणं ! उओसकाल
 द्वितीयं ण मंते ! आउयं कम्मं किं नेरइओ बंधति जाव देवी व० ? , गो० ! नो नेरइओ बंधू, तिरिखज्जोणिओ बंधति,
 नो निरिखज्जोणिवि बंधति, मणुसेवि बंधति, नो देवो बंधू नो देवी बंधू, केरिसए ण मंते !
 निरिखज्जोणिवे उओसद्वितीयं आउयं कम्मं बंधति !, गो० ! कम्मभूमए वा कम्मभूमगपलिमागी वा सण्णी पंचिदिए
 एवाहिं पज्जसीहिं पज्जए सागारे जागेर सुचोवउचे भिञ्जदिही परमकण्हलेसे उओससंफिलिट्टपरिणामे, एरिसए णं गो० !
 निरिखज्जोणिवे उओसकालद्वितीयं आउयं कम्मं बंधति, केरिसए णं मंते ! मणुसे उओसकालद्वितीयं आउयं कम्मं बंध-
 ति !, गो० ! कम्मभूमए पा कम्मभूमगपलिमागी वा जाव सुचो(तो)वउचे सम्मदिही वा भिञ्जदिही वा कण्हलेसे वा सुक्के
 मे वा पाणी वा अण्णाणी वा उ० संफिलिट्टपरिणामे वा असंफिलिट्टपरिणामे वा तप्याउगविमुग्गमाणपरिणामे वा
 एरिसए णं गो० ! मणुसे उओसकालद्वितीयं आउयं कम्मं बंधति, केरिमया णं मंते ! मणुसी उओसकालद्वितीयं आउयं

कर्म बंध १, गो० । कर्मभूमिया वा कर्मभूमगपलिमागी वा आव सुखीषउषा सम्मरिठी सुकलेसा ठप्पाउगगविसुग्ग-
 माणपरिणामा, परिस्सिया नं गोतमा ! मण्ठी उक्कोसकालद्विश्यं आउयं कम्म बंधति, अंतराश्यं जहा पाणापरिणज
 (सूत्रं २९८) ॥ पण्णवणाए तेवीसम ययं समबंधं ॥ २३ ॥

‘उक्कोसकालठिइय ण मते । पाणावरणिज्ज कम्म किं नेरइओ वषइ’ इत्यादि, सुगम, नैरयिकसूत्रे ‘सागार’ इति
 साकारोपयुक्तः, ‘जामरे’ इति जाम्रद्व नारकाणामपि कियानपि निद्रानुमवोऽस्मि तत उक्कम्-‘जाम्र’दिति ‘सुचो(तो)
 वउत्ते’ इति सुतोपयुक्तः साभिलापज्ञानोपयुक्त इति भावः । तिर्यग्गोनिफसूत्रे ‘कम्मभूमगपलिमागी च’ कर्मभूमगाः-
 कर्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः-आइइय तदस्यास्तीति कर्मभूमगप्रतिमागी कर्मभूमगसपृष्ठ इत्यर्थः, कोऽसापिति
 चेत्, उच्यते, या कर्मभूमिजा तिर्यक्कली यर्षिणी सती केनाप्यपइत्याकर्मभूमौ सुफा तस्या जातः कर्मभूमगसएव
 इत्यर्थः, अन्ये तु ग्यावधते-कर्मभूमग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ नीतो भवति तदा स कर्मभूमगप्रतिभागी
 व्यपदिश्यते इति । उल्लष्टस्थितिकायुर्बधचिन्तायां नैरयिकतिर्यग्योनिकस्त्रीदेवदेवीनां प्रतिपेयाः, तासामुल्लष्टस्थिति-
 तु नरकादिपूतस्थभायात्, मनुष्यसूत्रे ‘सम्मदिठी वा मिच्छादिठी वा’ इति, इह द्वे उल्लष्टे आयुपी, तथाया-सस
 मनरकपृथिव्यायुर्बधेति तदा सिध्द्याएटिः, यदा पुनरनुत्तरसुरायुस्त्वदा सम्यगरटिः, ‘कण्हेसे वा’ नारकायुर्बधकः
 ‘सुकलेसे वा’ इति अनुत्तरसुरायुर्बधकः सम्यगरटिरप्रमत्तयतिः, उल्लष्टसक्खिणपरिणामो नारकायुर्बधकस्त्वत्वा

योगयथिदुग्धमानपरिणामोऽनुत्तरसुरायुर्बन्धकः, मानुषी सु सप्तमनरकपृथिवीबीज्यमायुर्न पश्नाति अनुत्तरसुरायुस्त्व
 पश्नातीति तत्सूत्रे सर्वे प्रशस्त ज्ञेय, इह भक्तिभिदुग्ध आयुर्बन्धमेव न करोतीति तत्रायोग्यग्रहण, शेष कण्ठ्यम् ॥
 इति श्रीमत्सयगिरिविरचितायां प्रजापनाटीकाया त्रयोविंशतितमः कर्मप्रकृत्याख्य पद परिसमाप्तम् ॥

अथ चतुर्विंशतितम कर्मप्रकृतिबन्धपदं ॥ २४ ॥

न्याख्यात त्रयोविंशतितम पद, सम्यक् चतुर्विंशतितममारम्यते—तस्य धायमभिसम्बन्ध - इहानन्तरपदे कर्मब-
 यादिरूपः परिणामविशेषमिच्छन्तिताः, स एव बक्ष्यमाणेष्वपि चतुर्षु परेषु कथित् चिन्त्यते, तत्र चतुर्विंशतितमस्य
 पदस्येदमादि सूत्रम्—

कवि नं मेते ! कम्मपगणीओ पण्णराओ !, मो० ! अट्ट कम्मपगणीओ पण्णराओ, वं०—आणोवरणिकं आव अतरा
 इवं, एवं नेरइयाण आव वेमागियारणं । भीचे णं मेते ! आणोवरणिकं कम्म बंधमाये कवि कम्मपगणीओ बयइ !, गो० !
 'सुचविहइयए वा अट्टविह० छविहइयते वा, नेरए णं-मेते ! आणोवरणिकं कम्मं बंधमाले कवि कम्मपगणीओ बयइति !,
 गो० ! सुचविहइयए वा अट्टविह०, एवं आव वेमागिते, अवरं मयुस्से अहा भीचे, भीचा न-मेते ! आणोवरणिकं कम्मं

बंधमाया कृति कम्मपगढीओ पंधति १, गो० ! संवेपि एवम होळ्ळ सचविहबंधगा य अट्टविहबंधगा य अहवा सचविह-
 बंधगा य अट्टविहबंधगा य छविहबंधगा य अहवा सचविहबंधगा य अट्टविहबंधगा य छविहबंधगा य, केरइया णं मंते !
 जाआवरणिलं कम्मं बंधमाया कृति कम्मपगढीओ बंधति १ गो० ! संवेपि ताव होळा सचविहबंधगा अहवा सचविहबंध-
 घगा य अट्टविहबंधगे य, अहवा सचविहबंधगा य अट्टविहबंधगा य सिष्णि मंगा, एवं वाव यणियइमारा, पुढविका-
 इया णं पुच्छा, गो० ! सचविहबंधगाविं अट्टविहबंधगाविं एवं जाव वमफ्फकाइया, विंगलापं पंचिवियतिरिक्खजोभि-
 यानं तिनयेगी संवेपि ताव होळ्ळ सचविहबंधगा अहवा सचविहबंधगे य अहवा सचविहबंधगा य अट्ट-
 विहबंधगा य, मपूसा णं मंते ! जाआवरणिल्लस्स पुच्छा, गो० ! संवेपि होव होळा सचविहबंधगा १ अहवा सचवि-
 हबंधगा य अट्टविहबंधगे य २ अहवा सचविहबंधगा य अट्टविहबंधगा य ३ अहवा सचविहबंधगा य छविहबंधगे य ४
 अहवा सचविहबंधगा य छविहबंधगा य ५ अहवा सचविहबंधगा य अट्टविहबंधगे य छविहबंधगे य ६ अहवा सचविह-
 बंधगा य अट्टविहबंधगे य छविहबंधगा य ७ अहवा सचविहबंधगा य अट्टविहबंधगे य ८ अहवा सचवि-
 हबंधगा य अट्टविहबंधगा य छविहबंधगा य ९ एवं एते नव मंगा, सेसा वाणमठारादिया जाव वेमायिता अहा नेरइया
 सचविहादिपघगा मायिता तथा माणिसवा, एवं अहा जाणावरणं बंधमाया अहिं यणित्ता दंसणावरणंपि बंधमाया सद्धिं
 जीवादीया पगचपोडुचेहिं भाणित्ता, येयमिअंधमाणे जीवे कृति १, गो० ! सचविहबंधप वा अट्टविहबंधप वा
 छविहबंधप वा पगविहबंधप वा, एवं मपूसेपि, सेसा नारगादीया सचविहबंधगा अट्टविहबंधगा - जाव वेमायिते, जीवा णं

भंते ! वेदभिर्ज्जं कम्मं पुच्छा, गो० ! संवेवि ताव होञ्जा सत्तविह्वबंधगा य अट्टविह्वबंधगा य एगविह्वबंधगा य छविह्वबंध
 घए य अहवा सत्तविह्वबंधगा य अट्टविह्वबंधगा य एगविह्वबंधगा य छविह्वबंधगा य अवसेसा, नारगादीया जाव वेमाणि
 ता जहिं आणावरणं बंधंति तहिं माणित्वा, एवं मणुसा णं भंते ! वेदभिर्ज्जं कम्म बंधमाणा कति कम्मपगढीतो बंधं-
 ति ? , गो० ! संवेवि ताव होञ्ज सत्तविह्वबंधगा य एगवि० ? अहवा सत्तविह्वबंधगा य एगवि० अट्टविह्वबंधगे य २
 अहवा सत्तविह्वबंधगा य एगविह्वबंधगा य अट्टवि० ३ अहवा सत्तविह्वबंधगा य छविह्वबंधगे य ४ अहवा
 सत्तविह्वबंधगा य एगविह्व० छविह्व० ५ अहवा सत्तविह्वबंधगा य एगवि० अट्टविह्वबंधगे य ६ अहवा सत्त
 विह्वबंधगा य एगविह्वबंधगा य अट्टविह्वबंधगे य छविह्वबंधगा य ७ अहवा सत्तविह्वबंधगा य एगवि० गा य अट्टविह्वबंध०
 छविह्वबंधगे य ८ अहवा सत्तविह्वबंधगा य एगवि० अट्टवि० छविह्व० ९ एवं एए नय भंगा माणियथा, मोहणिज्जं बंधमाणे
 जीवे कति० ? , गो० ! जीवेगिदियवद्धो तियमंगो, भीवेगिदिया सत्तविह्वबंधगावि अट्टविह्वबंधगावि, वीवे णं भंते ! आत्तमं
 कम्म बंधमाणे कति कम्म० ? , गो० ! नियमा अट्ट, एव नेरए जाव वेमाणिए एवं पुट्टुत्तेणवि, णामगोयअंतराइयं बंध
 माणे जीवे कति० ? , गो० ! जीवा णाणावरणिज्जं बंधमाणे जाहिं बंधति ताहिं माणित्तो, एव नेरएवि, जाव वेमाणिए,
 एवं पुट्टुत्तेणवि माणियबंधं ॥ (सुत्र २९९) पण्णवयाए मगवईए चत्थीसत्तिम परं सत्तं ॥

ज्वपि पदेपु भायनीय, सप्रति किं कर्म पन्नन् कानि कर्माणि ब्रह्मातीति षडसम्पन्ध विचिन्तयितुः प्रथमतो ज्ञानावर-
 नीयेन सह सम्बन्ध चिन्तयति—‘जीवे ण मते ! णाणावरणिञ्च कम्म यधमाणे कइ कम्मपगळीनो बधइ’ इत्यादि
 सुगमं, नपर सप्तविधबन्धक आयुर्वधकाभाषकाले अष्टविधबन्धक आयुरपि घमन् पद्विधबन्धको मोहायुर्वधकाभावे,
 स च सूक्ष्मसम्पराय, उक्तं च—“सप्तविधबन्धगा होति पाणिणो आउवज्जगाण तु । तह सुहुमसपराया छविहवघा
 विणिधिहा ॥ १ ॥ मोहाउयपञ्चारणं पयहीण ते उ बन्धगा भणिया ॥” [सप्तविधबन्धका भवन्ति प्राणिन आयुर्वर्जा-
 नाम् । तथा सूक्ष्मसपरायाः पद्विधबन्धा विनिर्दिष्टाः ॥ १ ॥ मोहायुर्वर्जाना प्रकृतीनां ते तु बन्धका भणिताः]
 इति, एकविधबन्धकस्तु न लभ्यते, एकविधबन्धका हि उपशान्तकपायादयः, तथा चोक्तम्—‘उवसंतस्त्रीणमोहा
 केवल्लिणो एगविहबन्धा । ते पुणहुसमयद्विइयस्स बन्धका न उण सपरायस्स ॥” [उपशान्तस्त्रीणमोहाः केवलिन एक-
 विधबन्धा । ते पुनद्विसमयस्थितिकस्य बन्धका न पुन सपरायस्य] न चोपशान्तकपायादयो ज्ञानावरणीय कर्म
 यन्नन्ति, तद्वन्धस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमय एव व्यवच्छेदात्, किन्तु केवल सातवेदनीयमिति ॥ एतदेव नैरयिका-
 दिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—‘नैरइए ण मते’ इत्यादि, इह मनुष्यवर्जेषु श्रेषु पदेपु सर्वेष्वपि द्वायेषु मङ्गकौ ब्रह्मव्यो
 सप्तविधबन्धको वा अष्टविधबन्धको वा इति, न तु तृतीय पद्विधबन्धक इति, तेषु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानास-
 म्भवात्, मनुष्यपदेपु त्रयोऽपि षड्व्याः, तत्र सूक्ष्मसम्परायत्यसम्भवात्, तथा चाह—‘एव जाय वेमाणिए, नवर

मणूने जहा जीये' इति । उक्त एकत्वेन दण्डक, सम्प्रति बहुत्वेनाह—'जीवा ण मते' इत्यादि, इह जीवाः ससधि-
घयघका अष्टविधपथकाम् सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते, पञ्चविधबन्धकस्तु कदाचित्सर्वथा न भवति, पणमासान् या-
यत् उत्कर्षतस्तदन्तरस्य प्रतिपादनात्, यदापि लभ्यते तदापि जयन्यपदे एको द्वौ वा उत्कर्षतोऽष्टाधिकं शतं, तत्र
यदैकोऽपि न लभ्यते तदा प्रथमो मङ्गः, यदा त्वेको लभ्यते तदा द्वितीयो, यद्द्वौ लभे तु तृतीय इति, नैरयिकाः
पञ्चविधपथका न भवन्ति अष्टविधबन्धका अपि कादाचित्काः, तत्र यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा
सर्वेऽपि तावद् भयेषु सप्तविधपथका इति प्रथमो मङ्गः, यदा त्वेकोऽष्टविधबन्धकस्तदा द्वितीयो यदा तु बहव-
स्तदा तृतीय इति, एतदेव मङ्गत्रिक दशस्वपि मयनपतिषु मावनीय, पृथिव्यादिसु पञ्चसु सप्तविधबन्धका अपि अष्ट-
विधपथका अपील्येक एव मङ्गोऽष्टविधपथकानामपि सदैव तेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्, द्वित्रिषट्पुरिन्द्रियतिर्यङ्-
पथेत्रियसूत्रेषु मङ्गत्रिक नैरयिकषत्, मनुष्यसूत्रे मङ्गनवकमष्टविधबन्धकस्य पञ्चविधबन्धकस्य च कदाचित् सर्वथाप्य-
मायात्, तत्राष्टविधपथकामात्रे सर्वेऽपि तावद् भयेषु सप्तविधबन्धका इति प्रथमो मङ्गः, सप्तविधबन्धका-
ना सदैव बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात्, एकाष्टविधबन्धकामात्रे द्वितीयः सप्तविधबन्धकामात्रे त्रिषट्पिषड्विधबन्धका-
भात्रे तृतीयः सप्तविधपथकामात्रे द्वितीयः सप्तविधबन्धकपदेनाप्येकत्वं बहुत्वाभ्यां द्वौ
मङ्गाविति द्विकसर्पोगे चत्वारो मङ्गाः। त्रिकसर्पोगेऽप्यष्टविधबन्धकषट्पिषड्विधबन्धकषट्पिषड्विधबन्धकषट्पिषड्विधबन्धका-

म्यां चत्वार इति सर्वसङ्ख्याया नव, स्यन्तरज्योतिष्कथैमानिका नैरधिकवत्, यथा ज्ञानापरणीय चिन्तितं तथा वर्धना-
 परणीयमपि चिन्तयितव्य, वेदनीयचिन्तायां एकविधवधक एष इति उपशान्तमोहादि, श्रेय प्राग्भवत्, मनुष्यपद-
 विषयचिन्तायामपि त एव प्रागुक्ता नव मङ्गाः, ससयिषवन्धकानामेकविधवन्धकानां च सदैव बहुत्वेनावस्थित-
 तथा महान्तरासम्भवात्, मोहचिन्तायां जीवपदे पृषिष्यादितु पदेषु च प्रत्येक एक एव मङ्गः—सप्तविधवन्धका
 अपि अष्टविधवधका अपीति, उभयेषामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्, पञ्चविधवन्धकस्तु मोहनीयवन्धको न
 भवति, मोहनीयवधो अनिष्टचिषावरसम्परायगुणस्थानक यावत्, पञ्चविधवन्धकस्तु सूक्ष्मसंपराय इति, आयुर्बन्ध-
 कस्तु नियमावष्टविधवधक इति तच्चिन्तायामेकपक्षे बहुवधने च सर्वत्रामङ्गक, नामगोत्रान्तरायसूत्राणि ज्ञानावर-
 णीयसूत्रवत् ॥ इति श्रीसत्यगिरिविर० कर्मवशाख्य चतुर्विंशतितम पद समाप्तम् ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशतितमं कर्मवेदाख्य पदं ॥ २५ ॥

सम्प्रति पञ्चविंशतितममारम्यते, तत्र चेदमादिसूत्रम्—

कति नं भेदे ! कम्पगढीञ्चो र्दं !, गो० ! अठ् कम्पगढीतो एण्छाञ्चो तं०—षाणावरणिञ्चं चाव अंतराक्ष्यं, एवं
 नेत्रभाषं चाव वेमाषिषाण, जीवे ष भेदे ! षाणावरणिञ्चं कर्म बंधमाने कति कम्पगढीतो वेदेति !, गो० ! निय-

मा अट्ट कम्मपगणीतो वेदेति, एवं नेरइए ज्जाव वेमाणिए, एवं पुट्टुचेणवि, एवं वेदपिअवख्खं ज्जाव अंतराइयं । जीवे णं मंते ! वेदपिअं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगणीतो वेदेति !, गो० ! सचविहवेदए वा अट्टविहवेदए वा चउविहवेदए वा, एषं मणूसेवि, सेसा नेरइयासि एगधेण पुट्टुचेणवि नियमा अट्ट कम्मपगणीओ वेदेति ज्जाव वेमाप्पिया, जीवा णं मंते ! वेदपिअं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगणीतो वेदेति !, गो० ! सोवि ताव होसा अट्टविहवेदगा य चउविहवेदगा य ? अइवा अट्टविहवेदगा य चउविह० सचवि० ३, एवं मणूसावि माप्पियइ ॥ (सूत्रं ३००) एब्बवणाए मगवइए कम्मनेदणामं एणपीसतिमं एवं समत्तं ॥ २५ ॥

‘कइ ष मते कम्मपगणीओ’ इत्यादि गतार्थे, सम्यति किं कर्म बभन् कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते इति चिन्तयति- ‘जीवे ण मते !’ इत्यादि सुगम, वेदनीयसूत्रे ‘सचविहवेदए वा अट्टविहवेदए(या) वा चउविहवेदए(या) वा’ इति, सस- यिवेदक उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, तयोर्मोहनीयोदयामावात्, अट्टविघषेदका मिथ्यादृष्टपादयः सूक्ष्मसम्पराया- न्ताः, तेषामवश्यमष्टानामपि कर्मणामुदयमावात्, षट्त्विघषेदकः सयोगिकेयली, तस्य षातिकर्मषट्पट्टयोदयामावा- त्, षट्पचने ससविघषेदकाः कादाचित्का इति मज्जप्रयम् ॥ इति श्रीमल्लपगिरिविचित्तायां० पञ्चविंशतितमं कर्मवेदाख्य पद्य समाप्तम् ॥ २५ ॥

अथ पद्विंशतितमं कर्मविद्वन्भाष्यं पदं ॥ २६ ॥

अधुना पद्विंशतितममारम्ये, तत्र वेदमाधिसूत्रम्—

कृति र्भं मते ! कृष्णपगढीओ पण्यषाओ, गो० ! अट्ट कृष्णपगढीओ पण्यषाओ, सं०—भाणा० आव अंतराश्रं, एवं
नेरह्याने आव पेमाणियानं, श्रीवे ण मते ! जाप्यावरणिष्णं कृष्णं वेदेमाणे कृति कृष्णपगढीओ र्बंधति १, गो० ! सप्तवि-
हबंधं वा अट्टविहबंधं वा छविहबंधं वा एगविहबंधं वा, नेरहए र्भं मते ! जाप्यावरणिष्णं कृष्णं वेदेमाणे कृति कृष्ण०
र्बंधति १, गो० ! सप्तविहबंधं वा अट्टवि०, एवं आव वेमाजित्ते, एवं मथुसे अहा श्रीवे, श्रीवा र्भं मते ! जाप्यावरणि-
ष्णं कृष्णं वेदेमाणा कृति० ! कृष्णपगढीओ र्बंधति १, गो० ! सवेवि ताव होआ सप्तविहबंधं वा य अट्टविह० १ अहवा
सप्तविहबंधं वा य अट्टविहबंधं वा य छविहबंधं वा य २ अहवा सप्तविहबंधं वा य अट्टविहबंधं वा य छविहबंधं वा य २ अह-
वा सप्तविहबंधं वा य अट्टविहबंधं वा य एगविहबंधं वा य ४ अहवा सप्तविहबंधं वा य अट्टविहबंधं वा य एगविहबंधं वा य
५ अहवा सप्तविहबंधं वा य अट्टवि० छविहबंधं वा य एगविहबंधं वा य ६ अहवा सप्तविहबंधं वा य अट्टवि० छविहबंधं वा
य एगविहबंधं वा य ७ अहवा सप्तविहबंधं वा य अट्टवि० छविह० एगविहबंधं वा य ८, अहवा सप्तविहबंधं वा य अट्ट०

छविह० एगविह० ९, एवं एते नव मंगा, अवसेसीर्ण एगिदियमणूसवज्जाणं तियमंगो जाव वेमाणियाणं, एगिदियाण
सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्ष०, मणूसाण पुच्छा, गो० ! सवेवि ताव होज्ज सत्तविहर्षघगा ? अहवा सत्तविहर्षघगा य
अट्टविहर्षघगे य २ अहवा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघगा य अहवा सत्तविहर्षघगा य छविहर्षघए य४, एवं छविहर्षघ-
एणवि समं दो मंगा, एगविहर्षघएणवि समं दो मंगा, अहवा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघए य छविहर्षघए य चउम
गो ? अहवा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघए य एगविहर्षघगे य षउमगो २, अहवा सत्तविहर्षघगा य छविहर्षघए य
एगविहर्षघए य चउमंगो ३ अहवा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघए य छविहर्षघए य मंगा अट्ट, एवं
एते सत्तायीसं मंगा, एवं जहा णाणावरणिज्जं तथा दंसणावरणिज्जं अंतराहयंपि, जीवे णं मंते ! वेदणिय्ज कम्मं वेदेमा-
णे कति कम्मपगटीतो षघति ?, गो० ! सत्तविहर्षघते वा अट्टविहर्षघते वा छविहर्षघए वा एगविहर्षघए वा अर्षघए
वा, एव मणूसेवि, अवसेसा णारयादीया सत्तविहर्ष० अट्टविहर्ष० एवं जाव वेमाणिता । जीवा णं मंते ! वेदणिय्ज कम्मं
वेदेमाणा कति० षंघति ?, गो० ! सवेवि ताव होज्जा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघगा य एगविहर्षघगा य अहवा सत्त-
विहर्षघगा य अट्टवि० एगवि० छविहर्षघगे य, अहवा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघ० एगविहर्षघ० छविहर्षघगा य,
अर्षघेणवि समं दो मंगा माणिता, अहवा सत्तविहर्षघगा य अट्टविहर्षघ० एगविहर्षघ० छविहर्षघगे य अर्षघगे य
षउमंगो, एवं एए नव मंगा, एगिदियाणं अमंगठ, नारमादीणं तियमंगो जाव वेमाणियाणं, नवरं मणूसाणं पुच्छा,
सवेवि ताव होज्जा सत्तविहर्षघगा एगविहर्षघगा य अहवा सत्तविहर्षघगा य एगविहर्षघगे य अट्टविहर्ष

घृते य अर्पयते य, एवं एते सचापीसं मंगा माणित्वा, एव अहा वेदगिज्ञं तदा आउय नाम गोमं च माणित्वं, मोह-
 भिन्नं वेदेभाणे अहा गाणावरगिज्ञं तदा माणियं ॥ (सूत्रं ३०?) पण्य० छबीसतिर्मं पर्व समपम् ॥ २६ ॥

‘कृति ण भते ! इत्यादि गतार्थे, सम्प्रति किं कर्म वेदयमानः काः कर्मप्रकृतीर्भिग्रातीत्युदयेन सह धन्वस्य सम्पन्ध
 चिधित्तियुतिरिदमाह—‘जीवे ण भते ! गाणावरगिज्ञं कम्म येएभाणे कइ कम्मपगणीओ पघइ’ इत्यादि सुगम,
 नपर ज्ञानावरणीय कर्म वेदयमान एकविधषधकः उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा न तु सयोगिकेयली, तस्य ज्ञाना-
 वरणीयोदयामायात्, षडुवचनचिन्तायां पञ्चविधषधकाः सूक्ष्मसम्पराया एकविधधन्वका उपशान्तमोहक्षीणमो
 हाः कावाचित्का पकत्वादिना च माज्या इत्युभयेपामप्यभावे सप्तविधषधका अपि अष्टविधधन्वका अपील्येको
 मज्ञो, इयानामपि सदैव षडुत्वेन लभ्यमानत्वात्, ततः पञ्चविधषधकपदप्रक्षेपे एकयचनषडुषधनान्यां द्वौ मज्ञौ,
 एवमेष द्वौ मज्ञावैकविधषधकप्रक्षेपेऽपि, उभयोरपि युगपत् प्रक्षेपे पूर्वपणत्वार इति सर्वसङ्ख्यया नव, नैरयिकादितु
 तु पदेव्येकेन्द्रियमनुष्यपञ्चेषु षडुवचनचिन्तायां मज्ञत्रिक, अष्टविधषधकानां कावाचित्कतया एकत्यादिना भाज्य-
 तथा च लभ्यमानत्वात्, एकेन्द्रियेष्वमज्ञक, सप्तविधषधका अष्टविधधन्वका अपीति, उभयेपामपि सदा षडुत्वेन
 प्राप्यमाणत्वात्, मनुष्येषु तु सप्तविधचतिर्मज्ञाः, अष्टविधषधकपञ्चियधन्वकएकविधषधकानां कावाचित्कतया एक-
 त्यादिना भाज्यमानतया लभ्यमानत्वात्, तत्रामीपामभावे सप्तविधषधका इत्येको मज्ञः, ततोऽष्टविधषधकपदप्र-

धेपे एकवचनयदुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ, पद्द्विविधबन्धकप्रक्षेपे द्वौ, एकविधबन्धकप्रक्षेपे सति सप्त, ततोऽष्टविधबन्धक-
 पद्द्विविधयधकपदप्रक्षेपे चत्वारः, अष्टविधयधकैकविधयधकपदप्रक्षेपे चत्वारः, पद्द्विविधयधकैकविधयधकपदप्र-
 क्षेपेऽपि चत्वारः, एकोनविंशतिः, ततोऽष्टविधयधकैकविधयधकैकविधयधकपदानां युगपत् प्रक्षेपेऽष्टाविति सप्त-
 विंशतिः, वेदनीयसूत्रे एकविधयधकः समयोगिकैकवत्यपि, तस्मापि वेदनीयोदयबन्धसम्भवात्, अयन्धकोऽयोगिकैव-
 ली, तस्य योगामासतो वेदनीय वेदयमानस्मापि तद्वन्धासम्भवाद्, वेदनीयसूत्रे एकवचनयदुवचनचिन्तायां जीवपदे
 नव भक्ता, तत्र सप्तविधयधकाष्टविधयधकैकविधयधकानां सदैव षडुत्वेन लभ्यमानत्वात् षडुवचनात्मके इतरप-
 दद्वयामाये एकः, ततः पद्द्विविधयधकपदप्रक्षेपे एकवचनयदुवचनाभ्यां द्वौ एवमेव द्वावैकविधयधकपदप्रक्षेपे चत्वार
 तमयपदप्रक्षेपे इति । मनुष्यपदे सप्तविंशतिः, तत्र हि सप्तविधयधका एकविधयधका एकेन बहुत्वेन सदावस्थिता
 इतरे तु त्रयोऽप्यष्टविधयधकाः पद्द्विविधयधकाः भयधकाम् कादाचित्का एकत्वादिना ष भान्याः, ततस्तेषाममावे
 सप्तविधयधका अव्यैकविधयधका अपीत्येको मङ्गः, ततोऽष्टविधयधकपदप्रक्षेपे एकवचनयदुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ
 पद्द्विविधयधकपदप्रक्षेपे द्वावैकविधयधकपदप्रक्षेपे इति षट्, तथा त्रयाणां पदानां त्रयो द्विकसयोगा एकैकस्मिन्
 द्विकसयोगे एकवचनयदुवचनाभ्यां चत्वार इति द्विकसयोगे द्वादश द्विकसयोगेऽष्टाविति सर्वसङ्ख्या सप्तविंशतिः,
 एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि, मोहवेदनीय कर्म वेदबमानो जीवः सप्तविधयधकैकविधयधकः षट्-

विषयको वा, सूक्ष्मस्मरारायापत्यायामपि मोहनीयवेदनसम्मवात्, एव मनुष्यपदेऽपि वक्तव्य, नरकादिषु तु
 पदेषु सप्तविषयघकोऽष्टविषयघको वेत्येष वक्तव्यं, सूक्ष्मस्मरारायत्यामावतः पञ्चविषयघकत्वासम्मवात्, षडुषघन-
 चिन्तायां जीयपदे मङ्गत्रिक, तत्र सूक्ष्मस्मरारायाः फादाधित्का इतरे च द्वये सर्वेषु षडुत्वेन लभ्यन्ते इति पञ्चवि-
 षयघकपदाभावे सप्तविषयघका अपि अष्टविषयघका अपीत्येको मङ्गः, ततः पञ्चविषयघकपदप्रक्षेपे एकवचनव-
 हुषयनाम्नां द्वावेतौ मङ्गाधिति, नैरयिकादिषु सानितकुमारपर्येषसानेषु सप्तविषयघकाः सदा षडुत्वेनावस्थिताः,
 अष्टविषयघकास्तु फादाधित्का एकत्वादिना च मान्या इति, अष्टविषयघकपदाभावे सप्तविषयघकका इत्येको
 मङ्गः, ततोऽष्टविषयघकपदप्रक्षेपे एकवचनषडुषयनाम्नां द्वाधिति, पृथिव्यादिषु तु पञ्चस्वप्यमङ्गक सप्तविषयघकका
 अपि अष्टविषयघका अपीति, उभयेषामपि तेषु सदा षडुत्वेन लभ्यमानत्वात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु
 व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु च नैरयिकषत् मङ्गत्रिक, मनुष्येषु नव मङ्गा, तत्र सप्तविषयघकका इत्येको मङ्गस्ततो-
 ऽष्टविषयघकपदप्रक्षेपे एकवचनषडुषयनाम्नां द्वौ द्वौ पञ्चविषयघकपदप्रक्षेपे एकवचनषडुषयनाम्नां षत्वारः
 उभयपदप्रक्षेपे इति, तथा वाह—“मोहणिञ्च वेपमाने जहा [मधे] आयावरणिञ्च तथा माणियव'मिति ॥ इति
 श्रीमत्पद्मिगिरिधितार्यां० पञ्चविंशतितम वेदम'शाख्य पद समाप्तम् ॥

अथ सप्तविंशतितम कर्मप्रकृतिवेदवेदपदं ॥ २७ ॥

संप्रति सप्तविंशतितमस्यारम्भते, तत्रेवमादिसूत्रम्—

कृति षं मते ! कम्मपगढीओ प० ? , गो० ! अह्, षं०-णाणा० आव अतराइयं, एवं नेरइमाणं आव वेमाणियाणं, जीवे षं मते ! णाणापरिज्जं कम्मं वेदेमाने कृति कम्मपगढीतो वेदेति ? , गो० ! सत्तविह्वेयए वा अट्टविह्वेयए वा, एवं मणूसेवि, अवसेसा पगणेणवि पुडुणेषवि मियमा अट्ट कम्मपगढीतो वेदेति जाव वेमाणिया, जीवा णं मते ! णाणापरिज्जं वेदेमाणा कृति कम्मपगढीतो वेदेति ? , गो० ! सवेयि ताव होज्जा अट्टविह्वेदगा, अहवा अट्टविह्वेदगा य सत्तविह्वेदगे य अहवा अट्टविह्वेदगा य सत्तवि०, एवं मणूसावि, दरिसणापरिज्ज अंतराइयं च एवं वेव माणितव, वेवगिज्जं आउपनामगोणावि वेदेमाने कृति कम्मपगढीओ वेपत्ति ? , गो० ! अहा चवगवेदगस्स वेयणिस्र तथा माणितवाणि, जीवे णं मते ! मोहणिज्ज वेदेमाने कृति कम्मपगढीतो वेदेति ? , गो० ! नियमा अट्ट कम्मपगढीतो वेदेति, एवं नेरविण आव वेमाणिते, एवं पुडुणेणवि (सूत्रं ३०२) ॥ पणवणाए मगवइए सत्तावीसइम पर्यं समवं ॥ २७ ॥

‘कइ ण मते!’ इत्यादि गत्वार्थं, सम्प्रति किं कर्म वेदवमानः कृति कर्मप्रकृतीर्वेदयते इत्युदयस्योदयेन सह सम्बन्धं च चिन्तयति—‘जीवे ण मते ! णाणापरिज्जं कम्म वेपमाणे कइ कम्मपगढीओ वेपइ’ इत्यादि, तत्र सप्तविधवे-

दक उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, तयोर्मोहनीयोदयासम्भवात्, श्रेयस्तु सूक्ष्मसपरायादिरष्टविधवेदकः, एव
 मनुष्यपदेऽपि षाण्य, नैरयिकादयस्तु नियमादष्टविधवेदकाः, षडुपचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च मङ्गत्रिक,
 तत्र सर्वेऽपि तावद् भवेयुः अष्टविधवेदका इत्येको मङ्गः, ततः सप्तविधवेदकस्यैकस्य माये द्वितीयो बहूनां मावे तु-
 तीयः, श्रेयेषु तु नैरयिकादिषु पदेषु अमङ्गमष्टविधवेदका इति, सप्तविधवेदकस्य तत्रासम्भवात्, एष दर्शनावर-
 णीयान्तरायसूत्रेऽपि षक्य, वेदनीयसूत्रे जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमष्टविधवेदको वा सप्तविधवेदको वा षट्-
 विधवेदको वेति षक्य, श्रेयेषु तु नैरयिकादिषु अष्टविधवेदक इत्येकः, तेषामुपशान्तमोहत्याद्यवस्थासम्भवात्,
 तत्रैव वेदनीयसूत्रे षडुपचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येक मङ्गत्रिक, तत्राष्टविधवेदकाद्येत्येको मङ्गः, एष
 सर्वथा सप्तविधवेदकानामभावे, ततः सप्तविधवेदकपदप्रक्षेपे एकवचनषडुपचनान्या द्वौ मङ्गाविति, श्रेयेषु तु नैरयि-
 कादिषु स्वानेष्यमङ्गक अष्टविधवेदका इति, एवमायुर्नामगोत्रसुभ्राण्यपि भावनीयानि, मोहनीय कर्म वेदयमानो
 नियमादष्टविधवेदक इति, जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेष्वेकवचनचिन्तायां षडुपचनचिन्तायां च सर्वत्रापि अमङ्गक-अष्टौ
 कर्मप्रकृतीर्येदयते वेदयन्ते वा ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां प्र० वेदवेदाख्य सप्तविंशतितम पद समाप्तम् ॥२७॥

तदेवमुक्त वेदवेदास्य सप्तविंशतितम पद, सम्प्रत्यष्टाविंशतितममारभ्यते, तस्य षायमभिसम्बन्धः—इदानीन्तरपदे नारकादिगतिसमापन्नानां कर्मवेदनापरिणाम उक्तः, इह त्वाहारपरिणाम इति, तत्र चैवे सङ्गृह्यणिगाये—

सञ्चिषा ? हारही २ केवति ३ किं वाचि ४ सङ्गतो चैव ५ । कतिभामं ६ संवे ७ सुलु परिणामे ८ चैव बोदवे ॥ १ ॥ एगिदियसरी रादी लोमाहारो तरेव सगमकखी । एतेसिं तु पवामं विभावणा होंति कातवा ॥ २ ॥ नेरइया नं मंते ! किं ! सञ्चिचाहारा अञ्चिषाहारा मीसाहारा ?, गो० । नो सञ्चिषाहारा अञ्चिषाहारा नो मीसाहारा एव असुरकुमारा जाव वेमाणिवा, ओ- राखियसरीरा बाव मथूसा सञ्चिषाहारावि अञ्चिषाहारावि मीसाहारावि । नेरइया नं मंते ! आहारही ?, हुन्वा आहार ही, नेरइयानं मंते ! केवतिकालस्र आहारहे समुप्यञ्जति ?, गो० । नेरइयानं युविचे आहारे पञ्जचे, वं०—आमोगनिव चिते य अणामोगनिवचिते य, तस्य न चैसे अणामोगनिवचिते से नं अणुसमयमविरहिते आहारहे समुप्यञ्जति, तस्य य चैसे आमोगनिवचिते से नं असंखिञ्चसमतिप अंतोष्टुदुचिते आहारहे समुप्यञ्जति, नेरइया नं मंते ! किमाहारमाहार- ति ?, गो० । दवतो अर्णतपदेसिवाति खेषओ असंखेअपदेसोगादाति कालतो अण्यपरद्विप्रयाति मावओ वण्यमंतति गण्यमंतारं रसमंतारं फासमंतारं, आरं मावतो वण्यमंतारं आहारोति आहारेति बाव किं पंणवण्यारं

आहारेति । गो० । ठाणमग्नं पडुच एमवप्याईपि आहारेति जाव पंचवप्याईपि आहारेति, विहाणमग्नं पडुच काल-
 वप्याईपि आहारेति जाव सुक्किछाईपि आहारेति, जाति वण्णतो कालवणाति आहारेति ताई कि एगगुणफालाई आहारे-
 ति जाव इसगुणफालाई आ० संखिअ० असंखिअगुणफालाई आ० जाव अणंतगुणफालाई आ० । गो० । एगगुणफा-
 लाईपि आ० जाव अणंतगुणफालाईपि आ० एवं जाव सुक्किछाई, एवं गंधतोवि रसतोवि, जाई मावओ फासमंताई ताई
 नो एगफासाइ आ० नो दुफासाइ आ० नो तिकासां आहारेति कडफासां आहारेति, जाव अट्टफासाईपि आ०, विमा
 गमगण पडुच ककखडाईपि आ० जाव सुपखाई, जाति फासतो ककखडाईपि आ० ताइ कि एगगुणककखडाई आ० जाव
 अणंतगुणककखडाई आ० । गो० । एगगुणककखडाईपि आ० जाव अणंतगुणककखडाईपि आ०, एवं अट्टपि फासा
 माणित्ठा, जाव अणंतगुणलुक्खाईपि आ०, जाति मते ! अणंतगुणलुक्खाई आ० ताई कि पुट्टां आ० अपुट्टां आ० ।
 गो० । पुट्टां आ० नो अपुट्टां आ०, जाव मासुरेसए जाव जियमा छडिसि आ०, ओसणं कारणं पडुच वण्णओ काल-
 नीलाति गंधओ दुग्गिमंगावि रसओ तितरसकडुपाइ फासओ ककखडुगुरसीयलुक्खाइ तेसि पोराने वण्णगुणे गंधगुणे
 रसगुणे फासगुणे विपरिणामइचा परियीलइचा परिसाडइचा परिविदंसइचा अण्णे अपुठे वण्णगुणे गंधगुणे रसगुणे फा-
 सगुणे उप्पाइचा आयसीरखेचोगाडे पोगले सबप्ययाए जाहारे आहारेति । नेरइया णं मते ! सबओ आहारेति सबओ
 परिणामंति सबओ उत्तसंति सबओ नीससंति अमिक्खणं आहारेति अमिक्खणं परिणामंति अमिक्खणं उत्तसंति अमि
 वखणं नीससंति आहए आहारेति आहए परिणामंति आहए उत्तसंति आहए नीससंति । इवा ! गो० । नेरइया सब-

तो आहारंति एवं ह वैष जाव आहृष नी० । नेरइया ष भंते ! पोगले आहारचाते गिण्वंति ठे णं वेसिं पोगलाणं सेया-
 लंसि कृतिमाग आहारंति कतिमागं आसायंति !, गो० । असंखेज्जतिमागं आ० अण्वमागं अस्सायंति, नेरइया ण भंते !
 चे पोगले आहारचाते गिण्वंति ते किं सोबे आहारंति ?, गो० ! ते सोबे अपरिसेसए आहारंति । नेरइया
 षं भंते ! जे योम्ला आहारचाए गिण्वंति ते षं वेसिं पोगला कीसचाए सुजो २ परिणामंति ?, गो० ! सोविंविचयचाते
 जाव फासिदियचाते अणिठ्ठचाते अकंसचाए अणिठ्ठचाए अमणुब्बचाए अमणामचाते अजिच्छियचाते अमिञ्जिच्चए
 बहचाते नो उद्वचाए दुक्खचाते नो सुहचाते एतेसिं सुजो २ परिणमंति (सूत्रं ३०३) असुरकुमारा षं भंते ! आहारही !,
 ईला ! आहारही, एवं बहा नेरइयाणं तहा असुरकुमाराणधि भाणिववं, जाव वेसिं सुजो २ परिणमंति, तत्प णं जे से
 आमोगनिबधिते से षं जहण्येणं चउत्थमचस्स उक्कोसेणं सातिरेगवाससइस्सस्स आहारहे सट्ठप्यज्ज, ओसण्ण कारण प-
 इय वण्णो हासिइसुक्खिणांति गेचतो सुम्भिगधाति रसतो अणितमणुरातिं फासओ मउयलणुपलियुग्घाति, वेसिं पोराने व-
 ष्याणुणे जाव फासिदियचाते जाव मणामचाते इच्छियचाते अणियचाते उद्वचाते नो अहचाए सुहचाए नो इहचाए
 एतेसिं सुजो २ परिणमंति, सेसं बहा नेरइयाणं, एवं जाव वणियकुमाराणं, पवरं आमोगनिबधिते उक्कोसेणं दिवसणुडु-
 चस्स आहारहे सट्ठप्यज्जति (सूत्रं ३०४)

‘सचिचाहारही’ इत्यादि प्रथमोऽधिकारः सचिसपदोपलब्धितः, स वैषम्—‘नेरइया ण भंते ! किं सचिचाहारा

अचिन्ताहारा इत्यादि १, द्वितीय आहारार्थिन इति २, तृतीयः 'केवलय'सि कियता कालेन आहारार्थं समुत्पद्यते
इत्यादिरूपः ३, चतुर्थः किमाहारमाहारयन्तीतियदोपलब्धितः ४ पञ्चमः सर्वत इतिपदोपलब्धितः, स चैवम्—
'नेरइया णं सपतो परिणामती'त्यादि ५ षेयसब्दः समुषये, 'कइमाग'ति एहीताना पुद्गलानां कतिभागमाहारय-
न्तीत्येषमादिः यद्योऽधिकारः ६, 'तथा सधे' इति यान् पुद्गलान् आहारतया एहन्ति तान् किं सर्वान्—अपरिशेषान्
आहारयन्ति उतासर्पान् इत्येषमुपलब्धितः सप्तमोऽधिकारः ७, तथाऽष्टमोऽधिकारः परिणामः—परिणामरूपो षोड-
शः, स चैवम्—'नेरइया ण भते । जे पोगगले आहारचाय गेण्ढंति ते णं तेसिं पुगगला कीसत्ताए सुज्जो २ परिणा-
मती'त्यादिरूपः ८, नयमोऽर्थाधिकारः एकंन्द्रियावीनि शरीराणि, स चैवम्—'नेरइया ण भते ! किं एगिंदियसरी-
राइ आहारोति जाण पधिदियसरीराइ आहारंति ?' ९, दशमोऽधिकारो लोमाहारो—लोमाहारयक्यतरूपः १०,
एकादशी मनोमधितयक्यतरूपः ११, 'एयसिं तु' इत्यादि, एतेषां—सामान्यतोऽनन्तरमुद्दिष्टानां पदाना—अर्थोधि-
काराणां विमायना—विस्तरतः प्रकाशना नाम भवति फर्त्तभ्यता, सूत्रकारवचनमेतत् । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुका-
मो 'ययोइअ निर्देश' इति 'यायात् प्रथमाधिकार विमाययति—'नेरइया ण भते !' इत्यादि, नैरयिका भदन्त ! किं
सचिन्ताहाराः—सचिन्ताहारायन्तीति सचिन्ताहारा; एयमधिष्ठाहारा इत्यपि भावनीप, भगवानाह—
'गौतमे'त्यादि, इह वैक्रियशरीरिणो वैक्रियशरीरपरिपोपयोग्यान् पुद्गलानाहारयन्ति, ते धाचिन्ता एव सम्मयन्ति न

जीवपरिगृहीता इत्यचिन्नाहारा न सचिन्नाहारा नापि मिथ्याहाराः, एषमसुरकुमारादयः स्वनितकुमारपर्ययसाना मय-
 नपतयो न्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्च वेदितव्याः, औदारिकश्चरीरिणः पुनरीदारिकश्चरीरपरिपोषयोग्यान् पुद्गला-
 नाहारयन्ति, ते च पृथिवीकायिकादिपरिणामपरिणता इति सचिन्नाहारा अधिन्नाहारा मिथ्याहाराश्च घटन्ते, तथा
 चाह—‘ओराष्ठियसरीरा ज्ञाप मणूसा’ इत्यादि, औदारिकश्चरीरिणः पृथिवीकायिकेभ्य आरभ्य यावन्मनुष्याः, कि-
 मुक्त भवति ?—पृथिव्यपृतेजोबायुवनस्पतिरूपा एकेन्द्रिया द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च एते प्रत्येक सचिन्नाहारा
 अप्यचिन्नाहारा अपि मिथ्याहारा अपि षक्तव्याः । उक्तः प्रथमाधिकारः, सम्प्रति द्वितीयादीनष्टमपर्यन्तान् सप्ताधि-
 कारान् षटुर्विंशतिदण्डकक्रमेण युगपदभिधत्सुः प्रथमतो नैरयिकाणामभिधत्ति—‘नेरइया ण’मित्यादि, नैरयिका
 णमिति षाक्यालङ्कारे, भद्रस्त ! आहारार्थिनः, काकाऽभिधानतः प्रथमार्थत्वायगतिः, मगयानाह—‘हते’त्यादि, ह-
 न्तेत्यनुमतौ अनुमतमेतत्, गौतम ! आहारार्थिनो नैरयिका इति, यदि आहारार्थिनस्त्वतो भदन्त ! नैरयिका णमि-
 ति पूर्ववत् ‘केषकालस्व’पि प्राकृतत्वात् सूतीयार्थे पठी, कियता कालेन आहारार्थः—आहारलक्षण प्रयोजन आहा-
 रामिलाप इतियावत् समुत्पद्यते ?, मगयानाह—‘गौतम !’ इत्यादि, नैरयिकाणां द्विविधो—द्विप्रकारः आहारः,
 तद्यथा—आमोगनिर्बर्धितोऽनामोगनिर्बर्धितश्च, तत्र आमोगनमभिसर्धित्यर्थः आमोगेन निर्ब-
 र्धितः—उत्पादित आमोगनिर्बर्धित आहारयामीतीच्छापूर्वं निर्मापित इतियावत्, तद्विपरीतोऽनामोगनिर्बर्धितः,

आहारयामीति विद्विष्टेच्छामन्तरेण यो निष्पाद्यते प्राग्द्रुकाले प्रचुरतरश्चाथमिष्यन्नश्रीतपुद्गलाद्याहारवत् सोऽजा-
 मोगनिर्वर्चित इति भावः, 'तस्य ष'मित्यादि, तत्र—अनामोगामोगनिर्वर्चितयोर्मध्ये योऽसावनामोगनिर्वर्चित
 आहारः 'से ण'मिति पूर्ववत् 'अनुसमय' प्रतिसमयं समये २ इत्यर्थः, इह च दीर्घकालोपमोग्यस्वाहारत्वेकवारमपि
 प्रश्नो तायन्त कालमनुसमय मयति, तत आमयपर्यन्त सातत्यप्रश्नप्रतिपादनार्थमाह—अविरहित आहारार्थः समु-
 त्यद्यते, अथवा सततप्रश्ने आहारार्थेऽपान्तराले लुक्स्थलित्तन्यायेन येन कथञ्चिन् विरहमावेऽपि लोके तदगणनया
 अनुसमयमिति न्ययहारः प्रवर्त्तते ततोऽपान्तराले विरहमावप्रतिपादनार्थमधिरहित इत्युक्तं, अनुसमयमधिरहितो-
 ऽनामोगनिर्वर्चित आहारार्थः समुत्पद्यमानः भोज्यमाहारादिना प्रकारेणायसेय, 'तद्य ण'मित्यादि, तत्र—आमोगा-
 नामोगनिर्वर्चितयोर्मध्ये योऽसावामोगनिर्वर्चितः आहारार्थः सोऽसङ्ख्येयसामयिकः—असङ्ख्येयैः समयैर्निर्वर्चितः, यथा-
 सङ्ख्येयसमयनिर्वर्चित तद्व्ययन्ययदेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तिक भवति न हीनमत आन्तर्मुहूर्त्तिक आहारार्थः समुत्पद्यते, किमुक्त
 भवति ?—अन्तर्मुहूर्त्ते फाल यावत् प्रवर्त्तते न परतो, नैरयिकाणां हि योऽसावाहारयामीत्यमिहापः स परिश्रुता-
 हारान्यपरिणामेन यच्चनितमतितीव्रतर दुःख तन्नावादन्तर्मुहूर्त्तान्निवर्त्तते तत आन्तर्मुहूर्त्तिको नैरयिकाणामाहारार्थः,
 'नैरश्वा ण'मित्यादि, नैरयिका षमिति पूर्ववत् किस्वरूपमाहारमाहारयन्ति !, भगवान् द्रव्यादिसेदतस्तमाहारम-
 न्तीति निरूपयितुकाम आह—'गोयमे'त्यादि, गौतम ! द्रव्यतो—द्रव्यस्वरूपपर्वालोचनायां अनन्तप्रतयेदधिकानि

द्रव्याणि, अन्यथा ग्रहणासम्भवात्, न हि सङ्ख्यातप्रदेशात्मका असङ्ख्यातप्रदेशात्मका वा स्फुन्धा जीवस्य प्रदणयो-
 ग्या भवन्ति, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येयप्रदेशावगाढानि कालतोऽन्यतरस्थितिकानि, जघन्यस्थितिकानि मन्यमस्थितिकानि उ-
 त्कृष्टस्थितिकानि चेति सावार्थः, स्थितिरिति धाहारयोग्यस्फुक्चपरिणामत्वेनावस्थानमवसेय, भावतो वण्णवन्ति
 गणयन्ति रसयन्ति स्पर्शयन्ति च, प्रतिपरमाण्वेकैकवर्णगन्धरसस्पर्शमावात्, 'आइ मावतो वण्णमताइ' इत्यादि प्रश्न-
 सुत्र सुगम, भगयानाह—'गो० । टाण्णमगण पडुबे'त्यादि, तिष्ठन्ति विशेषा अस्मिन्निति स्थान—सामान्यमेकवर्ण
 द्विवर्णं त्रिवर्णमित्यादिरूप तस्य मार्गणं—अन्वेषण तत्प्रतीत्य सामान्यध्वित्तामाश्रित्येति भावार्थः, एकवर्णोऽपि द्विव-
 र्णोऽपीत्यपि इत्यादि सुगम, नपर तेयामन्तप्रार्थेदधिकानां स्फुन्धानामेकवर्णत्व द्विवर्णत्वमित्यादि व्यवहारनयमताये-
 षया, निश्चयनयमतायेष्वया त्यन्तप्रार्थेदधिकस्फुन्धोऽणीयानपि पञ्चवर्ण एव प्रतिपत्तव्यः, 'विहाणमगण पडुबे'त्या-
 दि, विधिकम्—इतरन्यवच्छिन्न धान—पीपण स्वरूपस्य यत् तद्विधान—विशेष कृष्णो नील इत्यादिप्रतिनियतो
 र्णादिविशेष इतियायत् तस्य मार्गणं प्रतीत्य तानि फालवर्णान्यपि आहारयन्तीत्यादि सुगम, नपरमेतदपि व्यवहा-
 रतः प्रतिपत्तव्य, निश्चयतः पुनरवश्य तानि पञ्चवर्णान्येव, 'आइ वण्णओ फालवण्णाइपी'त्यादि सुगम, यावद् 'अन-
 न्तगुणसुच्छिडाइपि आहारंति' एय गहरसस्पर्शेषिपयाण्यपि सुत्राणि भावनीयानि, 'आइ मते ! अणत्तगुणलुक्खारं'
 इत्यादि, यानि भवन्त ! अनन्तगुणरूपाणि, उपलब्धमेतत् एकगुणकालादीत्यपि आहारयन्तीति, तानि च मदन्त !

किं सृष्टानि—आत्मप्रदेशविषयाण्युपस्थापयन्ति तदासृष्टानि ?, भगवानाह—सृष्टानि नो असृष्टानि 'जहा मामुद्देश्य
 पा जाय नियमा छदिसि'ति अत ऊर्ध्वं यथा मापोदेशके प्राक् सूत्रमभिहितं तथात्रापि द्रष्टव्यं, तत्र तावत् यावत्
 'नियमा छदिसि'ति पद, तथैवम् 'जाइ पुढाइ' आहा० 'ताइ मते ! किं ओगाढाइ आहा० अणोगाढाइ आहारेंति !
 गो० ! ओगाढाइ आहारेंति णो अणोगाढाइ आहारेंति, जाइ मते ! ओगाढाइ आहारेंति ताइ किं अणतरोगाढाइ
 आ० परपरोगाढाइ आहारेंति ?, गो० ! अणतरोगाढाइ आ० नो परंपरोगाढाइ आ०, जाइ मते ! अणतरोगाढाइ
 आ० ताइ मते ! किं अणू आहारेंति वादराइ आ० ?, गो० ! अणूइपि आ० वादराइपि आहा०, जाइ मते ! अणूइपि
 आहारेंति वादराइपि आ० ताइ किं उहु आ० अहे आहा० तिरिय आहारेंति ?, गो० ! उहुपि आ० अहेयि आ०
 तिरियपि आहारेंति, जाइ मते ! उहुपि आ० अहेयि आहा० तिरियपि आहारेंति ताइ किं आदि आ० मज्जे आ०
 पञ्चसणे आ० ?, गो० ! आदिपि आहारेंति मज्जेयि आ० पञ्चसणेयि आहारेंति जाइ मते ! आइपि आहारेंति
 मज्जेयि आहारेंति पञ्चसणेयि आहारेंति ताइ मते ! किं सविसए आहारेंति अयिसए आ० ?, गो० सविसए आ० नो
 अयिसए आ० जाइ मते ! सविसए आ० ताइ किं आणुपुषीए आहारेंति आणुपुषीए आ० ?, गो० ! आणुपुषीए आ०
 नो अणुपुषीए आ० जाइ मते ! आणुपुषीए आ० ताइ किं तिदिसि आहारेंति चउदिसि आहा० पचविसि आहारेंति
 छदिसि आहारेंति ?, गो० ! नियमा छदिसि आ०, अस्य व्याख्या—इहात्मप्रदेशैः सस्पर्धनमात्मप्रदेशावगाढखेत्राद्द्विरपि

सम्भवति ततः प्रभवति—'जाइ मते' इत्यादि, यानि भवन्त ! सृष्टान्याहारयन्ति तानि किं अथगाढानि—आत्म-
प्रदेशः सह एकधेत्रावस्थायीनि उत अनवगाढानि—आत्मप्रदेशावगाहधेत्राद्विरवस्थितानि ? , भगवानाह—गौ-
तम ! अथगाढान्याहारयन्ति नानवगाढानि, यानि भवन्तावगाढान्याहारयन्ति तानि भवन्त ! किमनन्तरावगाढानि,
किमुक्त भवति ?—येष्व्वात्मप्रदेशेषु यान्यव्ययधनेनावगाढानि तैरात्मप्रवेशैस्त्वान्येवाहारयन्ति उत परम्परावगाढा
नि—एकद्वित्रयाथात्मप्रवेशेष्ववहितानि ! , भगवानाह—गौतम ! मनन्तरावगाढानि आहारयन्ति नो परम्परावगा-
ढानि, यानि भवन्तान तरावगाढान्याहारयन्ति तानि किमणूनि—सोकान्याहारयन्ति उत वादराणि—प्रभूतप्रवेशो-
पचितानि ? , भगवानाह—गौतम ! अणून्यप्याहारयन्ति वादराण्यप्याहारयन्ति, इहाणुत्ववादरत्ये तेषामेवाहारयो-
ग्यानां स्फुचानां प्रदेशसोकत्वषाडुल्यापेक्षया वेदितव्ये इति, यानि भवन्त ! अणून्यप्याहारयन्ति तानि भवन्त !
किमूर्ध्वं—ऊर्ध्वप्रदेशस्त्रितान्याहारयन्ति अधस्त्रियग्ना, इह ऊर्ध्वधस्त्रियक्त्व यावति क्षेत्रे नैरयिकोऽवगाढः तावत्येव
क्षेत्रे तदपेक्षया परिमापनीय, भगवानाह—गौतम ! ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति—ऊर्ध्वप्रदेशावगाढान्यप्याहारयन्ति एषम-
घोऽपि त्तिर्धगपि, यानि भवन्त ! ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति अधोऽप्याहारयन्ति तिर्यगप्याहारयन्ति तानि किमावावाहा-
रयन्ति मध्ये आहारयन्ति पर्ययसाने आहारयन्ति, अयमत्राभिप्रायः—नैरयिका हि अनन्तप्रदेशिकानि द्रव्याण्वन्तमुद्भूतं
कालं यावत् उपभोगोचितानि गृह्णन्ति, ततः सद्यः किमुपभोगोचितस्य काष्ठस्यान्तमुद्भूतप्रमाणसाधौ—प्रथमसमये

आहारयन्ति उत मध्ये—मध्येषु समयेषु आहोश्चित्पर्यवसाने—पर्यवसानसमये?, भगवानाह—गौतम ! आदावपि
 मध्येऽपि पर्यवसानेऽप्याहारयन्ति, किमुक्त्वा मवति?—उपभोगोचितस्य कालत्वान्तमुद्धर्चेप्रमाणत्वादिमध्यावसानेषु
 समयेष्व्याहारयन्तीति, यानि भवन्त ! आदावपि मध्येऽपि पर्यवसानेऽप्याहारयन्ति तानि भवन्त ! किं स्वपिययाणि—
 स्वोचिताहारयोग्यानि आहारयन्ति उत अधिपयाणि—स्वोचिताहारायोग्यान्आहारयन्ति?, भगवानाह—गौतम !
 स्वपियाण्याहारयन्ति नो अधिपयाण्याहारयन्ति, यानि भवन्त ! स्वपियाण्याहारयन्ति तानि भवन्त ! किमानुपूर्व्या
 आहारयन्ति अनानुपूर्व्या?, आनुपूर्वीनाम यथासन्न तद्विपरीता अनानुपूर्वी, भगवानाह—गौतम ! आनुपूर्व्या, सूत्रे
 द्वितीया तृतीयार्ये वेदितव्या प्राकृतत्वात्, यथा आधारात् 'अर्गणिं च पुष्टा' इत्यत्र, आहारयन्ति नो अनानुपूर्व्या,
 ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्वा यथासन्न नातिक्रम्याहारयन्तीति भावः, यानि भवन्त ! आनुपूर्व्या आहारयन्ति तानि किं 'ति-
 दिशि'ति तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् व्यवस्थितान्याहारयन्ति चतुर्विन्त्रि पश्चदिशि पश्चदिशि वा, इह
 लोकनिष्कृष्टपर्यन्ते न घन्यपदे त्रिविद्यव्यवस्थितमेव प्राप्यते न द्विविद्यव्यवस्थितमेकदिगव्यवस्थितं वा अतस्त्रिदिश
 आरम्य प्रश्नः कृतः, भगवानाह—गौतम ! नियमात् पश्चविशि व्यवस्थितान्याहारयन्ति, नैरयिका हि नसनाख्या
 मध्ये व्यवस्थिताः, तत्र चावश्य पश्चदिकसम्भव इति, 'ओसन्नकारण पञ्चुषे'त्यादि, ओसन्नश्चो वाहुल्यवाची, यथा
 'ओसन्न देवा सायायेयणं वेदयन्ती'त्यत्र, ओसन्नकारण—वाहुल्यकारणं प्रतीत्य, किं तद्वाहुल्यकारणमिति चेत्,

उच्यते, अशुभानुभाय एव, तवापि श्रायो भिष्याद्यः कृष्णादीपाहारयन्ति न तु भविष्यचीर्यकरादयः तत औस-
क्षेत्र्युक्तं, पर्णतः कालनीलानि गन्धतो दुरभिगधानि, रसतस्त्रिककुडुकानि स्पन्दतः कर्कशगुरुशीतरूक्षाणि इत्यादि,
तेषामाहार्यमाणानां पुद्गलानां 'पुराणान्' अत्रेतनान् वर्णगुणान् रसगुणान् गन्धगुणान् स्पर्शगुणान् 'विपरिणा-
मश्चा परिशीलश्चा परिषाब्श्चा परिषिब्सश्चा' एतानि चत्वार्यपि पदानि एकार्षिकानि विनाशार्थप्रतिपादकानि
नानावेद्वजयिनेयानुग्रहार्थमुपात्तानि, विनाश्य किमित्याह—अन्यान् अपूर्णान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् रसगुणान्
स्पर्शगुणान् उत्पाद्य आत्मशरीरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् 'सघष्यणथा' सर्पोत्मना सर्वैवात्मप्रवेद्यैराहारमाहाररूपान्
षाहारयन्ति, 'नेरइया ण मते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, 'नेरइया ण मते ! जे योगगळा' इत्यादि, नैरयिका णमि-
तिपूर्यम्त्, भवन्त ! यान् पुद्गलान् आहारतया यद्वन्ति नैरयिकाः तेषां यदीतानां पुद्गलानां 'सेकालसि' एष्यत्काले
प्रदहनकालोत्तरकालमित्यर्थः 'कइभाग'ति कतिपय भागमाहारयन्ति—आहारतयोपसुञ्जते ? , तथा 'कतिभाग' कतिपय
भागमाहार्यमाणपुद्गलानामास्वाद यद्वन्ति, नहि सर्वे पुद्गला आहार्यमाणा आस्वादमायान्तीति पृथक् प्रश्नः, मगवा-
नाह—गौत्तम ! असङ्क्षेप मागमाहारयन्ति, अन्ये तु मवादिग्रथमष्टद्वयसमूहश्च इव परिशुदन्ति, आहार्यमाणानां
पुद्गलानामनन्तमागमास्वादयन्ति, शेषास्त्थनासादिता एव शरीरपरिणाममापद्यन्ते इति, 'नेरइया ण मते !' इत्यादि,
नैरयिकाः णमिति पूर्यम्त् यान् पुद्गलान् आहारतया यद्वन्ति, इह प्रदहन विधिदमपसेय, ततो ये उच्चित्तयेप्राः

केवला आहारपरिणामयोग्या एवावतिष्ठन्ते तेऽत्राहारतया यत्प्रमाणाः पृष्ठा द्रष्टव्याः, अन्यथा निर्बचनसूत्रमपेक्ष्य
 पूर्वापरयिरोधप्रसङ्गो, न च भगवद्बचने विरोधसम्भाषनाऽप्यस्ति, तत इदमेव व्याख्यान सम्यक्, अत एवविधपूर्वा
 परयिरोधाद्यन्मुदासार्थं पूर्वसरिभिः कालिकसूत्रस्यानुयोगः कृतः, उक्तं च- “ज अह सुप्ते मणिय तद्देय त जह
 यियालया नत्थि । किं कालियाणुजोगो दिट्ठो दिट्ठिप्यहाणेहिं ? ॥ १ ॥” [यथा स्रे मणित तपैव तद् यदि
 विचारणा नास्ति । किं कालिकानुयोगो इट्ठिप्रधानैर्दृष्टः । ॥ १ ॥] तान् किं सर्वान् आहारयन्ति उत नोसर्वान्
 सर्वकदेवमृतान् ?, भगवानाह-तान् सर्वान्-अपरिशेषानाहारयन्ति, उज्जितशेषाणामेव केवलानामाहारपरिणामयो-
 ग्यानां दृहीतत्वात्, ‘नैरया ण’मित्यादि, नैरयिकाः अमितिपूर्ववत् यान् पुद्गलान् आहारतया यच्छन्ति ते पुत्र-
 ट्याः जमिति पूर्ववत् ते तेषां नैरयिकाणां कीदृकृत्या-—किंस्वरूपतया सूयो मूयः परिणमन्ते !, भगवानाह-गौतम !
 धोत्रेन्द्रियतया यावत्करणत् चक्षुरिन्द्रियतया प्राणेन्द्रियतया जिह्वेन्द्रियतयति परिग्रहः, स्पर्शनेन्द्रियतया, इन्द्रिय-
 रूपतयापि परिणममानान् शुभरूपाः किन्त्येकान्ताशुभरूपाः, यत आह-‘अपिट्टुचाते’ इत्यादि, इष्टा-मनसा इच्छा
 विपयीकृताः, यथा शोभनमिदं जात यदित्यमिमे परिणता इति, तद्विपरीता अनिष्टास्त्राण्यस्त्रा तया, इह किञ्चित्
 परमार्थतः शुभमपि केषाञ्चिदनिष्ट भवति यथा मयिकाणां चन्दनकर्पूरौ तत आह-‘अकृतत्ताए’ न कान्ताः-
 कमनीया अकान्ता अलन्ताशुभव ऋषितत्वात्, अत एवाप्रियतया न प्रिया अप्रियाः, दर्शनापातकालेऽपि न प्रियशु

द्विमात्मन्युत्पादयतीति भावः, तन्नाशोऽप्रियता तथा, 'असुमघाए' इति न शुभा असुमा असुमवर्णगघरसस्पर्शात्म-
 फत्वात् तन्नाशसत्ता तथा, 'अमशुन्नघाए' इति न मनोज्ञा अमनोज्ञाः, विपाककाले दुःखजनकतया न मनःप्रलहाद-
 हेतव इति भावः, तन्नाशसत्ता तथा, 'अमणामघाए' भोज्यतया मनः आमुषन्तीति मनभावाः, प्राकृतत्वाच्च पकारस्य
 मकारत्वे मणाम इति सूत्रे निर्देशः, न मनभावा अमनभावा जन्तूनां भोज्यतया स्वादितुमीष्टा ईप्सिता न ईप्सि-
 मायस्वन्नाशसत्ता तथा, अत एव 'अपिच्छियघाए' इति भनीप्सिततया भोज्यतया स्वादितुमीष्टा ईप्सिता न ईप्सि-
 ता भनीप्सितास्वन्नाशसत्ता तथा, 'अमिच्छियघाए' अमिष्यानमिष्या, अमिष्या सञ्जाता एष्वि-
 ति अभिष्यतास्वारकाविवर्धनादितप्रत्ययः तन्नाशसत्ता तथा, किमुक् भवति ?—ये गृहीता आहारतया पुद्गला न ते
 नृत्तिहेतवोऽसूषमिति न पुनरमिलपणीयत्वेन परिणमन्ते, तथा 'अहृत्घाए' इति अधस्य, गुरुपरिणामतयेति भावः,
 नो कर्ष्यतया—लघुपरिणामतया, अत एव दुःखतया गुरुपरिणामपरिणतत्वात्, न सुखतया लघुपरिणामपरिणतत्वा-
 मायात्, ते पुद्गलास्त्रेषां नैरयिकाणां भूयो भूयः परिणमन्ते । एतान्येव आहारार्थिन इत्यादीनि सप्त द्वाराणि असुरकु-
 मारादिषु भवनपतिषु धिधित्तयिषुरिदमाह—'अहा नैरश्याण'मित्यादि, यथा नैरयिकाणां तथा असुरकुमाराणामपि
 माणितस्य, याधत् 'ठेसिं सुज्जो २ परिणमन्ती'ति पर्यन्तपद, तत्र नैरयिकसूत्रादस्य सूत्रस्य विशेषमुपवर्धयति—'तत्प
 ण जे से' इत्यादि, एव षोपदर्शित सूत्रं न मन्वमतीनां यथास्मित प्रतीतिमागच्छति ततस्त्वनुग्रहाय सूत्रमुपवर्धयते—

'असुरकुमारा ण मते ! आहारही !, इता आहारही, असुरकुमारा ण मते ! केवइकालस्स आहारहे समुप्पज्जर', अत्र
 सप्तम्यर्थे पठी, कियति काले अतिक्रान्ते सति म्रूय आहारार्थः समुत्पद्यते इत्यर्थः, 'असुरकुमारा ण बुयिहे आहारे
 प० तज्जहा-आभोगनिघत्तिप य, ततय ण जे से अणुसमयमयिरिहिए
 आहारहे समुप्पज्जर, ततय ण जे से आभोगनिघत्तिप से ष जहण्णेण चउत्पमचस्स उफोसेण साहरेगस्स वाससहस्स-
 स्स आहारहे समुप्पज्जर' तत्र 'चउत्पमचस्सेति' सप्तम्यर्थे पठी, चतुर्थमके आगमिक्कीय सञ्जा, एकस्मिन् दिवसेऽति-
 क्रान्ते इत्यर्थ, म्रूयो जपन्येनाहारार्थः समुत्पद्यते, एतय दशवर्षसहस्रायुषां प्रतिपत्तव्यमुत्कर्षतः सातिरेके-अम्यधिके
 वर्षसहस्रेऽतिक्रान्ते, एतय सागरोपमायुपामवसेय, 'असुरकुमाराणं मते ! किमाहारमाहारयन्ति ? गो० ! इव-
 तोऽणतप्पएसियाइ खेत्तज्जो असखेज्जपएसोगाढां कालज्जे अन्नयरट्ठिइयाइ भावज्जो वण्णमंताइ गधमताइ रसमंताइ
 फासमताइ जाष नियमा छरिसि आहारंति, ओसन कारण पडुय वण्णज्जो हालिइसुक्खिइयाइ, गधज्जो सुरभिणघाइ,
 रसज्जो अणिलमडुराइ फासज्जो मउयलडुनिडुणहाइ, तेसिं पोराने वण्णगुणे गधगुणे रसगुणे फासगुणे जाष इच्छि-
 यत्ताप अभिज्जियघाए उट्ठत्ताए नो जहत्ताए नो सुहत्ताए य तेसिं सुज्जो २ परिणमति', यया चासुरकुमा-
 राणां सुयमुक्त तथा नागकुमारादीनामपि खनितकुमारपर्यवसानानां वकम्य, नयरमाभोगनिघत्तिताहारार्थधित्ताया-
 मुत्कर्षामिधानायसरे 'उफोसेण दिवसपुहुत्तस्स आहारहे समुप्पज्जर' इति वकम्य, एतच्च पत्योपमासङ्घेयभागायुषां

तदधिकायुषां चायसेय, शेष तथैव, तथा चाह,—‘एष जाव धणियकुमाराण’मित्यादि । सम्प्रति पृथिवीकायिकानामेवान् सप्ताधिकारान् चिन्तयितुकाम आह—

पुढविकाइया ण मते ! आहारद्वी ? इता ! आहारद्वी, पुढविकाइया ण मते ! केवतिकालस्स आहारद्वे समुप्पज्जति ? गो० ! अशुसमयमधिरहिते आहारद्वे समुप्पज्ज, पुढविकाइया णं मते ! किमाहारमाहारंति, एवं बहा नेरइयाण जाव ताइ कतिदिसि आहारंति ? गो० ! निबाषातेणं छदिसि वाचाव पइच्च सिय तिविसि सिय चउदिसि सिय पच्चदिसि, नवरं ओसमकारण न मण्णति, वण्णओ कालनीलोलोहितहालिइसुक्खिछातिं गंघतो सुग्गिगंघदुग्गिगघातिं रसतो तिचरसकइयरसकसायरसअविलमदुरप्प फासतो कक्खठफासमउयगुक्खलडुयसीतउण्हपिइलुनखातिं तेसि पोराने वण्णगुणे सेसं बहा नेरइयाणं जाव आहव नीससंति, पुढविकाइया णं मते ! जे योगले आहारपावे गिण्हंति तेसि मते ! योगगलाण सेसलंसि फतिमाग आहारंति कविमगं आसाएति ? गो० ! असंखेज्जतिमगं आहारंति अर्पवमाग आसाएति, पुढविकाइया णं मते ! जे योगले आहारपावे गिण्हंति ते किं सवे आहारंति नोसवे आहारंति जहेव नेरइया तवेव, पुढविकाइया णं मते ! जे योगले आहारपावे गिण्हंति ते णं तेसि पुग्गला कीसचाए सुज्जो २ परिणमति ? गो० ! फासिदियवेमायचाव सुज्जो २ परिणमति, एष जाव वणप्फइकाइया । (सुत्तम् ३०५)

‘पुढविकाइया ण मते !’ इत्यादि सर्वे पूर्ववत् भावनीय, नवर ‘निबाषाएण छदिसि’मित्यादि, व्याघातो नाम

मञ्जीषाकाद्येन प्रतिस्खलन, व्याघातस्याभावो निर्व्यायात् 'दृष्वे यपापवृष्वय पूर्वपदार्थेः नित्यमव्ययीभाव' इत्यव्य-
यीभावः 'तेन वा तृतीयाया' इति विकल्पेन जम्बियानात् पथेऽत्राममाका, निपमावयस्यंतया यद्विदिशि व्ययस्यि-
तानि, पदभ्यो दिग्भ्य आगतानि द्रव्याण्याद्यापन्तीति भावः, व्याघातं पुनः श्रुतीत्य लोकेनिष्कुटाहौ स्यात्-कदा-
चिद्विदिशि-तिसुभ्यो दिग्भ्य आगतानि कदाचिपद्युदिग्भ्यः कदाचित्पञ्चदिग्भ्यः, काऽत्र मायनेति चेत्, उच्यते,
इह लोकेनिष्कुटे पर्यन्ताधस्त्वप्रतराम्नेषकोणावस्थितौ यदा दृषिबीकायिको वर्त्तते तदा तस्याधस्त्वादलोकेन व्याप्त-
त्वात् अधोदिक्पुद्गलभावः, आग्नेयकोणावस्थितत्वात् पूर्वदिक्पुद्गलभावश्च, पृथग्भ्यःपूर्वद-
धिणरूपाणा तिसुभां दिशामलोकेन व्यापनात् ता अपास वा परिक्षिप्य कर्त्वा अपरा उत्तरा च दिगव्याहता
वर्त्तते तव आगतान् पुद्गलान् आहारयति, यदा पुनः स एव दृषिबीकायिकः पश्चिमा दिश असुच्चन् वर्त्तते तदा
पूर्वदिग्भ्यधिफा जाता द्वे च दिशो दक्षिणाधस्त्वरूपे अलोकेन व्याहर्ते इति स चतुर्विंशतिगतात् पुद्गलानादाहारयति,
यदा पुनरुच्ये द्वितीयादिप्रतरगतपश्चिमदिशमवलम्ब्य तिष्ठति तदा अधस्तापि दिग्भ्यधिफा लम्ब्यते केषलदक्षि-
मेका पर्यन्तवर्त्तिनी अलोकेन व्याहर्तेति पञ्चदिगागतान् पुद्गलानादाहारयतीति, श्रेय सूत्र समस्तमपि पूर्वेषु मज्जनीयं,
यस्तु विश्लेषस्तुपदर्थयति-नधर 'उत्सृण्वकारणेण वा इव' इत्यादि सुगम, 'फासिदिपेवेमायचाप' इति विपश्चा
मात्रा विमात्रा तस्या भावो विमात्रता तथा इष्टानिष्ठनानामेदतयेति भावो, नः तु नारकाणामेकान्ताशुभतया

सुराणा च गुभतयेयेति, एष 'जाष घणस्सइकाइयाण'ति यथा पृथिवीकायिकाना सुप्रसुकमेवमसेजोवायुवनस्पतीना-
मपि मषनीय, सर्वेषामपि सकललोकभ्यापितया विद्वेषामायात् ।

वेईदिया ण मंते ! आहारद्वी ?, इंता ! आहारद्वी, वेईदियाणं मंते ! केवतिकालस्स आहारंहे समुप्यस्रति ?, अहा नेरइयाणं,
नवरं तत्प ण अंसे आमोगनिवणित्ते से ण असंखिज्जसमइए अंतोसुदुत्तिए वेमायाए आहारंहे समुप्यस्रति, सेसं अहा पुठवि-
काइयाणं, जाष आइष नीससंति, नवरं नियमा छइिसि, वेईदियाणं मंते ! ० पुच्छा, गो० ! अे पोग्गले आहारचाते गि-
ण्ढति ते णं वेसि सुग्गलाणं सिमलंसि कतिमाणं आहारंति कतिमाणं आसाएति, एवं अहा नेरइयाणं, वेईदियाणं मंते !
अे पोग्गला आहारचाए गिण्ढति ते किं सबे आहारंति गो सबे आहारंति ?, गो० ! वेईदियाणं दुक्खिे आहारे पं०, सं०—
लोमाहारे य पपखेवाहारे य, अे पोग्गले लोमाहारचाए गिण्ढति ते सबे अपरिसेसे आहारंति, अे पोग्गले पक्खेवाहारचाए
णेण्ढति वेसिमसंखेज्जतिमागमाहारंति अयेगाई ष णं मागसइस्ताई अफासाइज्जमाणं अणासाइज्जमाणं विदंसमाण-
च्छति, एवेसि णं मंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणं अफासाइज्जमाणं य कपरे २ हिंते अप्पा षा ४, गो० ! सबत्थोवा
पोग्गला अणासाइज्जमाणा अफासाइज्जमाणा अणंतगुप्पा, वेईदियाणं मंते ! अे पोग्गला आहारचाते पुच्छा, गो० !
द्विग्मिदिय० फासिदिपयेमापचाए वेसि सुखो २ परिज्जमंति, एवं जाष चउरिदिया, पवरं पेगाई ष णं मागसइस्ताई
अप्पापाइज्जमाणाई अप्पासाइज्जमाणाई अफासाइज्जमाणाई विदंसमाणच्छति, एवेसि णं मंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणा-

न अणसाइज्जमाणां अफासाइज्जमाणान य क्यरेरहितो अप्पा वा ४ ? , गो० ! सवत्योवा पोग्गला अणसाइज्जमाणा
 अणसाइज्जमाणा अणंतगुणा अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा, वेइदियाणं मत्ते ! जे पोग्गला पुच्छा, गो० ! ते णं पोग्गला
 धाव्विदिय० जिम्मिदिय० फासिदियवेमायणाए तेसि सुळो २ परिणमत्ति, चउरिदियाणं चव्विखदिय० धाणिदिय० जिम्मिदिय०
 फासिदियवेमायणाए तेसि सुळो २ परिणमत्ति, सेसं जहा तेइदियाणं, पंचिदियतिरिखज्जोपिया जहा तेइदियाणं, षवरं
 तत्थ णं जे से आमोगनिवचिते से जहण्येणं अंतोसुदुत्तस्स उक्को० छट्टमचस्स आहारुत्ते समुप्पज्जति, पंचिदियतिरिखज्जोपि-
 याणं मत्ते ! जे पोग्गला आहा० पुच्छा, गो० ! सोत्तिदिय० चव्विखदिय० धाणिदिय० जिम्मिदिय० फासिदियवेमायणाए सुज्जो २
 परिणमत्ति, मणूसा एवं वेध, नवरं आमोगनिवचिते जह० अंतोसुदुत्तस्स उक्को० जट्टमचस्स आहारुत्ते समुप्पज्जति, वाण
 मंतरा जहा नागकुमारा, एव ज्जोत्तिसियावि, षवरं आमोगनिवचिते जह० दिवसपुदुत्तस्स उ० दिवसपुदुत्तस्स आहारुत्ते
 समुप्पज्जत्ते, एवं वेमाणियावि, नवरं आमोगनिवचिते जह० दिवसपुदुत्तस्स उ० तेचीसाए वाससहस्साणं आहारुत्ते समुप्प
 ज्जति, सेसं जहा असुरकुमाराणं जाव एवेसिं सुळो २ परिणमत्ति, सोहम्मं आमोगनिवचिते ज० दिवसपुदुत्तस्स उक्को०
 दोण्ह वाससहस्साणं आहारुत्ते स०, ईसायेणं पुच्छा, गो० ! ज० दिवसपुदुत्तस्स सातिरेगस्स उ० सातिरेगं दोण्हं वास
 सहस्साणं, सणकुमाराणं पुच्छा, गो० ! ज० दोण्हं वाससहस्साणं उ० सत्तण्हं वाससहस्साणं, माहिदे पुच्छा, गो० !
 जहण्येणं दोण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं उक्को० सत्तण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं, वंमलोए पुच्छा, गो० ! ज० सत्त-
 ण्हं वाससहस्साणं उ० दत्तण्हं वाससह०, लंत्तएणं पुच्छा, गो० ! ज० दत्तण्हं वाससह० उ० चत्तदत्तण्हं वाससह०, महासु

ने नं पुच्छा गो० । ज० षउदसण्हं वासस० उक्को० सत्तरसण्हं वाससह०, सहसारे पुच्छा, गो० । जह० सत्तरसण्हं
 वासस० उ० अद्वारसण्हं वाससह०, आणए नं पुच्छा, गो० । ज० अद्वारसण्हं वाससह० उ० एगूणवीसाए वाससहस्सा
 ण, पाणए नं पुच्छा, गो० । ज० एगूणवीसाए वास० उ० धीसाए वाससहस्साणं, आरणे नं पुच्छा, गो० । 'ज० धी-
 साए वाससह० उक्को० एकधीसाए वाससह०, अबुए नं पुच्छा गो० । ज० एकधीसाए वाससह० उक्को० धावीसाए
 वा०, हिट्ठिमहिट्ठिमगेविजगण पुच्छा, गो० । ज० धावीसाए वा० उक्को० तेवीसाए वा०, एवं सत्तय सहस्साणि माण्णि-
 यशाणि, जाव सवट्ठ, हिट्ठिममज्झिमगण पुच्छा, गो० । 'ज० तेवीसाए उ० चउवीसाए, हेट्ठिमउवरिमाणं पुच्छा, गो० ।
 ज० चउवीसाए उ० पण्णवीसाए, मज्झिमहेट्ठिमाणं पुच्छा, गो० । ज० पण्णवीसाए उक्को० छवीसाए, मज्झिममज्झिमा-
 नं पुच्छा, गो० । ज० छवीसाए उ० सत्तावीसाए, मज्झिमउवरिमाणं पुच्छा, गो० । ज० सत्तावीसाए उ० अट्ठावीसाए,
 उवरिमहट्ठिमाणं पुच्छा, गो० । ज० अट्ठावीसाए उ० एगूणवीसाए उ० उवरिममज्झिमाणं पुच्छा, गो० । 'ज० एगूणवीसाए
 उ० वीसाए, उवरिमउवरिमाणं पुच्छा, गो० । ज० तीसाए उ० एगवीसाए, बिच्चयेवयंतवयंतअपराजियाणं पुच्छा,
 गो० । ज० एगवीसाए उक्को० तेवीसाए, सवट्ठगसिद्धेदवाणं पुच्छा; गो० । अचहण्णमजुक्कोसिणं तेवीसाए वाससहस्सा-
 ण आहारहे समुप्यज्जति (मूत्रं ३०६)

'वेदिया न भंते ।' इत्यादि सुगमं, नवर 'लोमाहारे पफ्फेवाहारे' इति लोमभिराहारे, लोमाहाए प्रबिज्य-

तेऽर्पात् मुखे इति प्रथेपः स चासाधाहारश्च प्रथेपाहारः, तत्र यः खल्वोधतो वर्षादिषु पुद्गलप्रवेशो मूत्रादिगम्यः स
लोमाहारः, फावलिफस्तु प्रथेपाहारः, तत्र यान् पुद्गलान् लोमाहारतया यद्वाति तान् सर्वान्-अपरिशेषानाहारय-
न्ति, तेषां तथा २ स्वभावत्यात्, यान् पुद्गलान् प्रथेपाहारतया यद्गन्ति तेषामसङ्ख्येयतम भागमाहारयन्ति, अने
कानि पुनर्भागसहस्राणि-यद्द्वयोऽसङ्ख्येया भागा इति असृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां विध्वंसमागच्छन्ति, किमु-
क्व भवति ?-ब्रह्मनि द्रव्याण्यन्तर्वहिस्र असृष्टान्येषामास्वावितान्येव च विध्वंसमायान्ति, नवर यथायोग केचिदतिसौ-
ल्यतः केचिदतिसौक्ष्म्यत इति, सम्प्रत्यसृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां च परस्परमल्पषष्ठुत्वमभिषित्पुराह—'एष
सि ण भते ! पुग्गलाण अणासाइअमाण'मित्यादि, इह एकैकस्मिन् स्वर्धयोग्ये भागेऽनन्ततमो भाग आस्वाद्यो
भवति, ततो येऽनास्वाद्यमानाः पुद्गलास्ते स्तोफा एव, असृश्यमानपुद्गलापेक्षया तेषामनन्तभागवर्चित्वात्, असृश्य-
मानास्तु पुद्गला अनन्तगुणाः, 'जिम्भिवियफासिदियेमायत्ताप' इति विमात्राऽत्रापि प्राग्बद्ध भावनीया, 'एव ज्ञाव
घडरिदिया' एष-—द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण सूत्र तावद् वक्तव्यं यावच्चतुरिन्द्रियाः-—चतुरिन्द्रियगत सूत्र, प्रायः समान-
वक्ष्यत्यात्, यस्तु विधेपः स उपदृश्यते-—नवर'मित्यादि, यान् पुद्गलान् प्रथेपाहारतया यद्गन्ति-तेषां पुद्गलानामे-
कमसङ्ख्येयतम भागमाहारयन्ति अनेकानि पुनर्भागसहस्राणि सद्भातीता असङ्ख्येयमागा इत्यर्थः अनाप्रायमाणा
नि असृश्यमाणानि अनास्वाद्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति, तानि च यथायोगमतिसौख्यतोऽतिसौक्ष्म्यतश्च वेदित-

न्यानि, भद्रैराल्यवदुत्वमाह—‘एएसि ण मते !’ इत्यादि, इह एकैकस्मिन् मागे स्वर्शयोग्येऽन्तमो मागः आस्वा-
 दयोग्यो भवति, तस्वाप्यनन्तमो माग आघ्राणयोग्यः, ततो ययोक्तमल्पवदुत्व भवति, शेषं सर्वं सुगमं, पञ्चेन्द्रिय-
 सूत्रे—‘जहण्णेण अतोमुदुचस्से’ति पठ्थाः समन्त्यर्थत्वादन्तर्मुदुत्ते गते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यते, उत्कर्षतः
 पृथमर्केऽतिक्रान्ते, एतच्च देवकुरुचरकुरुकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियापेक्षया द्रष्टव्य, मनुष्यसूत्रे ‘उक्कोसेण अट्टममत्तस्से’ति
 उत्कर्षतोऽट्टममर्केऽतिक्रान्ते, एतच्च तास्वेष देवकुरुचरकुरुषु द्रष्टव्य, व्यन्तरसूत्रे नागकुमारसूत्रयत्, ज्योतिष्कसूत्र-
 मपि तथैव, बह्वु विश्वेष्वमुपदर्शयति—‘नवरं जहण्णेणपि दिवसपुदुचस्स उक्कोसेणपि दिवसपुदुचस्स’ति, ज्योति-
 ष्का हि जघन्यतोऽपि पत्योपमाट्टमागप्रमाणायुपस्रतस्तेषां जघन्यपदेऽप्युत्कृष्टपदेऽपि दिवसपृथक्त्वेऽतिक्रान्ते भूय
 आहारार्थं समुत्पद्यते, पत्योपमाट्टमागायुषां च स्वरूपत एव दिवसपृथक्त्वातिक्रमे भूय आहारार्थः समुत्पद्यते, वै-
 मानिकसूत्रे ‘नवरमामोगनिषत्तिए जहण्णेण दिवसपुदुचस्स’ इति, एतत्पत्योपमाट्टायुषामवसेय, ‘उक्कोसेण ते-
 सीसाए वाससहस्साण’ति एतदनुत्तरसुराणामवसेयं, इह यस्म यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्वस्य तावत्सु वर्षसह-
 स्रेष्वतिक्रान्तेषु भूय आहारार्थः समुत्पद्यते, ततोऽमु न्यायमाश्रित्य सौघर्मज्ञानादिदेवलोकेषु जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थि-
 तिपरिमाण परिमाण्य वैमानिकसूत्र सक्रमपि स्वय विज्ञेयमिति । सम्प्रत्येकेन्द्रियशरीरादीनामधिकारमभिधित्सुराह—
 नेऽप्रमाणं मते ! किं परिगियसरीराह आहारंति जाप परिगियसरीराह आहारंति ?, गो० ! प्रहमावपपञ्चवर्षं पद्वच्च पद्वि

दियसरीराईपि आहारैति जाव पंचिदिय०, पङ्कप्यमावपणवर्णं पङ्कच नियमा पंचिदियसरीराति आ०, एवं जाव थणि-
यकुमारा, पुढाविकाइयाणं पुच्छा, गो० ! पुढभावपणवर्णं पङ्कच एवं चेष, पङ्कप्यमावपणवर्णं पङ्कच नियमा पंगिदिय
सरीराति, बेईदिया पुढभावपणवर्णं पङ्कच एवं चेष, पङ्कप्यमावपणवर्णं प० नियमा बेईदियाणं सरीराति आ०, एवं
जाव चउरिदिया ताव पुढभावपणवण पङ्कच, एवं पङ्कप्यमावपणवर्णं पङ्कच नियमा जस्त जति इदियाई तबेदियाई
सरीराई आहारैति सेसं जहा नेरइया, जाव वेमाणिता, नेरइया णं मते ! कि लोमाहारा पखेवाहारा !, गो० ! लोमाहारा
नो पखेवाहारा, एवं पंगिदिया सबेदेवा य साणितवा, बेईदि० जाव मथूसा लोमाहारावि पखेवाहारावि (सूत्रं ३०७)
‘नेरइया ण मते !’ इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, निर्वचनसूत्रमाह—‘गोयमे’त्यादि, पूर्वः—अतीतो भावः पूर्वमायः तस्य

प्रज्ञापना—प्ररूपणा ता प्रतीत्य एकेन्द्रियशरीराण्यपि यायत्करणात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियशरीरपरिमृदः, पञ्चेन्द्रियशरीराण्य-
प्याहारयन्ति, इयमत्र भावना—यदा तेपामाहार्यमाणानां पुद्गलानामतीतो भावः परिभाष्यते तदा ते केचित् कदाचित्
एकेन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् कदाचित् हीन्द्रियशरीरतया कदाचित् त्रीन्द्रियशरीरतया कदाचित् चतुरिन्द्रियश-
रीरतया कदाचित् पञ्चेन्द्रियशरीरतया, ततो यदि पूर्वभाव इदानीमप्यारोप्य विवक्ष्यते तदा नैरयिका एकेन्द्रियश-
रीराण्यपि यायत्पञ्चेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्तीति भवति, ‘पङ्कप्यमावपणवण पङ्कचे’त्यादि, प्रत्युत्पन्नो—वार्त्तमा-
निकः स चासौ मायश्च प्रत्युत्पन्नभायस्त्वस्य प्रज्ञापना तां प्रतीत्य नियमाद्—अयश्यतया पञ्चेन्द्रियशरीराण्याहारय-

न्ति, कथमिति चेत्, उच्यते, इह प्रत्युत्पन्नमावप्रज्ञापनां करोति नयः ऋतुसूत्रो न क्षेया नैगमादयः, ऋतुसूत्रस्य
 क्रियमाणे कृत अस्यवप्रियमाणस्यववदत परिणतमस्युयगच्छति, अस्यववदियमाणस्य पुत्रलासे सञ्च-
 न्ते ये स्वशरीरतया परिणस्यमाना वर्धन्ते, अस्यववदियमाणे चास्यववदत परिणतमस्यमाने च परिणतमिति तस्मिन्नेन स्व-
 शरीरमेवास्यववदियते स्वशरीरं च तेषां पञ्चेन्द्रियशरीरं पञ्चेन्द्रियशरीरत्वात् तेषामत उक्तं नियमात् पञ्चेन्द्रियशरी-
 राण्याहारयन्तीति, एवमसुरकुमारादयः स्वनितकुमारपर्यवसाना मधनपतयो वक्तव्याः, पृथिवीकायिकसूत्रे प्रत्युत्प-
 न्नाप्ररूपणाधिन्तायां नियमादेकेन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं, तेषामेकेन्द्रियतया तंत्वशरीराणामेकेन्द्रियश-
 रीरत्वात्, एव द्वीन्द्रियसूत्रे नियमात् द्वीन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं, त्रीन्द्रियसूत्रे नियमात् त्रीन्द्रियशरीरा-
 णि, चतुरिन्द्रियसूत्रे नियमात् चतुरिन्द्रियशरीराणि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या भ्यन्तरज्योतिष्कथैमानिकाश्च नैरयि-
 कयद् वक्तव्या, तथा चाह—'युवविकाश्याणं पुष्ठा' इत्यादि । अथुना लोमाहाराधिकार विमानयिपुरिदमाह—'ने-
 रया ण'मित्यादि सुगमः, नवर नैरयिकाणां प्रथेपाहारो न भवति, वैक्रियशरीराणां तथा स्वभावत्वात्, लोमाहा-
 रोऽपि पर्यासानामवसेयो नापर्यासानामिति, 'एव एर्गिदिवा' इत्यादि, एव—नैरयिकोक्तप्रकारेण एकेन्द्रियाः—पृ-
 थिव्यपतेजोवायुबनस्पतयः सर्वे देवाश्च—असुरकुमारादयो यावद्देवानिका मणितव्याः, तत्रैकेन्द्रियाणां प्रथेपाहारा-
 माणो सुखामावात्, असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरत्वात् तथा स्वभावात्, द्विन्द्रियसूत्रेन्द्रियविकारपञ्चेन्द्रिया

मनुष्यात् लोमाहारा अपि पृच्छ्याः प्रथेपाहारा अपि, तमयरूपस्वाप्याहारस्य तेषां सम्भवात्, धरममयो
धिकारमभियधित्सुराह—

नेरुया न मते ! किं ओपाहारा मयमपस्त्री ?, गो० । ओपाहारा यो मयमपस्त्री, एवं सर्वे ओरालियसरीराभि, देवा सर्वे-
वि नाव वेमाभिया ओपाहारावि मयमपस्त्रीयि, तत्य नं जे ते मयमपस्त्री देवा तेसि यं इच्छामणे समुप्यञ्जति इच्छामो
नं मयमपस्त्रयं करिचते, तंते नं तेहिं देवेहिं एवं मयस्रीक्ये समाने स्थिपामेव जे पोगला इष्टं कंठा जाव मगामा ते
तेसि मयमपस्त्रुचाप परिणमति, ते जहा नामए सीया पोगला सीयं पय सीव वेध अविचविचारं चिहंति; उसिया वा
पोगला उसियं पय उसियं केव अइइघारणं चिहंति, एषामेव तेहिं देवेहिं मयमपस्त्रीकर समाने से इच्छामणे स्थिप्या
मेव अनेसि (सूत्रं ३०८) आहारपयस्स पदमो उरैसो समसो २३-१ ॥

‘नेरुया न मते !’ इत्यादि, ओज—उत्पत्तिदेशे आहारयोग्यपुद्गलसमूहः, ओज आहारो येषां ते ओजआहा-
राः, मनसा मययन्तीत्येयदीला मनोमथिणः, तत्र नेरयिका ओजआहारा मयन्ति, अयरीसायस्यायामोजसं पवा-
हारस्य सम्भवात्, मनोमथिणस्त्येते न मयन्ति, मनोमथणलक्षणो साहारः स उच्यते ये तयायिधमृक्चिचदात् मन-
सा स्वरीरसुष्टिजनकाः पुद्गला अम्यवहियन्ते, यदम्यवहरणानन्तर तुसिपूर्वः परमसन्तोप उपजायते, न चैतन्नैर-
यिकाणामसि, प्रतिश्लोकफर्मोदयवशतः तथारूपशक्त्यभावात्, ‘एव सर्वे ओरालियसरीराभि’ इति, एवं—नेरयि

कोकेन प्रकारेण औदारिकशरीरिणोऽपि सर्वे पृथिवीकायिकादयो मनुष्यपर्यवसाना षड्भ्याः, तद्यथा—‘पुढविका-
 इया ण मते ! किं ओयाहारा मनमक्खी ?, गोयमा ! ओयाहारा नो मणमक्खी’त्यादि, ‘देवा’ इत्यादि देवाः याव-
 द्वैमानिका ओजआहारा अपि मनोमधिणोऽपि षड्भ्याः, तद्यथा—भसुरकुमारा ण मते ! किं ओयाहारा मनो-
 मक्खी !, गो० ! ओयाहारायि मणमक्खीयि, जाव वेमाजियाणं पुच्छा, गो० ! ओयाहारायि मणमक्खीयि’ ॥ सम्प्र-
 ति मनोमधित्व देवानां यथा मवति तयोपदर्शयति—‘तत्तय ण’मित्यादि, तत्र—तेषु संसारिषु जीवेषु मज्जे, णमिति
 वाक्यालङ्कारे ये मनोमधिणो देवास्तेषां णमिति वाक्यालङ्कारे मनः प्रस्ताषादाहारविषय समुत्पद्यते, केनोष्ठेखेन
 इत्यत आह—इच्छामः—अमिलयामो णमिति वाक्यालङ्कारे, मनोमक्षणमिति—मनसा मक्षण मनोमक्षण कर्तुमिति,
 तत एव तैर्मनसि कृते—म्यषस्यापिते मनोमक्षणे सति तथाविधशुभकर्मोदयवशात् क्षिप्रमेव तत्काल्मेवेति मावः,
 ये इष्टाः कान्ता त्रिबा मनोव्वा मनआया पुव्वला एतेषां व्याख्यानं प्राग्वत् तेषां देवानां मनोमक्षतया परिणमन्ते,
 कथमित्यत्रैव ष्टान्तमाह—‘से जहानामए’ सेव्बुद्धोऽप्यशुद्धार्यः, स चात्र वाक्योपन्यासे, यथा नामेति विवक्षिताः
 शीताः पुव्वलाः शीतं—शीतयोनिक प्राणिन प्राप्य शीतत्वमेवातिव्रज्य—अतिशयेन गत्वा तिष्ठन्ति, किमुक्त मवति ?—
 विश्लेषतः शीतीभूय शीतयोनिकस प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्त इति, सप्या वा पुव्वला सप्यं—सप्ययोनिक
 प्राप्य सप्यमेव—सप्यत्वमेवातिव्रज्य—अतिशयेन गत्वा तिष्ठन्ति. सप्यला मसम्यस्या तत्र सुखित्वायोप-

तिष्ठन्त इति भायः, 'यद्यमेव' अनेनैव प्रकारेण तैर्देवैः प्रागुक्तीत्या मनोमक्षणे कृते सति स तेषां देवानामिच्छाम-
 नः—आहारविषयेच्छाप्रधान मनः क्षिप्रमेवापैति—तृप्तिमावाप्तिवर्षते इति भाषः, इयमत्र सावना—यथा शीतपुद्गलाः
 शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्ते त्वष्णुद्गला वा त्वष्णुनिकस्य तथा देवैरपि मनसाऽऽस्यवत्रियमाणाः
 पुद्गलास्तेषां तृप्तये परमसन्तोषाय चोपकल्पन्ते, तत आहारविषयामिलापनिवृत्तिर्मवतीति, अत्र च ओजवाहारादि-
 विभागप्रतिपादिका इमाः सूत्रकृताः क्रियुष्किगायाः—“सरीरेणोवाहारो तथाय फासेण लोमवाहारो । पक्खेवाहारो
 पुण कायत्थिओ होइ नायधो ॥ १ ॥ ओयाहारा जीया सधे अपख्खत्तया सुणेयवा । पख्खत्तगा य लोमे पक्खेधे होति
 मइयथा ॥ १ ॥ एगिंदियेवमाण नेरइमाण च नत्थि पक्खेवो । सेसाण जीषाण सत्तारत्त्याण पक्खेवो ॥ २ ॥ लो-
 माहारा एगिंदिया त नेरइयसुरगणा धेव । सेसाण आहारो लोमे पक्खेवमो धेव ॥ ३ ॥ ओयाहारा मणमत्थि-
 वो य सधेयि सुरगणा होति । सेसा हवति जीया लोमे पक्खेवमो धेव ॥ ४ ॥” [धरीरेणोवआहारः त्वचा स्प-
 र्शेन रोमाहारः । प्रक्षेपाहारः पुनः कावल्किो भवति ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ ओजवाहारा जीषाः सर्वेऽपर्यासका ज्ञातव्याः ।
 पर्यासाश्च रोमाहारे प्रक्षेपे भवन्ति मरुभ्याः ॥ २ ॥ एकेन्द्रियदेवानां नैरयिकाणां च नास्ति प्रक्षेपाहारः । श्रेयाणां
 जीयानां सत्तारत्त्यानां प्रक्षेपः ॥ ३ ॥ रोमाहारा एकेन्द्रियास्तु नैरयिकसुरगणान्धैव । श्रेयाणामाहारो रोमभिः प्रक्षेपेणैव
 ॥ ४ ॥ (सू० १७१—१७२—१७३) ओजवाहारा मनोमक्षिणश्च सर्वेऽपि सुरगणा भवन्ति । श्रेया भवन्ति जीया रोमभिः

प्रक्षेपतश्चैव ॥ ५ ॥] अथ क आहार आमोगनिर्वर्धित इति चेत्, उच्यते, देवानामामोग-
निर्वर्धितः ओजआहारः स चापर्यासावस्थार्या, लोमाहारोऽप्यनामोगनिर्वर्धितः, स च पर्यासावस्थार्या आमोगनिर्वर्धि-
तो मनोभक्षणलक्षणः, स चपर्यासावस्थार्या देवानामेव न क्षेपाणां, सर्वेषामप्यनामोगनिर्वर्धित आहारोऽपर्यासावस्थार्या
लोमाहारः पर्यासावस्थार्या, नैरयिकवर्धनां लोमाहारो, नैरयिकाणां तु लोमाहार आमोगनिर्वर्धितोऽयि, द्विन्द्रियादीनां
मनुष्यपर्यवसानानां यः प्रक्षेपाहारः स आमोगनिर्वर्धित एवेति ॥ श्रीमलयगिरिबिर० प्रज्ञापनाटीकायां आहारपदस्य
प्रथमोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

ग्यास्यात् आहारपदस्य प्रथमोद्देशकः, सम्प्रति द्वितीयो व्याख्येयः, तत्र आदावियमधिकारसङ्ग्रहाद्या—

आहार १ मधिय २ सष्णी ३ लेसा ४ विद्धी ५ च संवत् ६ कस्ताप ७ । नाणे ८ ओगु ९ वञ्चोणे १० वेवे ११ न सरीर
१२ पञ्चसी १३ ॥ १ ॥

‘आहारै’त्यादि, प्रथम सामान्यत आहाराधिकारः, द्वितीयो मध्याधिकारो—मध्वभिन्नेष्विवाहाराधिकारः, एव तृती-
यः सत्त्वधिकारः, चतुर्थो लेस्याधिकारः पञ्चमो वृष्टधिकारः षष्ठः संपताधिकारः सप्तमः कृषायाधिकारः अष्टमो
ज्ञानाधिकारः नवमो योगाधिकारः दशम-उपयोगाधिकारः एकादशो वेदाधिकारः द्वादशः धरीराधिकारः त्रयोदशः

आहारए अणाहारए ? , गो० ! सिय आ० सिय अणा० एवं णेरए जाय षाणमंतरे, जोइसियवेसाणिया ष पुच्छिज्जति,
 असण्णी ण मंते ! जीवा कि आ० अणा० ? , गो० ! आहारगावि अणाहारगावि एगो मंगो, असण्णी णं मंते ! णेरइया
 कि आहारया अणा० ? , गो० ! आहारगा वा ? अणाहारगा वा ? अहवा आहारए य अणाहारए य ? आहारए य
 अणाहारया य ? अहवा आहारगा य अणाहारए य ? अहवा आहारगा य अणाहारए य ? एवं एते छम्मंगा, एवं वाव
 षणियकुमारा, एणिदिएसु अमंगत, धेइदिय जाय पंचिदियतिरिखुजोणिएसु तियमंगो, मणुसवाणमंतरेसु छम्मंगा, नो-
 सण्णीनोअसण्णी णं मंते ! जीवे कि आ० अणा० ? , गो० ! सिय आहारए सिय अणाहारए य, एवं मणुसेषि, सिद्धे
 अणाहारवे, पुट्टुचेण नोसण्णीनोअसण्णी जीवा आहारगावि अणाहारगावि, मणुसेसु तियमंगो, सिद्धा अणाहारगा ।
 दारं ३ (मूत्रं ३०९)

'जीवे ण मंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, मगयानाह—'गौतमे'त्यादि, गौतम ! स्वात्—कदाधिदाहारक कदा-
 धिदनाहारका, कयमिति चेत् ? , उच्यते, विग्रहगतौ केयलिसमुद्घाते त्रैलोक्यवस्थायां सिद्धत्वे वानाहारकः, श्रेयास्व-
 स्थास्याहारकः, उक्तं च—'विग्रहगइमाधन्ना केयलिनो समोहया जजोगी य । सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा
 जीवा ॥१॥' [विग्रहगत्सापन्ना समवहताः केवलिनोऽयोगिनश्च । सिद्धाव्वानाहारकाः श्रेया आहारका जीवाः॥१॥]
 तेऽथ मामान्यतो जीवन्वित्तो क्लृपेदानी नैरयिकादिचतुर्धितिरुपककमेजाहारकानाहारकचित्तो करोति—'भेर-

इयं ण मते । किं आहारः इत्यादि सुगम, तदेव सामान्यतो जीवपदे नैरयिकावितु वैकषधनेन आहारकानाहारक-
 स्वपिन्ता कृता, सम्प्रति षडुषधनेन तां विकीर्तुराह—'जीवा णं मते ।' इत्यादि प्रथमं सुगम, मगयानाह—नोतम ।
 आहारका अपि अनाहारका अपि, सदैव षडुषधनविशिष्टा उभयेऽपि लभ्यन्ते इति भावः, तथाहि—यिप्रहगतिष्यति
 रेकेण श्रेयकालं सर्वेऽपि संसारिणो जीवा आहारकाः, यिप्रहगतिष्ठ कश्चित् कदाचिद् कस्यचित्तु मवतीति सर्वकाल-
 मपि लभ्यमाना सा प्रतिनियतानामेष लभ्यते तत आहारकेषु षडुषधन, अनाहारका अपि सिद्धाः सदैव लभ्यन्ते,
 ते चामध्येऽनन्तगुणाः, अन्यथा—सर्वकालमेकैकस्य निगोदस्य प्रतिसमयमसङ्ख्येयभागो यिप्रहगत्यापन्नो लभ्यते,
 ततोऽनाहारकेऽपि षडुषधन, नैरयिकसुत्रे सर्वेऽपि तावद्द्वेयुराहारकाः १, किमुक्त मवति ?—कदाचिन्नैरयिकाः सर्वेऽ
 प्याहारका एव मयन्ति, न त्वेकोऽप्यनाहारकाः, फलमिति चेत्, उच्यते, उपपातधिरहात्, तथाहि—नैरयिकाणासुय-
 पातधिरहो द्वादश सुदृष्टाः, एतावति चान्तरे पूर्वोत्पन्नयिप्रहगत्यापन्ना अपि आहारका जाताः, अन्यस्त्यनुत्पद्यमान-
 त्यात् अनाहारको न सम्भवतीति, अथवा आहारका अनाहारकाश्च २ आहारकपदे षडुषधन अनाहारकपदे एकपच-
 नमिति भावः, फलमेव मन्नो पटामियर्चीति चेत्, उच्यते, इह नरकेषु जन्तुः कदाचिदेक उत्पद्यते कदाचिद्वा कदाचित्
 त्रयमत्यारो यावत्सङ्ख्याता असङ्ख्याता वा, तत्र यदा एक उत्पद्यते सोऽपि च यिप्रहगत्यापन्नोऽपि मवति अन्ये च
 पूर्वोत्पन्नतया आहारका भवन् तदा एव मन्नो लभ्यते, तुतीयमन्नमाह—अथवा आहारगा य अनाहारगा य ३,

अत्रोभयत्रापि बहुवचन, एष च मज्ञो यदा बहवो विप्रहृगस्योत्पद्यन्ते तदा प्रष्टव्यः, श्रेयमङ्गकास्तु न सम्मवन्ति, आहारकपदस्य नैरपिकाणां सर्वदैव बहुवचनविपयतया लभ्यमानत्वात्, एवमसुरकुमारादिषु स्वनिवकुमारपर्यवसानेषु द्वीन्द्रियादिषु च वैमानिकपर्यन्तेषु प्रत्येक मङ्गत्रिकं भावनीय, उपपातविरहभाषतः प्रथममङ्गस्य एकादिसङ्घतयोत्पत्तेः श्रेयस्य च मङ्गद्वयस्य सर्वत्रापि लभ्यमानत्वात्, एकेन्द्रियेषु पुनः पृथिव्यसेजोषायुवनस्पतिरूपेषु प्रत्येकमेव एवैको मङ्ग आहारकाः अनाहारका अपि, पृथिव्यपृतेजोषायुषु प्रत्येकं प्रति समयमसङ्घातानां वनस्पतिषु प्रति समयमनन्तानां विप्रहृगस्योत्पद्यमानानां लभ्यमानतया अनाहारकपदेऽपि सर्वैव तेषु बहुवचनसम्भवात्, तथा चाह—‘एषं जाव येमाणि या नवर एर्गिदिया जहा जीवा’ इति, एव-नैरपिकोक्तमङ्गकारेण श्रेया अप्यसुरकुमारादयस्सावद्वक्तव्या यापदैमानिकाः, नवरमेकेन्द्रियाः पृथिव्यपृतेजोषायुवनस्पतिरूपाः प्रत्येक यया उभयत्रापि बहुवचने जीवा उक्तास्तया यस्कन्याः, सिद्धेन्वेक एव मज्ञोऽनाहारक इति, सकलशरीरप्रहाणतन्त्रेणामाहारासम्भवात् घट्टनां च सदा भावात् इति, गत प्रथम द्वार ॥ द्वितीय मध्यद्वारमभिधित्सुराह—‘मवसिद्धि ए ण भते !’ इत्यादि, मधैः सङ्घातैरसङ्घातैरनन्तैर्वा सिद्धिर्यस्यासौ मवसिद्धिको मन्थः, स कदाचिदाहारकः कदाचिदनाहारकः, विप्रहृगस्याद्यवस्थायां अनाहारकः श्रेय-काल त्वाहारकः, एष चतुर्विधतिदण्डकेऽपि प्रत्येकं वाच्य, तथा चाह—‘एष जाव येमाणि ए’ अत्र च सिद्धविषयं सूत्र न पस्कन्मं, मोक्षपदप्राप्ततया तस्य मवसिद्धिकत्वायोगात्, अत्रैव बहुवचनेनाहारकानाहारकत्वविधौ चिकीर्षुराह—

'मयसिद्धिया ण मते !' इत्यादि, अत्राप्याहारकद्वार इव जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकसुमयत्र षडुषधनेनैक एव मन्त्रो, यथा आहारका अपि अनाहारका अपि, श्लेषेषु नैरयिकादिसु स्वानेषु मन्त्रत्रिक, कदाचित्केषला आहारका एव न त्पेकोऽप्यनाहारकः, अथवा कदाचिदाहारका एकोऽनाहारकः, अथवा आहारका अपि अनाहारका अपि उभय-
 त्रापि षडुषधने, तथा चाह—'त्रीयेर्गिदियधज्जो तियमगो' इति, यथा च मयसिद्धिके एकस्मिन् षडुषु चाहारकानाहा-
 रकृत्यचिन्ता कृता तथा अमयसिद्धिकेऽपि कर्त्तव्या, उभयत्राप्येकधने षडुषधने च मन्त्रसङ्ख्यायाः सर्वत्रापि समान-
 त्वात्, तथा चाह—'अमयसिद्धिए एव धेव' अमयसिद्धिकेऽपि मयसिद्धि इय एकधने षडुषधने च षष्ठ्यमिति,
 यस्तु न मयसिद्धियो नाप्यमयसिद्धिकः स सिद्धः, स हि मयसिद्धिको न भवति, भवातीतत्वात्, अमयसिद्धिकस्तु
 रूढ्या यः सिद्धिगमनयोगो न भवति स उच्यते, ततोऽमयसिद्धिकोऽपि न भवति, सिद्धिशासत्वात्, तथा च सति
 नोमयसिद्धिकनोमयसिद्धिकत्वचिन्तायां द्वे एव पदे, तद्यथा—जीवपद सिद्धिपद च, उभयत्राप्येकधने एक एव
 मन्त्रोऽनाहारक इति, षडुषधनेऽप्येक एवानाहारका इति । सद्भिद्वारे—'सन्नी ण मते !' इत्यादि प्रमसूत्र सुगम,
 निर्धचनसूत्रमाह—'गोयमे'त्यादि, विप्रद्वारगतावनाराहारकः श्लेषकालमाहारकः, ननु संज्ञी समनस्क उच्यते, विप्रद्वारतो
 च मनो नास्ति ततः कथं संज्ञी सन्ननाहारको उच्यते !, उच्यते, इह विप्रद्वारगतावनाराहारकोऽपि सन्न्यायुष्कथेवनात् संज्ञी
 व्यषडिष्यते, यथा नाराकायुष्कथेवनाभारकस्ततो न कथिदोयः, 'एव'मित्यादि, एवमुपदर्शितेन प्रकारेण तावद् वक्तव्यं

न्द्रियाणामनन्तानां विग्रहगत्यापन्नानामस्य एयानाहारकारणां सर्वेषु लभ्यमानतया अनाहारकपदेऽपि सर्वथा षडुवच-
 नमाधात्, नैरपिकपदे पदं मङ्गा, तत्र प्रथमो मङ्ग आहारका इति, अथ च मङ्गो यदाऽन्योऽसञ्चिनारकः उत्पद्य-
 मानो विग्रहगत्यापन्नो न लभ्यते पूर्वोत्पन्नास्त्वसञ्चिनः सर्वेऽप्याहारका जातास्तदा लभ्यते, द्वितीयोऽनाहारका
 इति, एव यदा पूर्वोत्पन्नोऽसञ्चि नारक एकोऽपि न विद्यते उत्पद्यमानास्तु विग्रहगत्यापन्ना षडुवचो लभ्यन्ते तदा
 विज्ञेयः, तृतीय आहारकश्च अनाहारकश्च, द्वित्वेऽपि प्राकृते षडुवचनमिति षडुवचनविन्तायामेयोऽपि मङ्गः समी-
 चीन इत्युपन्यस्तः, तत्र यदा चिरकालोत्पन्न एकोऽसञ्चि नारको विद्यते अयुनोत्पद्यमानोऽपि विग्रहगत्यापन्न एकस्व-
 दाऽय मङ्गः, चतुर्थ आहारकश्च अनाहारकश्च एव चिरकालोत्पन्ने एकस्मिन्नसञ्चिनि नारके विद्यमाने अयुनोत्प-
 द्यमानेषु असञ्चिषु विग्रहगत्यापन्नेषु प्रष्टव्यः, पञ्चमः—आहारकश्च अनाहारकश्च, अथ चिरकालोत्पन्नेषु षडुषु अस-
 चिषु नारकेषु सत्सु अयुनोत्पद्यमाने विग्रहगत्यापन्ने एकस्मिन्नसञ्चिनि विज्ञेयः, षष्ठ आहारकश्च अनाहारकश्च, एव
 षडुषु चिरकालोत्पन्नेषुत्पद्यमानेषु वासञ्चिषु वेदितव्यः, 'एषमेते छम्भगा' एवमुपदर्शितप्रकारेण एते पदं मङ्गाः, तथ-
 या—आहारकपदस्य केवलस्य षडुवचनेन द्वितीयः २, अनाहारकपदस्य केवलस्य षडुवचनेन द्वितीयः २, आहारकपदस्वाना-
 हारकपदस्य च युगपत् प्रत्येकमेकवचनेन तृतीयः ३, आहारकपदस्यैकवचनेन अनाहारकपदस्य षडुवचनेन चतुर्थः ४,
 आहारकपदस्य षडुवचनेन अनाहारकपदस्यैकवचनेन पञ्चमः ५, तमयत्रापि षडुवचनेन षष्ठः ६, श्रेयास्तु मङ्गा न

सम्भवति, घटुपचनचिन्तायाः प्रक्रान्तत्वात्, एते च पद मज्ञा असुरकुमाराविष्वपि स्तनितकुमारपर्यवसानेषु वेदि-
तस्याः, तथा चाह—'एयं जाव यणियकुमारा' 'एगिंविपसु अमंगय'मिति एकेन्द्रियेषु पृथिव्यपृतेजोयायुवनस्पतिरूपे-
व्यभक्त—मङ्गलमाय एक एव मङ्ग इत्यर्थः, स चाय—आहारका अपि अनाहारका अपि, तत्राहारका बहव
मुत्रसिद्धाः, अनाहारका अपि प्रतिसमयं पृथिव्यपृतेजोवायवः प्रत्येकमसङ्घेयाः प्रतिसमयं वनस्पतयोऽन्ताः सर्व-
काल लभ्यन्ते इति तेऽपि बहवः सिद्धाः, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्रत्येकं भङ्गात्रिक, तद्यथा—
आहारका अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च, तत्र द्वीन्द्रियान् प्रति भावना-
यदा द्वीन्द्रिय एकोऽपि विग्रहगत्यापन्नो न लभ्यते तदा पूर्वोत्पन्नाः सर्वेऽप्याहारका इति प्रथमो मङ्गः, यदा पुनरे-
को विग्रहगत्यापन्नस्तदा पूर्वं सर्वेऽप्याहारका उत्पद्यमानस्त्वेकोऽनाहारक इति, यदा दृत्यद्यमाना अपि बहवो ल-
भ्यन्ते तदा तृतीय, एव त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वपि भावना कर्त्तव्या, मनुष्यव्यन्तरेषु पद मङ्गाः, ते च
नैरयिकेष्विव मायनीयाः, तथा षाह—'वेदिय जाय पंचिदियतिरिक्खजोणिपसु तियमंगो, मणुस्रवाणमत्तरेसु छम्-
गा' इति, नोसञ्जीनोबसञ्जी च केयली सिद्धश्च ततो नोसञ्जीनोअसञ्चित्त्वचिन्ताया त्रीणि पदानि, तद्यथा—जीवपद
मनुष्यपदं सिद्धपदं च, तत्र जीवपदे सूत्रमाह—'नोसञ्जीनोमसञ्जी ण मते ! जीवे' इत्यादि, स्वात्—कदाचिदाहा-
रका केवसिनः समुद्रपातापवत्याचिरेदे आहारकः (कत्थात्), स्वात्—कदाचिदनाहारकः, समुद्रपातावत्यायां अयो-

गित्यायस्यायां सिद्धायस्यायां वा माषनीय, 'सिद्धे अणाहारए' इति सिद्धे—सिद्धविषये सूत्रे 'अणाहारए' इति
 वक्तव्यं, 'पुत्रुचेण'ति पृथक्त्वेन यदुत्वेन चिन्तायामिति प्रक्रमः, 'आहारगायि अणाहारगायि' तत्राहारका अपि
 मद्भूनां केषलिनां समुद्रपाताद्यस्यारहितानां सदैव लभ्यमानत्वात्, अनाहारका अपि सिद्धानां सदैव भावात्तेषां
 वानाहारकत्वादिति, 'मणुस्सेसु तियमंगो' इति मनुष्यविषय मङ्गपिक, तद्यथा—आहारका एव मङ्गो यदा न
 कोऽपि केषली समुद्रपाताद्यवस्थागतो भवति, अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च एव मङ्ग एकस्मिन् केषलिनि
 समुद्रपाताद्यवस्थागते सति लभ्यते, अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च एव यदुतु केषलिसमुद्रपाताद्यवस्थागतेतु
 सतु वेदितव्यः । लेश्यादारे सामान्यतः सत्वेदयसुत्रमाह—

सत्से नं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गो० ! सिय आहारए सिय अणाहारए, एवं ज्ञाय वेमाणिते, सत्सेसा
 ण भंते ! षीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गो० ! जीवेगिदियवञ्जो तियमंगो, एवं कण्ठलेसावि नीलेसायि काउले-
 सावि जीवेगिदियवञ्जो तियमंगो, वेउलेसाए पुढविआउवणस्सइकाइयाण छम्भंगा, सेसाणं जीवादिओ तियमंगो वेसि
 अतिय वेउलेसा, पम्हलसाए सुकलेसाए य जीवादिओ तियमंगो, अलेसा षीया मणुस्सा सिद्धा य एगणेणवि पुहुचेणवि
 नो आहारगा अणाहारगा, दारं ष । सम्भदिदी ण भंते ! षीवा किं आहा० अणा० ? गो० ! सिय आहा० सिय अणा०,
 वेदियया वेदियया चउरियया छम्भंगा, सिद्धा अणाहारगा, अवसेसाभं तियमंगो, भिच्छादिदीसु जीवेगिदियवञ्जो तिय-

मंगो, सुम्नामिच्छादिद्वी णं मंते ! किं आहा० अणा० १, गो० ! आहारते नो अणा०, एवं एगिदियविगलिदियवज्जं
 जाव वेमाणिते, एव पुहुत्सेणवि । दारं ५ । संबए णं मंते ! जीवे किं आहा० अणा० १, गो० ! सिय आहारए सिय
 अणाहारए, एवं मणूसेयि, पुहुत्सेणं तियमगो । असंज्वते पुच्छा, सिय आहारए सिय अणाहारए, पुहुत्सेणं जीवेगिदियवज्जो
 तियमंगो । संजवतासंज्वते णं जीव० पचिदियतिरिबसुज्जोणिते मणूसे य ३ एते एगत्सेणवि पुहुत्सेणवि आहारगा नो अणा०,
 नोसंज्वतेनोअसवत्तेनोसंजवतासंज्वते जीवे सिद्धे य एते एगत्सेण पोहत्सेणवि नो आहा० अणा०, दारं ६ । सकसाई ण मंते !
 जीवे किं आहारए अणा० १, गो० ! सिध आ० सिय अणाहारते, एवं जाव वेमाणिता, पुहुत्सेण जीवेगिदियवज्जो तिय-
 मंगो, कोहकसाईसु जीवादीसु एवं चेष, नवरं देवेसु छम्भगा, माणकसाईसु मायाकसाईसु य देवनेरएसु छम्भगा, अवसे-
 सायं जीवेगिदियवज्जो तियमंगो, लोहकसाईसु नेरएसु छम्भगा, अवसेसेसु जीवेगिदियवज्जो विममंगो, अकसाई सहा णो
 सण्णीणोअसण्णी, दारं ७ ॥ (सूत्रं ३१०)

'संतेसे ण मंते ! जीये'इत्यादि, इद सामान्यतो जीवसुत्रमिब भावनीय, अत्रापि सिद्धसुत्र न षक्यं, सिद्धानामले-
 इत्यत्र, बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु च वृथिव्यादियु प्रत्येकमेक एव मङ्गस्यया—आहारका अपि
 अनाहारका अपि, उभयेयामपि सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्, द्वेषु तु नैरयिकादियु पदेसु तु प्रत्येक मङ्गत्रिक,
 तपया—सर्वेऽपि तावन्नेपुराहारकाः १, अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च २, अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च

३, अमीषां च भाषणा प्राग्वत्, तथा घाह—'जीवेर्गिरियवच्चो त्रियसंगो' इति, 'पव'मित्यादि, एवं यथा सामान्यतः संलेश्यद्यत्रमुक्तं तथा कृष्यलेश्याविषयमपि नीलेश्याविषयमपि कापोतलेश्याविषयमपि सूत्र दशकस्य, सर्वत्र सामान्यतो जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकममङ्गक, शेषपक्षे मङ्गत्रिक, तेजोलेश्याविषयमपि सूत्रमेकत्वे प्राग्वत्, यदुत्वे द्युयिन्यष्यनस्पतितु पद मङ्गाः, तेतु कथं तेजोलेश्यासम्भष इति चेत् १, उच्यते, भवनपतिभ्यन्तरज्योतिष्क-सौचर्मज्ञानवेदानां तेजोलेश्यावतां तत्रोत्पादभावात्, उक्त वात्या एय मगबस्ताः प्रज्ञापनाथाब्धुर्णो—'जेनेतेसु भवण-वदवाणमतर्जोइसियसोहम्मीसाणया देवा उवयज्वति तेण तेउलेस्सा लम्भइ" इति, ते पद मङ्गा इमे—सर्वे आ-हारकाः १ अथवा सर्वे अनाहारकाः २ अथवा आहारकभानाहारकश्च ३ अथवा आहारकश्च अनाहारकाश्च ४ अय-या आहारकाश्च अनाहारकश्च ५ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च ६, श्रेयाणा जीवपदादारम्य सर्वत्रापि मङ्गत्रिकं, तथा घाह—'तेउलेस्साए पुढविआउवणस्सइकाइयाण छम्भगा, सेसाणं जीपाईजो त्रियसंगो' इति, आह—'किं सर्वेपामयिद्वेषेण जीवपदावारम्य मङ्गत्रिकमुत केयांविदत आह—'जेसिं अरिय तेउलेसा' इति, येपामसि तेजोले-स्या तेपामेय मङ्गत्रिक वक्तव्य, न श्रेयाणां, एतेन किमावेदित भवति १, नैरयिकविषयं तेजोयायुविषय द्वित्रिचतुरि-

१ श्रीहरिमङ्गलविरचिषिण प्रज्ञापनाप्रदेशम्याख्यारूपैवेयं नत्वस्या काचिपूर्णिः, अस्ति च चत्रायं पाठः सममः, स्पष्टं च भाषकपर्यमप-
 न्याद्यक्युतौ औपपत्तिकापानसुप्राज्ञानो नूर्येभाव इति प्रसिपादन्तम् ।

न्द्रियविषय च तेजोलेश्यासुत्रं न पक्कम्यमिति, तथा पप्रलेश्या शुक्लेश्या च येषां सम्ममति तद्विषयं तयोः सूत्र
 पक्कम्य, तत्र पप्रलेश्या शुक्लेश्या च तिर्यक्पक्षेत्रिणेषु मनुष्येषु वैमानिकेषु च लभ्यते न श्रेयेष्विति तयोः प्रत्येक
 घत्वारि पदानि, तद्यथा—सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पक्षेत्रियपद मनुष्यपद वैमानिकपद च, सर्वत्राप्येकवचनचि-
 न्तार्यां स्यादाहारकः स्वादनाहारक इति भङ्गः, षडुवचनचिन्ताया भङ्गत्रिक, तद्यथा—सर्वेऽपि तावद् भवेपुराहार-
 काः ? अथवा आहारकाम् अनाहारकम् ? अथवा आहारकामानाहारकाम् ? तथा चाह—‘यम्बुलेसाय सुक्कले-
 साय जीवाइवो तियमगो’षि, अलेश्या—लेश्यातीतास्त्रे धायोगिकेबलिनः सिद्धाम्, ततोऽत्र त्रीणि पदानि, तद्यथा—
 सामान्यतो जीवपद मनुष्याः सिद्धाम्, सर्वत्राप्येकवचनेन षडुवचनेन चानाहारका एव षकम्भाः, एतदेवाह—‘अ-
 लेस्वा जीवा मनुस्वा सिद्धा य एगक्षेप्पधि पुडुक्षेणयि नो आहारगा अणाहारगा’ इति, गत लेश्याधारम् । सम्प्रति
 सम्यग्दृष्टिधारम्—सम्यग्दृष्टिक्षेदोपक्षमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन धायोपक्षमिकसम्यक्त्वेन वेदकसम्यक्त्वे-
 न धायिकसम्यक्त्वेन वा प्रतिपत्तम्यः, सामान्यत उपादानात्, तथैवाग्रे भङ्गचिन्ताया अपि करिव्यमाणात्वात्,
 तत्रोपक्षमिकसम्यग्दृष्ट्यादयः सुप्रतीताः, वेदकसम्यग्दृष्टिः पुनः धायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्यन् चरमप्राप्तमनुभवज्ञवसेवः,
 एकत्वे सर्वेष्वपि जीवादिपदेषु प्रत्येकमेव भङ्गः स्वादाहारकः स्वादनाहारक इति, नवरमत्र पृथिव्यादिविषयं सूत्रं न
 पक्कम्य, तेषां सम्यग्दृष्टित्वाभोगात्, ‘उमयामाभो पुडुबाइप्पु’ [उमयामाभः पृथ्व्यादियु] इति षचनाद्, षडुवचन-

विषय सूत्र, सामान्यतो जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपि इत्येव एव मन्त्रः, उभयेपामपि सदा सम्यग्गृही-
 नां षडुत्वेन लभ्यमानत्वात्, नैरयिकमदनपतितिर्यक्पथेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रत्येक मन्त्रत्रिकं,
 तद्यथा—कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव ? कदाचिदाहारका एकस्मानाहारकः ? कदाचिदाहारकान् अनाहारकान् ३,
 द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु पुनः षट् मन्त्राः, ते च प्राग्बद्ध मावनीयाः, द्विन्द्रियादीनां च सम्यग्दृष्टित्वमपर्याप्तायस्यासम्मवि-
 सास्वावनसम्यक्प्रपेक्षया प्रष्टव्य, सिद्धास्त्वनाहारकाः, एतेषां धायिकसम्यक्त्वयुक्तरथात्, तथा घाह—‘येइदियते-
 इंदियचउरिंदियसु छम्भगा, सिद्धा अणाहारागा, अवसेसाण तियमगो’ मिथ्यादृष्टिव्वपि एकवचने सर्वत्र स्यादाहा-
 रकः स्यादनाहारक इति पक्कम्, षडुवचने जीवपदे षुषिभ्याविपरेषु च प्रत्येकमाहारका अपि अनाहारका अपी-
 ति, उभयेपामपि सर्वदेव तेषु षडुत्वेन लभ्यमानत्वेन, शेषेषु तु सर्वेषु स्थानेषु मन्त्रत्रिकं, सिद्धसूत्रं घात्र न वक्तव्यं,
 सिद्धानां मिथ्यात्थापयमान्, एतदेवाह—‘मिच्छादिद्वीष्टु जीयेगिंदियज्जो तियमगो, सम्मामिच्छिद्वी ण मते ! जीवे’
 इत्यादि प्रभसूत्रं सुगम, मगयानाह—गौतम ! आहारको नो अनाहारकः, कस्मादिति चेत्, उच्यते, इह ससारि-
 ज्ञामनाहारकस्य विप्रहगतौ, न च सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं विप्रहगताववाप्यते, कालकरणायोगात्, ‘सम्मामिच्छो न कुणइ
 काल’ [सम्यग्मिथ्यादृक् न करोति काल] इति वचनात्, तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्विप्रहगत्यमायतोऽनाहारकत्वाभावात्,
 एषे चतुर्विंशतिवर्णकक्रमेण सर्वत्रापि पक्कम्, नवरमेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्याः, तेषां सम्यग्मिथ्यादृष्टित्या-

सम्भयात्, एव बहुवचनेऽपि षक्य, तद्यथा—‘सम्भामिच्छद्दिही ष मंते ! जीवा किं आहारगा अजाहारगा ?,
गो० ! आहारगा नो अजाहारगा, सम्भामिच्छद्दिही ष मंते ! नैरया किं जा० मया० ?, गो० ! आहारगा नो
अजाहारगा, एवमेगिदियविगर्ह्णदियषच्चा जाव वेसाणिया’ इति । गत इष्टिहार, सम्प्रति संयतहार—सयतत्व ष
मनुष्याणामेव, तत्र द्वे पदे, तद्यथा—जीवपरं मनुष्यपरं ष, तत्र जीवपदे सूत्रमाह—‘सज्जप ष मंते ! जीवे’ इत्यादि
सुगम, नवरमनाहारकत्य केषलिसमुद्घातानस्यामयोगित्वायस्वार्थां ष वेदितव्यं, शेषकालमाहारकत्व, ‘एव मणू-
सेषि’ति एव मनुष्यविषये सूत्र षक्य, तद्यथा—‘सज्जप ष मंते ! मणूसे किं आहारए अजाहारए ?, गो० ! सिय
आहारए सिय अजाहारए’ मायनाऽनन्तरमेवोक्ता, ‘पुहुचेपं तियमगो’चि पृथक्त्वेन—बहुवचनेन जीवपदे मनुष्य-
पदे च प्रत्येक मन्त्रिक, तथैव—सर्वेऽपि तापद्भयेपुरोहारकाः, एव भक्तो यथा न कोऽपि केवलीं समुद्घातमयोगित्व
या प्रतिपन्नो मयति तदा वेदितव्यः, अथवा आहारकामानाहारकश्च, एव एकस्मिन् केवलनि समवहते नैलेधी वा
गते श्राम्यते, अथवा आहारकामानाहारकाश्च, एव बहुषु केषलियु समवहतेषु नैलेधीमतेषु वा लम्बते । असयतसुद्रे
एकवचने सर्वत्र स्यादाहारकः स्यादमाहारक इति षक्यं, बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादियु च पदेषु प्रत्येकमाहारका
अपि अजाहारका अपि इत्येव मन्त्रः, गोपेषु तु नैरयिकादियु स्थानेषु प्रत्येक मन्त्रिक, सयतासंयता—देशविरता, ते
च तिर्यङ्मप्येन्द्रिया मनुष्या वा न श्रेयाः, श्रेयाणां स्यात्त एव देशविरतिपरिणामाभावात् । एवं कैतेषां मन्त्रिणां

नि, तद्यथा—सामान्यतो जीवपद तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपद मनुष्यपदं च, एतेषु त्रिविधेषु स्थानेषु एकवचने बहुवचने च
आहारका भवन्ति, मयान्तरगतौ केचलिस्समुद्घाताद्यवस्थासु च देशधिरतिपरिणामामावात्, नोसयतो नोअसंयतो-
नोसयतासयताः, तद्यथा—जीवपद सिद्धपदं च, उभयप्राप्येकवचने बहुवचने चानाहारकत्वमेव
पक्षव्य, न त्याहारकस्य, सिद्धानामनाहारकत्वात् । गत सयतद्वार, कपायद्वार—‘सकसाई ष मते ! जीवे’ इत्यादि,
एकवचनविषयं सूत्रं सुगम, बहुवचने ‘जीवेर्गिदियवज्जो तियमगो’त्ति जीवपदे दृष्टिव्यावृत्तौ च पञ्चसु पदेषु प्रत्येक
आहारका अपि अनाहारका अपि षष्कस्य, उभयेयामपि सकपायाणां सदैव तेषु स्थानेषु यदुत्वेन लभ्यमानत्वात्,
शेषेषु तु स्थानेषु मङ्गत्रिक, ‘फोहकसाई एयं चेव’त्ति क्रोधकपाय्यपि एवमेव—सामान्यतः सकपायवदपसेपः, तत्रा-
पि जीवपदे दृष्टिव्यावृत्तौ चामङ्गक, शेषेषु तु स्थानेषु मङ्गत्रिकमिति भावः, किं सर्वेष्वपि शेषेषु स्थानेषु मङ्गत्रि-
कः?, नेत्याह—‘नवर ‘देवेषु छम्भगा’ देवा हि स्वभावत एव लोमवदुला भवन्ति न क्रोधादिवदुलाः, ततः क्रोधकपा
यिण एकादयोऽपि छम्भन्ते इति पदं मङ्गाः, तद्यथा—कदाचित् सर्वेऽप्याहारका एव क्रोधकपायिणः, एकस्यापि विप्र
हत्यापन्नस्यालभ्यमानत्वात्?, कदाचित्—सर्वेऽप्यनाहारकाः?, एकस्यापि क्रोधकपायिणः सत आहारकस्याप्राप्यमा-
नत्वात्, क्रोधोदयो हि मानापुदयविषिक्त एवेह विवक्ष्यते न मानापुदयसहितोऽपि, तेन क्रोधकपायिणः सतः कदा-
चित् आहारकस्य सर्वथाऽप्यभावः, तथा कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः? कदाचिदेक आहारको बहुवोऽनाहा-

रकाः ४, कदाचिद्वहव आहारका एकोऽनाहारकः ५, कदाचिद्वहव आहारकाः बहवश्चानाहारका इति ६, मानकपा
 यसूत्र मायाकपायसूत्र चैकवचने प्राग्वत्, बहुवचने विशेषमाह—‘माणकसार्धसु’ इत्यादि, मानकपायिषु मायाकपा
 यिषु बहुवचनेन चिन्त्यमानेषु देवेषु नैरयिकेषु च प्रत्येक पद् मङ्गाः, नैरयिका हि भवस्वमायतः क्रोधबहुलाः देवास्तु
 लोमबहुलास्ततो देवानां नैरयिकार्णां च मानकपायो मायाकपायश्च प्रथिरल इति प्रागुक्तप्रकारेण पद् मङ्गाः, जीव
 पदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकममङ्गकमाहारकाप्यामनाहारकायां च मानकपायिणां मायाकपायिणां च प्रत्येक सदैव
 तेषु २ स्थानेषु बहुवचनेन लभ्यमानत्वात्, श्रेषु तु स्थानेषु मङ्गात्रिकं, लोमकपायसूत्रमप्येकवचने तथैव, बहुवचने विशे
 पमाह—‘लोमकसार्धसु’ इत्यादि, लोमकपायिषु नैरयिकेषु पद् मङ्गास्त्रेयां लोमकपायस्यात्यत्वात्, श्रेषु तु जीविके
 न्द्रियवर्जेषु स्थानेष्वपि मङ्गात्रिकं, देवेष्वपि मङ्गात्रिकमिति माघः, तेषां लोमबहुलतया पद्ममङ्गसम्भवात्, जीव
 ज्वेकेन्द्रियेषु च प्राग्यदेव एव मङ्गाः, आहारका अव्यनाहारका अपि इति, ‘अकसार्धे जहा नोसण्णीणोवसण्णी’ति
 अकपायिणो यथा नोसञ्चिनोऽसञ्चिन उक्तास्तथा वक्तव्याः, किमुक्त भवति ?—अकपायिणोऽपि मनुष्याः सिद्धाश्च
 मनुष्या उपशान्तकपायादयो वेदितव्याः, अन्येषां सकपायित्वात्, तत एतेषामपि त्रीणि पदानि, तद्यथा—सामा
 न्यतो जीवपद मनुष्यपद सिद्धपद च, तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमेकवचने स्वादाहारकः स्वाद
 नाहारक इति वक्तव्य, सिद्धपदे त्वनाहारक एवेति, बहुवचने जीवपदे आहारका अपि जनाहारका भवीति, केषलि

नामाहारकाणां सिद्धानामनाहारकाणां सदैव बहुत्येन लभ्यमानत्वात्, मनुष्यपदे भङ्गत्रिक, सर्वेऽपि तावद् मये-
युराहारकाः १ अथवा आहारकाभ्यानाहारकम् २ अथवा आहारकाभ्यानाहारकाश्च ३ माषना च प्रागेधानेकशः
कृता, सिद्धपदे त्यनाहारक एव । गतं कपायद्वार, सम्प्रति ज्ञानद्वारम्, तत्र—

पाणी जहा सम्मरिद्धी, आमिणिवोदियभाणी सुयभाणी य वेदियेवेदियचउरिविपसु छम्भंगा, अवसेसेसु बीषादिओ
स्त्रियमंगो जेसि अत्थि, ओदियभाणी पंचिदियतिरिन्खजोपिया आहारगा णो अणाहारगा, अवसेसेसु बीषादिओ त्रियमंगो
जेसि अत्थि ओदिनाण, मणपअवनाणी जीवा मणसा य एगचेमवि पुहुत्तेणवि आहा० णो अणाहारगा, केवलनाणी जहा
नोसण्णीनोअसण्णी, दारं ७ । अण्णाणी मतिअणापी सुयअणापी बीवेगिदियवज्जो त्रियमंगो, विमंगनाणी पंचिदियति
रिखखजोपिया मणसा य आहारगा णो अणा०, अवसेसेसु जीवादिओ त्रियमंगो, दारं ८ । सजोगीसु जीवेगिदियवज्जो
त्रियमंगो, मणजोगी वज्जोगी जहा सम्मामिच्छरिद्धी, नवर वज्जोगो विगळिदियाणवि, कायओगीसु जीवेगिदियवज्जो
त्रियमंगो, अजोगी जीवमणूससिद्धा अणाहारगा, दारं ९ । सागाराणगारोषउत्तेसु बीवेगिदियवज्जो त्रियमंगो, सिद्धा अणा
हारगा, दार १० । सयेद जीवेगिदियवज्जो त्रियमंगो, इत्थिवेदपुरिसवेदेसु बीषादिओ त्रियमंगो, नपुसगवेदए य जीवेगि-
दियवज्जो त्रियमंगो, अवेदए जहा केवलनाणी, दारं ११ । सत्तरीरी जीवेगिदियवज्जो त्रियमंगो, ओरालियसरीरी जीवम-
णूसेसु त्रियमंगो, अवसेसा आहारगा नो अणाहारगा जेसि अत्थि ओरालियसरीरं, वेठवियसरीरी आहारगसरीरी य

आहारगा नो अणा० वेसि अस्थि, तेयकम्मसरीरी जीवेगिदियवज्जो तियमंगो, असरीरी जीवा सिद्धा य नो आहारगा
 अणा० दारं १२, आहारपल्लचीए पल्लचे सरीरपल्लचीए पल्लचे इदियपल्लचीए पल्लचे आपापाणपल्लचीए पल्लचए मासा
 मणपल्लचीए पल्लचते एवासु पंचसुयि पल्लचीसु भीवेसु मणसेसु य तियमंगो, अवसेसा आहारगा नो अणाहारगा,
 मासामणपल्लची पचिदियार्णं अवसेसार्णं नस्थि, आहारपल्लचीअपल्लचए णो आहारए अणा०, एगचेणधि पुहुचेणधि,
 सरीरपल्लचीअपल्लचए सिय आहारए सिय अणाहारए, उवरिष्ठियासु चउसु अपल्लचीसु नेरइयेवमणुसेसु छम्मंगा,
 अवसेसार्णं जीवेगिदियवज्जो तियमंगो, मासामणपल्लचएसु भीवेसु पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु य तियमंगो, नेरइयेदेव
 मणुएसु छम्मंगा, सबपदेसु एगसपोहचेणं जीवादिया दंबगा पुञ्जाए माणितवा जस्स जं अत्थि तस्स तं पुञ्चिच्छति
 जस्स जं णत्थि तस्स तं न पुञ्चिच्छति जाय मासामणपल्लचीअपल्लचएसु नेरइयेवमणुएसु छम्मंगा, सेसेसु तियमंगो
 (मूत्रं ३११) आहारपयस्स भित्तिओ उदेसो समत्तो ॥ अट्ठाधीसइम पयं समत्तं ॥ २८ ॥

'नाणी जहा सम्मदिट्ठि'त्ति ज्ञानी यथा प्राक् सम्यग्बुष्टिरुक्कथा यकूष्य , तथया—नाणी ण मते ! जीवे किं
 आहारए अणाहारए ? , गो० ! सिय आहारए सिय अणाहारए, नाणी ण मते ! नेरइए किं आहारए अणाहारए ? ,
 गो० ! सिय आ० सिय अणाहारए, एय एगिदियवज्ज जाव वेमाणिए, नाणी ण मते ! जीवा किं आहारगा अणाहार-
 गा ? , गो० ! आहारगाणि अणाहारगाणि, नाणी ण मते ! नेरइया किं आहारगा अणाहारगा ? , गो० ! सबेधि ताव

होञ् आहारगा १, अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य ३, एवं जाव यमियकु-
 मारा, पेशदियाण पुञ्छा, गो० । सबेवि ताव होञ् आहारगा य १ अहवा अणाहारगा य २ अहवा आहारए य
 अणाहारए य ३, अहवा आहारगे य अणाहारगा य ४, अहवा आहारगा य अणाहारगे य ५, अहवा आहारगा
 य अणाहारगा य ६, एव तेइदियचउरिदियावि माणितवा, अवसेसा जाव वेमाणिया जहा नेरइया, सिद्धाण
 पुञ्छा, गो० । अणाहारगा य' इति, आमिनिबोधिकञ्चानिसुत्रे चैकवचने प्राग्बवसेय, बहुवचने द्वि
 त्रिचतुरिन्द्रियेषु पद मज्ञा, अयशेषेषु तु जीवादिषु स्थानेषु एकेन्द्रियवर्जेषु मङ्गत्रिक, तचैषम्—'आमिनिबोधियना
 णी ण मते । जीवा किं आहारगा अणाहारगा १, गो० । सपेवि ताव होञ् आहारगा १ अहवा आहारगा य अणाहा
 रगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ३ इत्यादि, तथा चाह—'आमिनिबोधियनाणी सुयनाणी य पेशदियतेइ-
 दियचउरिदिपसु छग्भगा, अयसेसेसु जीवाओ तियमगो, असिं अत्थि' इति सुगम, नवर 'असिं अत्थि' येषां जीवा-
 नामामिनिबोधिकञ्चानिसुत्रे चैकवचने मङ्गत्रिक वक्तव्यं, न शेषेषु पृथिव्यादिस्थिति, अवधिज्ञानसूत्रमेकवचने तथैव,
 पशुवचनचिन्तायां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिफा आहारका एव न त्वनाहारका; कस्मादिति चेत्, उच्यते, इह पञ्चेन्द्रियति-
 रमामनाहारकत्व चिम्रहगतौ, न च तदानीं तेषां गुणप्रत्ययतोऽयधिसम्मवो, गुणानामेवासम्मवात्, नाप्यप्रतिपत्तिताव-
 धिर्देषो मनुष्यो वा तिर्यक्ष्जपथते, ततोऽवधिज्ञानिनः सतः पञ्चेन्द्रियतिरसोऽनाहारकत्वायोगः, शेषेषु तु स्थानेष्वेकेन्द्रिय-

धिकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येक मङ्गत्रिक, तदेवाह—‘ओहिनानी ण पधिदियतिरिक्खजोमिया माहारगा अवसेसेसु जीषारओ
 तियमगो जेसि अत्थि ओहिणाण’मिति, मनःपर्यायज्ञान मनुष्याणामेष, ततो द्वे पदे, तथया—जीषपद मनुष्यपद च,
 तमयत्रापि चैकपचने षडुपचने ष मनःपर्यायज्ञानिन् आहारका एष षक्तव्याः, न त्वनाहारकाः, यिग्रहगत्याद्यवस्यार्या
 मन पर्यायज्ञानासम्भयात्, केवलज्ञानी यथा प्राग् नोसञ्जीनीजसञ्जी लक्ष्म्या वक्तव्यः, किमुक्त मयति ?—केवलज्ञान-
 चिन्तायामपि त्रीणि पदानि, तथया—सामान्यतो जीवपद मनुष्यपद सिद्धपद च, तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्य-
 पदे चैकपचने सादाहारकः स्यादन्नाहारक इति षक्तव्य, सिद्धपदे त्वनाहारक इति, षडुपचने सामान्यतो जीवपदे
 आहारका अपि अनाहारका अपि, मनुष्यपदे मङ्गत्रिक, तथ प्रागेवोपदर्शित, सिद्धपदे त्वनाहारका अपि। अज्ञानिसुत्र
 मसज्ञानिसुत्र श्रुताज्ञानिसुत्र एकपचने प्रागिय, षडुपचनचिन्तार्या जीषपदे एकेन्द्रियेषु च पृथिव्यादिषु प्रत्येकमाहा-
 रका अनाहारका अपि इति षक्तव्य, द्वेषेषु तु मङ्गत्रिक, विमङ्गज्ञानिसुत्रमप्येकपचने तथैष, षडुपचनचिन्तार्या पञ्चे
 न्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्यामाहारका एष षक्तव्याः, न त्वनाहारकाः, विमङ्गज्ञानसहितस्य विग्रहगत्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रि-
 येषु मनुष्येषु धोत्पत्त्यसम्भयात्, अवशेषेषु स्थानेषु एकेन्द्रियधिकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येक मङ्गत्रिक। गतं ज्ञानद्वार, सम्प्रति
 योगद्वार—तत्र सामान्यतः सयोगिसुत्रमेकपचने तथैष, षडुपचने जीवपदेकेन्द्रियपदानि वर्जयित्वा द्वेषेषु स्थानेषु
 मङ्गत्रिक, जीषपदे पृथिव्यादिपदेषु च पुनः प्रत्येकमाहारका अपि अनाहारका अपि मङ्गः, तमयेषामपि सर्वेषु तेषु

स्थानेषु बहुतेन लभ्यमानत्वात् 'मणजोगी वइजोगी जहा सम्मामिच्छिद्विही य'चि मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च यथा
 प्राक् सम्यग्मिथ्यावृष्टय उक्तास्त्रया वक्तव्याः, एकवचने षडुवचने चाहारका एव वक्तव्या न त्वनाहारका इति भावः,
 नवरं 'वइजोगो चिगळिदियाणचि'चि नवरमिति—सम्यग्मिथ्यावृष्टिसुत्रादत्राय विशेषः, सम्यग्मिथ्यावृष्टित्व विकले-
 न्द्रियाणां नास्तीति तत्सूत्र तत्र नोक्त, वाग्योगः पुनर्विकलेन्द्रियाणामप्यस्तीति तत्सूत्रमपि वाग्योगे वक्तव्य, तथै-
 वम्—'मणजोगी ण मते ! जीवे किं आहारए अणाहारए !, गो० ! आहारए नो अणाहारए, एव एगिंदियधिगळि-
 दियधज्ज जाय वेमाणिए, एव पुहुत्तेणचि, वइजोगी णं मते ! किं आहा० अणा० !, गो० ! आहारए नो अणाहारए,
 एय एगिंदियधज्ज जाव वेमाणिए, एव पुहुत्तेणचि'चि, फाययोगिसूत्रमप्येकवचने बहुवचने ष सामान्यतः सयोगिसू-
 त्रमिय, भयोगिनो मनुष्याः सिद्धाश्च, तेनात्र त्रीणि पदानि, तद्यथा—जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदं च, त्रिव्यपि स्थाने
 व्जेकवचने षडुवचने षानाहारकत्वमेव । गत योगद्वारं, अधुनोपयोगद्वारमाह—तत्र साकारोपयोगसूत्रे अनाकारोप-
 योगसूत्रे ष प्रत्येकमेकवचने सर्वत्र स्वादाहारकः स्वादनाहारक इति वक्तव्य, सिद्धपदे त्वनाहारक इति, षडुवचने
 जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु चाहारका अपि अनाहारका अपि इति मङ्गः, शेषेषु मङ्गत्रिकं, सिद्धास्त्यनाहारका इति,
 सूत्रोच्छेद्यस्थयम्—'सागारोवउत्ते णं मते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?, गो० ! सिय आहारए सिय अणाहारए'
 इत्यादि । गत उपयोगद्वार, वेदद्वारे सामान्यत सधेदसूत्रमेकवचने स्वादाहारकः स्वादनाहारक इति, षडुवचने जीव

पदमेकेन्द्रियांश्च वर्जयित्वा श्लेषेषु स्यानेषु मङ्गत्रिक, जीषपदे एकेन्द्रियेषु च पुनः प्रत्येकममङ्गक, आहारका अनाहा-
 रका अपीति, स्त्रीष्वेवसूत्र पुरुषेष्वेवसूत्र च एकवचने तथैव, नवरमत्र नैरयिकैकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्ष्य्याः, तेषां
 नपुंसकत्वात्, बहुवचने जीषादिषु पदेषु प्रत्येक मङ्गत्रिक, नपुंसकधेदेऽपि सूत्रमेकवचने तथैव, नवरमत्र मवनपति-
 व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका न वक्ष्य्यास्त्रेषामनपुंसकत्वात्, बहुवचने जीषैकेन्द्रियवर्जेषु मङ्गत्रिक, जीषपदे एकेन्द्रिय-
 पदेषु च पृथिव्यादिषु पुनरमङ्गक प्रागुक्तस्वरूपमिति, अवेदो यथा केवली तथा एकवचने बहुवचने च वक्ष्य्यः,
 जीषपदे मनुष्यपदे च एकवचने सावनाहारक इति, बहुवचने जीषपदे आहारका अपि अनाहारका
 अपि, मनुष्येषु मङ्गत्रिक, सिद्धत्वेऽनाहारका इति वक्ष्य्यमिति मायः । गत वेदद्वारे, शरीरद्वारे सामान्यतः शरीरसूत्रे
 सर्वत्रैकवचने सावनाहारकः सावनाहारक इति, बहुवचने जीषपदे जीषेषु श्लेषेषु प्रत्येक मङ्गत्रिक, जीष-
 पदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकममङ्गक प्रागुक्तमिति, औदारिकशरीरसूत्रमेकवचने तथैव, नवरमत्र नैरयिकमवनपति-
 व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका न वक्ष्य्यास्त्रेषामौदारिकशरीरमाभात्, बहुवचने जीषपदे मनुष्यपदेषु च प्रत्येक मङ्ग-
 त्रिक, तद्यथा—सर्वेऽपि तापश्लेषेयुराहारकाः, एष मङ्गो यदा न कोऽपि केवली समुद्रघातगतोऽयोगी वा, अथवा आ-
 हारकाधानाहारकश्च, एष एकस्मिन् केवळिनि समुद्रघातगते अयोगिनि वा सति प्राप्यते, अथवा आहारकाभाना-
 हारकाश्च, एष मङ्गो बहुषु केवळिसमुद्रघातगतेषु अयोगिषु वा सत्स वेदयितव्याः. श्रेयास्त्वेकेन्द्रियवर्जिन्द्रियवर्जिभिरव-

घटुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया आहारका एव षक्य्याः, न त्वनाहारकाः, विग्रहगत्युत्तीर्णानामेयौदारिकशरीरसम्भवा-
 त्, वैक्रियबाहारकशरीरिणश्च सर्वेऽव्येकवचने षडुवचने चाहारका एव न त्वनाहारकाः, नवर येयां वैक्रियमाहारक
 या सम्भवति त एव षक्य्या नान्ये, तत्र वैक्रिय नैरयिकमवनपतिवायुकायिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योति-
 र्क्यमानिकेषु आहारक मनुष्यज्वेष, सूत्रोद्धेखमाय—'वेउद्वियसरीरे ण मते ! ज्रीषे किं आहारए अणाहारए ?,
 गोयमा ! आ० णो अणा०, वेउद्वियसरीरे ण मते ! गेरइए किं आहारए अणाहारए ?, गो० ! आ० नो अणा०'
 इत्यादि, तैजसफार्मणशरीरिसूत्रे वैक्यवचने सर्वत्र स्वादनाहारक इति, बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु
 स्थानेषु भद्रत्रिक, जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पुनरसङ्गक, अशरीरिणः—सिद्धास्तेन तत्र द्वे एव पदे, तद्यथा—जीयाः
 सिद्धाश्च, तत्र एकवचने बहुवचने षोभयप्राप्यनाहारका एव । गत शरीरद्वार, सम्प्रति पर्यासिद्धारम्—तत्रागमे पर्या-
 सयः पञ्च, मापामनःपर्यास्योरेकत्वेन विचक्षणात्, तथा चाहारकपर्यास्या पर्यासे शरीरपर्यास्या पर्यासे इन्द्रियपर्या-
 स्या पर्यासे प्राणायानपर्यास्या पर्यासे मापामनःपर्यास्या पर्यासे चिन्त्यमाने, अत्रैव सर्वसङ्कलनामाह—एतासु पञ्च-
 स्वपि पर्यासिषु समर्थितासु चिन्तमानास्त्विति श्रेयः प्रत्येकमेकवचने जीवपदे मनुष्यपदे च स्वादाहारकः स्वादना-
 हारक इति, शेषेषु तु स्थानेषु आहारक इति, बहुवचने 'जीवेषु मणुस्सेसु य तियमगो'सि जीवपदे मनुष्यपदे च
 भद्रत्रिक षक्य्य, तयौदारिकशरीरिसूत्रमिव भावनीय, अवशेषाः सर्वेऽव्याहारका षक्य्याः, नवर मापामनःपर्यासिः

पथेन्द्रियाणामेवेति तत्सूत्रे एकेन्द्रियकलेन्द्रिया न षष्कव्याः, किन्तु शेषाः, एतदेवाह—'मात्सानणपञ्चशी पञ्चिन्द्रि-
 याण अयसेसाञ्च नरिषु' इति, आहारपर्याप्त्यपर्याप्तकसूत्रे एकवचने सर्वत्राप्यनाहारको षष्कव्यो, नो आहारकाः,
 आहारपर्याप्त्याऽपर्याप्तौ विप्रद्वगतायेषु उच्यते, उपपातसेत्र प्राप्तस्य प्रथमसमय एषाहारपर्याप्ता पर्याप्तत्वभावाद्
 अन्यथा वसिन् समये आहारकत्वानुपपत्तेः, षडुवचने त्वनाहारका इति, शरीरपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे एकवचने सर्वत्र
 स्वादाहारकः स्वादनाहारक इति, तत्र विप्रद्वगतामनाहारक उपपातसेत्रप्राप्तसु शरीरपर्याप्तिसपरिसमाप्तिं यावदाहारक
 इति, एवमिन्द्रियपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे प्राणापानपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे मापाननःपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे च प्रत्येक एकवचने स्वादा-
 हारकः स्वादनाहारक इति षष्कम्, षडुवचने 'उचरिष्ठियासु' इत्यादि, उपरितनीषु शरीरापर्याप्तिसप्रसूतिसु घतससु
 अपर्याप्तिसु चित्समानासु प्रत्येकं नैरयिकेवमनुष्येषु षड् मज्ञा षष्कव्याः, तथा—कदाचित्सर्वेऽव्यनाहारका एव ?
 कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव ? कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः ? कदाचिदेक आहारको बहुयोऽनाहारकाः ?
 कदाचिद्वह आहारका एकमानाहारकाः ? ५ कदाचिद्वह आहारका बहुयमानाहारकाः ? ६, अवशेषाणां नैरयिकेवम
 नुष्यभ्यतिरिक्तान् जीयैकेन्द्रियपञ्चानां मन्त्रिक षष्कव्य, तथा—सर्वेऽपि तावन्मयेयुः आहारकाः ? अथवा आहा-
 रकम् अनाहारकम् ? अथवा आहारकाधानाहारकम् ? ३, जीवपदे एकेन्द्रियपपेषु च पुनः शरीरपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे
 इन्द्रियपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे प्राणापानपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे च प्रत्येकममन्त्रक आहारका अपि अनाहारका अपि, तमयेपामपि

च सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्, मापामनःपर्याप्त्यपर्याप्तकास्त्येकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न भवन्ति, किन्तु पञ्चेन्द्रिया
 एव, येषां हि मापामनःपर्याप्तिसम्भयोऽस्ति त एव तत्पर्याप्त्यपर्याप्तका प्रोच्यन्ते, न श्रेया इति, ततस्तत्सूत्रे षडुच्यते
 जीयपदे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकपदे च मङ्गत्रिक, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो हि सम्पूर्णिमाः सदैव बहवो लभ्यन्ते, ततो याव-
 दद्याप्यन्यो विग्रहगत्यापन्नः पञ्चेन्द्रियतिर्यग् न लभ्यते तावद् भवेयुराहारका इति १, एक-
 स्मिन् तस्मिन् विग्रहगत्यापन्ने लभ्यमाने द्वितीयो मङ्गः—आहारकाद्यानाहारकाद्येति २, यदा तु विग्रहगत्यापन्ना अपि
 बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयो मङ्गः—आहारकाद्यानाहारकाद्येति ३, जीयपदेऽपि मङ्गत्रिक एतदपेक्षया प्रत्येयं, नैर-
 यिकदेयमनुज्येषु प्रत्येक पद्व मङ्गाः, ते च प्रागेभोक्ताः, इह मन्व्यवादारम्य प्राय एकत्वेन बहुत्वेन च धैवित्त्येन
 सूत्राणि जीयाविदण्ठकक्रमेण नोक्तानि ततो मा मून्मन्वमतीना सम्मोह इति तद्विषयमतिदेशमाह—‘सद्यप्यसु
 एगचे’त्यादि, एते जीयादयो दण्ठकाः सर्वपदेषु—सर्वेष्वपि पदेषु एकत्वेन बहुत्वेन च पृच्छया उपलक्षणमेतद्विषयचनेन
 मणित्तव्याः, किं सर्वत्राप्यविशेषेण कर्त्तव्याः १, नेत्याह—‘जस्से’त्यादि, यस्य यदस्ति तस्य तत्पृच्छ्यते—तद्विषय सूत्र
 मण्यते, यस्य पुनः यन्नास्ति न तस्य तत्पृच्छ्यते—न तद्विषय तस्य सूत्र वक्तव्यमिति मायः, कियद्दूर यापदेव कर्त्तव्य-
 मिति शङ्कायां चरमदण्ठकपक्षव्यतासुपदिशति—‘जाय मासामणपञ्चशीप अपञ्चपपसु’ इत्यादि, माधितार्थे, इहा-
 धिठतार्थमावनार्थमिमाः पूर्वोच्यार्थप्रतिपादिता गायाः—‘सिद्धेर्गिरियसदिया जर्हि तु जीया अभगयं तत्य । सिद्धे-

गिदियपञ्चेहिं होइ जीवेहिं तियमंगो ॥१॥ असण्णीसु य नेरइय देवमणुएसु होति छब्भगा । पुढयिदगतकगजेसु य
 छब्भगा तेउडेसाए ॥ २ ॥ कोहे माणे माया छब्भगा सुरगणेसु सवेसु । माणे माया लोभे गेरइएहिंपि छब्भंगा ॥
 ॥ ३ ॥ आभिणिवोदियनाणे सुयनाणे खलु तहेव सम्मत्ते । छब्भगा खलु नियमा वियतियचठरिदिएसु भये ॥ ४ ॥
 उवरिवापज्जचीसु घउसु गेरइयेदयमणुएसु । छब्भगा खलु नियमा वजे पठमा उ अपज्जची ॥ ५ ॥ सण्णी वि-
 सुदडेसा सजय शिद्धिछ तिसु य नापेसु । धीपुरिसाण य वेदेवि छब्भग अवेय तियमगो ॥ ६ ॥ सम्मामिच्छामण-
 वइमणनाणे पाळपडियथिउधी । आहारसरीरमि य नियमा आहारया होति ॥ ७ ॥ ओहिंमि यिमंगमि य नियमा
 आहारया उ नायथा । पर्थिदिया तिरिच्छा मणुया पुण होति विष्भगे ॥ ८ ॥ ओरालसरीरंमि य पज्जचीणं च पच-
 सु तहेय । तियमगो जियमणुएसु होति आहारगा सेसा ॥ ९ ॥ णोमषअमषिय लेसा अजोगिणो तहय होति
 असरीरी । पढमाए अपज्जचीएँ ते उ नियमा अजाहारा ॥ १० ॥ सन्नासन्नपिठत्ता अवेय अकसाइणो य केवलि-
 णो । तियमग एकवयणे सिद्धाऽजाहारया होति ॥ ११ ॥ ” एताश्च सर्वा अपि गाथा लकार्यप्रतिपादकत्वाद् मा-
 धितार्था इति न भूयो मान्यन्ते ग्रन्थगौरवमयात्, नवर, ‘एकवयणे सिद्धाणाहारया होति’ इति ‘एकवयणे’ इत्यत्र तृती-
 यार्थे सप्तमी एकवचनेन एकार्थेनेति भावः, सर्वत्र सिद्धा अनाहारका भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ इति श्रीमलयगिरिविधि-
 ताया प्रज्ञापनाटीकायां आहारपदस्य द्वितीय उद्देशक परिसमाप्तः ॥२॥ समाप्तमष्टाविंशतितममाहारारम्भ पदम् ॥२८॥

तदेवमुक्तमष्टापिंशतितममाहाराख्यं पदं, साम्प्रतमेकोनत्रिंशत्तममारम्यते—अस्य घायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरपदे
 गतिपरिणामविशेष आहारपरिणाम उक्तः, इह तु ज्ञानपरिणामविशेषः उपयोगः प्रतिपाद्यते, तत्र घेदमादिसूपम्-
 कश्चिदे न मते ! उवओगे पं०, गो० ! दुविहे उवओगे य अणारोवओगे य, सागारोवओगे
 नं मते ! कतिविधे पं०, गो० ! अद्विधे पं०, तं०—आमिषिबोहियनाणसागारोवओगे सुयणाणसागारोवओगे ओहि-
 णाणसा० मणपअयनाणसा० केवल्लनाणसा० मतिअण्णाणसा० सुयअण्णाणसा० विमंगणाणसा० अण्णागारोवओगे वं मते !
 कतिविधे पं०, गो० ! चउविहे पं०, तं०—अचक्खुदंसणअण्णागारोवओगे अचक्खुदंसणअणा० ओद्धिदंसणअणागा०
 केवल्लदंसणअण्णागारोवओगे य । एवेल्लियाणं मते ! कतिविधे उवओगे पं०, गो० ! दुविधे उवओगे पं०, तं०—
 सागारोवओगे य अण्णागारोवओगे य, नेरइयाणं मते ! सागारोवओगे क्वविधे पं०, गो० ! छविधे पं०, तं०—मतिणा-
 णसागारोवओगे सुयणाणसा० ओहिणाणसा० मतिअण्णाणसा० सुयअण्णाणसा० विमंगणाणसा०, नेरइयाणं मते ! अण्णागारो
 वओगे कश्चिदे पं०, तं०, गो० ! तिविहे पं०—अचक्खुदंसण० ओद्धिदंसणअणा०, एवं जाव यणियक्खुमारानं ।
 पुढविक्काइयाणं पुच्छा, गो० ! दु० उवओगे पं०, तं०—सागारो० अण्णागारोव०, पुढवि० सागारोवओगे कतिविधे पं०, गो० !

दु० पं०, तं०—मतिअप्याण० सुपत्र०, पुढविका० अणागारोवओगे कतिविधे पं० ?, गो० ! एगे अचक्खुदंसणअणा
 गारोवओगे प०, एवं जाव वणफ्फइकाइयाप । पेइदिगणं पुञ्जा, गो० ! दुविधे उवओगे प०, तं०—सागारोवओगे अ
 णागारोवओगे य, वेइदियाप मंते ! सागारोवओगे कतिविधे पं० ?, गो० ! चउविधे पं०, तं०—आमिपि० सुय० मतिअ
 प्याण० सुतअप्याणसा०, पेइदियाप अणा० फ्फ० प० ?, गो० ! एगे अचक्खुदंसण० अणागारोवओगे, एवं तेइदिया
 णवि, चउरिदियाणवि एव धेव, नवरं अणागारोवओगे दुविधे प० तं०—चक्खुदंसणअणा० अचक्खुदंसणअणा० । पधि
 दियतिरिखजोगियाण जहा नेरइयाणं । मणुस्साणं जहा ओहिए उवओगे मणितं तदेव माणितवं । षाणमतजोतिसिय
 वेमाणियाप मंते !० जहा नेरइयाणं । जीवा णं मंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?, गो० ! सागारोवउत्तावि
 अणा०, से केणेट्ठेण मते ! एवं बुबइ जीवा सागारोवउत्तावि अणा० ?, गो० ! जेणं जीवा आमिपिनोहियणाप० सुय० ओ-
 दि० मण० केवल० मइअणापसुयअप्यामविमगणाणेवउत्ता ते णं जीवा सागारोवउत्ता, जे ण जीवा चक्खुदंसणअचक्खुदंसण-
 ओहिदंसणकेवलइसणोवउत्ता ते णं जीवा अणागारोवउत्ता, से तेणेट्ठेणं गो० ! एव बुबइ—जीवा सागारोवउत्तावि अणा
 गारो०, नेरइया णं मंते ! किं सागारोवउत्ता अणा० ?, गो० ! नेरइया सागारोवउत्तावि अणागा०, से केणेट्ठेणं मंते ! एवं
 बुबइति ?, गो० ! जे णं नेरइया आमिपिनोहियणाण सुय० ओदि० मतिअप्यापसुय० विमंगनाणेवउत्ता ते णं नेरइया सागा०,
 जे णं नेरइया चक्खुदंसणअचक्खुदंसणओदि० ते णं नेरइया अणागारोवउत्ता, से सेणेट्ठेणं गो० ! एवं बु० जाव सागारोव-
 उत्तावि अणागारोवउत्तावि, एवं चाय यणियइमारा । पुढविकइयाणं पुञ्जा, गो० ! तदेव जाव जे णं पुढवि० मतिअप्याणसुयम

ष्णाणोवउचा ते णं पुढवि० सागारोव०, वे णं पुढवि० अचक्खुदंसणोवउचा ते णं पुढ० अभागारोवउचा, से तेण्डेणं
 गो० ! एवं पु० जाप वणफ़्फ़काइया । वेइदियाणं भंते ! अट्टसहिंया त्थेव पुच्छा, गो० ! जाव वे णं वेइदिया आ
 भिण्णोहिंय० सुयणापमतिअण्णाणसुयअण्णाणोवउचा ते णं वेइदिया सागारोवउचा, वे णं वेइदिया अचक्खुदंसणोवउचा
 ते णं अण्णागा०, से तेण्डेण, गो० ! एष पु० एष जाव चउरिदिया, जपरं चक्खुदंसणं अम्महिंयं चउरिदियान्ति, पंचि
 दियतिरियखओणिया जहा नेरइया, मणूसा जहा बीषा, धाणसंतरओतिसियवेमाभिया जहा नेरइया (सुत्रं ३१२) एण्य
 वणाए मगनईए एगोणतीसइपं उवओमपयं समचं ॥ २९ ॥

'कइयिहे ण भंते ! उयओमे प०' कतिविधः—कतिप्रकारः, सूत्रे एकारो मागधभापालक्षणयद्वात्, णमिति
 वाप्यालङ्कृतौ, भदन्त !—परमकल्याणयोगिन् ! 'उपयोगः' उपयोजनमुपयोगः भावे घञ्, यद्वा उपयुज्यते—वस्तुप-
 रिच्छेऽ प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोग—'पुनासि घ' इति करणे घप्रत्ययो जीवस्य तस्वमृतौ व्या-
 पारः प्रश्नः—प्रतिपारितः ? , मगधानाह—'गोयमे'त्यादि, आकारः—प्रतिनियतोऽर्थग्रहणपरिणाम, 'आगारो अ
 पिसिंसी' इति पचनाह, सह आकारेण वर्धत इति साकारः स चासाधुपयोगश्च साकारोपयोगः, किमुक्त भवति ?—
 स्रधेत्ने अचेतने या यस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्यायमेव पञ्चु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगः साकार
 उच्यते इति, स च कालतः छप्रस्थानामन्तर्मुहूर्त्तं काल केचलिनामेकसामयिकः, तथा न विद्यते यथोक्तरूप आकारो

यत्र सोऽनाकारः स चासाद्युपयोगश्च अनाकारोपयोगः, यस्तु वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोप-
योगः स्क्रुधाधारोपयोगवदित्यर्थः, असावपि छद्मस्थानामान्तमुद्घुर्षिकः परमनाकारोपयोगकालात् साकारोपयोगका-
लः सद्ध्येयगुणः प्रतिपत्तन्यः, पर्यायपरिच्छेदकतया धिरकाललगनाव्, छद्मस्थाना तथास्वामान्यात्, केषुलिनां
त्यनाकारोऽप्युपयोग एकसामयिकः, चक्षुष्यौ स्वगतानेकमेदसुषुप्तौ, तत्र साकारोपयोगमेवानभिधित्सुरिवमाह—
‘सागारोपयोगे ण भते !’ इति, अर्थाभिमुखो नियतः—प्रतिनियतस्वरूपो घोषो—घोषविशेषो अभिनिषोघः अ-
भिनिषोघ एष आभिनिषोघिक, अभिनिषोघदृष्टश्च विनयादिपाठाम्युपगमात् ‘विनयादिभ्य’ इत्यनेन स्वार्थे इफण्
प्रत्ययः, ‘अतिवर्षन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्ग्यचनानी’तिवचनादत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्य-
त्र, अथवा अभिनिषुच्यतेऽस्मादस्मिन्येति अभिनिषोघः—तदाघरणकर्मक्षयोपश्रमस्त्वेन निर्दृष्टमाभिनिषोघिक तच्च
तज्ज्ञान च आभिनिषोघिकज्ञान, स च इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यदेवावस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिमासो बोधवि-
शेष इत्यर्थः, स चासौ साकारोपयोगश्च आभिनिषोघिकज्ञानसाकारोपयोगः, एष सर्वत्रापि समासः कर्षेभ्यः, तथा
प्रथमं ध्रुत—याभ्यवाचकमाधपुरस्सरीकारेण शब्दसस्पृष्टार्थग्रहणधेतुरुपलब्धिविशेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दवाच्य
जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतः समानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमि-
त्तोऽप्यगमविशेष इत्यर्थः, ध्रुत च तत् ज्ञान च ध्रुतज्ञान, ततो मयः साकारोपयोगश्चस्त्वेन चिच्छेपणसमासः तथाऽप्यज-

प्दोऽघःशुद्धार्थः, अय-अधो विस्तृत वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यर्थः, यद्वा अवधिः—मर्यादा रूपिव्येष
 त्रन्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञान घावधिज्ञान, तथा परिः—सर्वतो
 मापे अयनं अथ, 'शुदादिभ्योऽन्फा'वित्प्रधिकारे 'अकितौ ये'त्यकारप्रत्ययः, अवन गमनमिति पर्यायाः, परि
 अयः पर्येष, मनसि मनसो वा पर्येष मनःपर्येषः, सर्वतस्त्वपरिच्छेद इत्यर्थे, पाठान्तर पर्यय इति, तत्र पर्ययस्य
 पर्ययः, मायेऽल्यप्रत्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः, सर्वतस्त्वपरिच्छेद इत्यर्थः, स घासौ ज्ञान च मनःप
 र्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञान वा, अथवा मनःपर्यायेति पाठान्तरं, तत्र मनांसि पर्येति—सर्वात्मना परिच्छिनचि मनःप-
 र्याय, 'कर्मणोऽण्' मनःपर्यायं च तत् ज्ञान च मनःपर्यायज्ञान, यदिया मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया
 धर्मा वास्तवस्त्यालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तर, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञान मनापर्यायज्ञान, इव चार्द्धतृतीयक्षीपससु-
 द्रान्तर्धिसञ्चिमनोगतद्रव्यालम्बन, तथा केवल-एक मत्वादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्, 'नष्टमि ङ छाडमत्तिप नाने'
 [नष्टे तु छाडसिके ज्ञाने] इति षधनात् शुद्ध वा केवल तदाघरणमलकलङ्कविगमात् सकलं वा केवल प्रथमत
 प्यादेशपतदाघरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः असाधारणं वा केवलमनन्यसाधत्वात् अनन्त वा केवल ज्ञेयानन्तत्वात्,
 केवल च तत् ज्ञान च केवलज्ञान, तथा मतिशुतावधय एव यदा मिथ्यात्वकलुषिता मयन्ति तदा यथाक्रम मत्यज्ञा-
 नशुताज्ञानयिमज्ञानव्यपदेशात्मन्ते, उक्तं च—“आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्त”मिति, 'विमक्त' इति

विपरीतो मद्ग-परिच्छिप्रकारो यस्य तत् विमद्ग, तत्र तत् ज्ञान च विमद्गानं, सर्वत्रापि च साकारोपयोगश्चेन्न
 विशेषणसमासः । अनाकारोपयोगमेदानमिधित्सुराह-‘अणागारोवभोगे ष भते !’ इत्यादि, तत्र चक्षुपा-चक्षुरि-
 न्द्रीयेण दर्शन-रूपसामान्यग्रहणलक्षण चक्षुर्दर्शनं तत्र तत् अनाकारोपयोगः चक्षुर्दर्शनानाकारोपयोगः, अचक्षुपा-
 चक्षुर्दर्शनेन्द्रियमनोभिर्दर्शन-स्वस्वयिपये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनं, ततोऽनाकारोपयोगश्चेन्न विशेषणसमास, एव
 सुप्तरत्रापि, अपधियेय दर्शन-सामान्यग्रहणमवधिदर्शनं, केवलमेव सकलजगद्भाविसमस्तवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं
 दर्शनं फेरलदर्शनं, यद्य मनःपर्यायदर्शनमपि कस्मान्न भवति येन पञ्चमोऽनाकारोपयोगो न भवतीति चेत्?, उच्यते,
 मनःपर्यायविषय हि ज्ञान मनसः पर्यायानेव विधिकान् एतदुपजायते, पर्यायाम् विशेषाः, विशेषालम्बन च ज्ञानं
 ज्ञानमेव न दर्शनमिति मनःपर्यायदर्शनानामवस्तुदमाषाच्च पञ्चमानाकारोपयोगासम्भव इति । ‘एवं जीवाण’मित्यादि,
 एव निर्विशेषणोपयोगत् जीवानामस्युपयोगो द्विविधः प्रज्ञतो मणितव्यः, तत्रापि साकारोपयोगोऽष्टविधोऽनाका-
 रोपयोगश्चतुर्विध, एतदुक्तं भवति-यथा प्राक् जीवपदरहितस्युपयोगस्य सामान्यत उक्तं तथा जीवपदसहितमपि
 मणितव्यं, तद्यथा-‘जीवाण भते ! कतिपिचे उवभोगे प० ?, गो० ! दुषिचे उवभोगे प०, तः-सागारोवभोगे
 य अणागारोवभोगे य, जीवाण भते ! सागारोवभोगे कतिपिचे प० ?, गो० ! अदुषिचे प० तं’ इत्यादि, तदेष
 सामान्यतो जीवानामस्युपयोगश्चित्तः, सम्प्रति चतुर्विधत्तिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीनां चिन्तयन्नाह-‘नैरय्याण

मन्ते ।' इत्यादि, नैरपिका हि द्विविधा भवन्ति—सम्यग्दृष्टयो भिख्यावृष्टयश्च, अवधिरपि तेषां भवप्रत्ययोऽवश्यमुपजायते, 'भवप्रत्ययो नारकदेवाना' (तत्त्वा० ब० १ सू० २२) मिति वचनात्, तत्र सम्यग्दृष्टीनां मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधि-
 ज्ञानानि भिख्यादृष्टीनां मत्तज्ञानश्रुताज्ञानविभक्तज्ञानानीति सामान्यतो नैरपिकाणां पञ्चविधः साकारोपयोगः, अना-
 कारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा—बहुदर्शनं अचक्षुदर्शनमवधिदर्शनं च, एव च त्रिविधोऽप्यनाकारोपयोगः सम्यग्दृष्टी-
 भिख्यावृष्टीं चापिशेषेण प्रतिपत्तव्यः, उभयेषामप्यवधिदर्शनस्य सूत्रे प्रतिपादितत्वात्, एवमसुरकुमारादीनां कृन्तित-
 कुमारपर्यपसानानां भवनपतीनामप्यवधिदर्शनस्य, पृथिवीकाशिकानां साकारोपयोगो द्विविधस्तद्यथा—मत्तज्ञानश्रुताज्ञानं च,
 अनाकारोपयोग एकोऽवक्षुदर्शनरूपः, श्रेयोपयोगानां तेषामसम्भवात्, सम्यग्दर्शनदिलग्धिविधकलत्वात्, एवमस-
 ज्ञेयानुबनस्पतीनामपि वेदितव्यं, द्वीन्द्रियाणां साकारोपयोगश्चतुर्विधः, तद्यथा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं मत्तज्ञानं श्रुता-
 ज्ञानं, तत्रापर्णासापस्थार्यां केषांचित् सासादनमाधमासादयतां मतिज्ञानश्रुतज्ञाने श्रेयाणां तु मत्तज्ञानश्रुताज्ञाने, अना-
 कारोपयोगस्त्येकोऽवक्षुदर्शनरूपः, श्रेयोपयोगाणां तेषामसम्भवात्, एव त्रीन्द्रियाणामपि, चतुरिन्द्रियाणामप्येवं,
 नवरमनाकारोपयोगो द्विविधः बहुदर्शनमवक्षुदर्शनं च, पञ्चेन्द्रियतिरिक्तां साकारोपयोगः पञ्चिद्वयस्तद्यथा—मतिज्ञान-
 श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मत्तज्ञानं श्रुताज्ञानं विभक्तज्ञानं, अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा—बहुदर्शनं अचक्षुदर्शनं अवधिद-
 र्शनं च, अवधिविद्विक्त्वापि केषुचित्सेषु सम्भवात्, मनुष्याणां यथासम्भवमष्टावपि साकारोपयोगावत्यारोऽप्यनाकारो-

पयोगाः, मनुष्येषु सर्वज्ञानदर्शनलब्धिसम्भवात्, भ्यन्तरज्योतिष्कैवमानिका यथा नैरयिकाः, तदेव सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डक्रमेण च जीवानां उपयोगश्चिन्तितः, सम्प्रति मन्दमत्तिस्यष्टाषोढाय जीवा एव तत्तदुपयोगोपयुक्ताः सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डक्रमेण चिन्त्यन्ते—'जीवा णं मते !' इत्यादि सुगमम् । इति श्रीमलयगिरिधिरचितार्थां एकोनत्रिंशत्तममुपयोगास्य पद समाप्तं ॥ २९ ॥



अथ त्रिंशत्तम पश्यत्तास्य पद ॥ ३० ॥



तदेवमुक्तमेकोनत्रिंशत्तम पद, सम्प्रति त्रिंशत्तममाप्रन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरपदे ज्ञानपरिणामविशेष उपयोगोऽभिहितः, इहापि ज्ञानपरिणामविशेषे उपयोगे पश्यन्ता चिन्त्यते इति, तत्र चैवमादिसूत्रम्—

कतिविहानं मते ! पासण्या पण्णया !, गो० ! कुविहा पासण्या पं० तु०—सागारपासण्या अणगारपासण्या, सागारपासण्या णं मते ! कद्विहा पं० !, गो० ! छविहा पण्णया०—सुयणाप्या० ओरिप्पाप्या० मणपक्कमणाप्या० केवल्लमाप्या० सुयमण्णजसागारपा० विमंगणजसागारपासण्या, अणगारपासण्या अं मते ! कद्विहा पं० तु०—

वस्तुदंसनअणगारपा० ओह्रिदसणअणा० केवलदंसनअणा०, एवं जीवाणंपि, नेरइयाणं मंते ! कतिविहा पासणया पण्ण
 चा !, गो० ! इविहा पं०, सं०—सागारपासणया० अणागा०, नेरइयाणं मंते ! सागारपा० कइविहा पं० !, गो० ! षड-
 विहा पं०, सं०—सुयणाणपा०ओह्रिजाणया० सुअअण्णाणपा०विभंगणण०, नेरइयाणं मंते ! अणागारपा० कतिविहा पं० !,
 गो० ! इविहा, सं०—वस्तुदंसण० ओह्रिदं, एवं आव यणियक्कुमारा ! पुढविकाइयाणं मंते ! कतिविहा पासणया
 पं० !, गो० ! एगा सागारपा०, पुढविकाइयाणं मंते ! सागारपासणया कतिविहा पं० !, गो० ! एगा सुयअण्णसागा
 रपा० पं०, एवं आव वणप्फइकाइयाणं ! बेइदियाणं मंते ! कतिविहा पासणया पं० !, गो० ! एगा सागारपासणया पं०,
 बेइदियाणं मंते ! सागारपा० कइविहा पं० !, गो० ! दु० पं० सं०—सुयअण्णाणसागारपा० सुयअण्णाणसागारपा०, एवं
 वेइदियाणवि, षडरिदियाणं पुञ्जा, गो० ! दु० पं०, सं०—सागारपा० अणगारपा०, सागारपासणया अहा बेइदि
 याणं, षडरिदियाणं मंते ! अणागारपा० कइविहा पं० !, गो० ! एगा वस्तुदंसण० अणागारपा० पं०, मज्जसाण
 अहा जीवाणं, सेसा अहा नेरइया आव वेमाणियाणं ! जीवा णं मंते ! किं सागारपस्ती अणागारपस्ती !, गो० ! जीवा
 सागारपस्तीवि अणागारपस्तीवि, से केणट्ठेणं मंते ! एवं बु० जीवा सागार० अणागार० !, गो० ! अे णं जीवा सुवणाणी
 ओह्रिजाणी मणपज्जय० केवल० सुअअण्णाणी विभंगणाणी ते णं जीवा सागारपस्ती, अे णं जीवा वस्तुदंसणी ओह्रिदंस-
 णी केवलदंसणी ते णं जीवा अणागारपस्ती, से एतेण्ठेणं गोयमा ! एवं बु०—जीवा सागारपस्तीवि अणागा०, नेरइया
 णं मंते ! किं सागारपस्ती अणागा०, गो० ! एवं वेध, नवरं सागारपासणयाए मणपज्जवणाणी केवलनाणी न बुधदि,

अणागारपास्रणपाए कवलद्रस्रण नरुथि, एव ज्ञाव अणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुञ्जा, गो० । पुढविकाइया सागारप स्त्री ङो अण्णागारपस्त्री, स केण्णहेण भंते ! एवं पु०—गो० । पुढविकाइयाणं एगा सुयअण्णाणसागारपास्रणया पं०, से ते० गो० ।, एय ज्ञाव वणस्सत्तिकाइयाणं, नेइंदियाण पुञ्जा, गो० । सागारपस्त्री ङो अणा०, से केण्णहेणं भंते ! एवं बुधत्ति !, गो० । नेइंदियाण दुविहा सागारपास्रणया पं०, स०—सुयणाणसागारया० सुअयण्णाणसागारया०, से एएण्णहेणं गो० । एवं पु०, एवं तेइंदियाणधि, चउरिंदियाण पुञ्छा, गो० । चउरिंदिया सागारपस्त्रीयि अणागारपस्त्रीधि, से केण्णहेणं० ।, गो० । जे ण चउरिंदिया सुयमापी सुयअधाणी ते ण चउरिंदिया सागारपस्त्री, जे णं चउरिंदिया चक्खुदसणी ते णं चउरिंदिया अणागारपस्त्री, से एएण्णहेण गो० । एव पु०, मपूसा जहा जीवा, अवेसेसा जहा नेरया ज्ञाव वेमागिया (मूत्र ३१३)

‘कत्तिचिधा णं भंते’ इत्यादि, कत्तिचिधा—कत्तिप्रकारा, णमिति वाक्यालङ्कारे, भवन्त ! ‘पासणय’त्ति ‘इशिर प्रेयणे’ पस्यतीति ‘सति वानिता’मिति भतृद्रप्रत्ययः कर्त्तर्यनवादेशः, ‘पाम्माप्मास्याम्माद्राणुइयपरिच्यौत्तिक्खुधि- पुत्रदसद पिभजिमघमत्तिप्रमनपच्छपइयच्छंइक्खुधित्रीयसीद’मिति इथेः पन्थादेशः, पन्थतो मावः पस्यसा, ‘मावे तत्तया’मिति तत्प्रत्यय, ‘आद्राप्’ सैष पाम्मणेयेत्सुच्यते, एय च पासणयागुच्चो रुत्तिवयात् साकारानाकारबोधप्र- तिपादकः उपयोगाच्छयत्, तथा बोपयोगणिये प्रभोक्तरत्त्रे इमे—‘कइचिदे ण भंते ! उयभोगे पण्णचे ?, गोपमा ।

दुषिहे पण्णचे, त०—‘सागारोषओगे ष अणागारोषओगे य’ पश्यत्ताथिययेऽपि प्रसोत्तरखेत्रे इमे—‘कश्चिदा षं मते !
पासणया पण्णचा ? गो०। दुषिहा प०, तं०—सामारपासणया अणागारपासण्या’ इति, ननु तुल्ये साकारानाकारभे-
दत्वे कोऽनयोः प्रतिषिद्धेपो येन पृथगुच्यते !, उच्यते, साकारानाकारभेदगताधान्तरभेदसङ्ख्यारूपः, तथाहि—पञ्च
ज्ञानानि त्रीप्यज्ञानानीत्यष्टविधः साकार उपयोगः, साकारपश्यत्ता तु पद्धविधा, मतिज्ञानमत्यज्ञानयोः पश्यत्तयोः
अनम्युपगमात्, कस्मादिति चेत्, उच्यते, इह पश्यत्ता नाम पश्यतो भाष उच्यते, पश्यतो भावश्च ‘दक्षिण प्रेक्षणे’
इति षचनान्, प्रेक्षणमिह रूढियथात् साकारपश्यत्तायां चिन्त्यमानायां प्रदीर्घकाल अनाकारपश्यत्तायां चिन्त्यमाना
यां प्रकृष्ट परिस्फुटरूपमीक्षणमवसेय, तथा च सति येन ज्ञानेन त्रैकालिकः परिच्छेदो भवति तदेव ज्ञान प्रदीर्घका
लविययत्तात् साकारपश्यत्ताश्चदान्य न श्लेष, मतिज्ञानमत्यज्ञाने तु उत्पन्नाविनष्टार्थप्राहके साम्प्रतकालवियये, तथा
च मतिज्ञानमधिकृत्यान्यत्रोक्तम्—‘जमषगगाहाविरूपपुष्पवत्युगाहग जोए । इदियमनोनिमित्त च तमाभिनि-
पोधिग वेति ॥१॥” [यदयप्रहारविरूप प्रत्युत्पन्नवस्तुप्राहक लोके । इन्द्रियमनोनिमित्त च तदाभिनिबोधिक ह्यवते
॥ १ ॥] तत् द्वे अपि साकारपश्यत्ता शब्दवाच्ये न भयतः, युतज्ञानादीनि तु त्रिकालविययाणि, तथाहि—युतज्ञा-
नेन अतीता अपि माया ज्ञायन्ते अनागता अपि, उक्त च—“जं पुण त्रिकालवियसव आगमगयाणुसारि यिज्ञाणं ।
इदियमनोनिमित्त सुयनाण त जिजा वेति ॥ १ ॥” [यत् पुनस्त्रिकालवियय आगमग्रन्थानुसारि विज्ञानम् । इन्द्रि-

यमनोनिमित्तं श्रुतज्ञानं तत् जिनां श्रुयते ॥१॥] अथधिज्ञानमपि सङ्गतीता उत्सर्पिण्यथसर्पिणीः अतीताः परि-
च्छिन्नं चि भाषिनीषु, मनपर्यायज्ञानमपि पत्योपमासङ्ख्येयमागमतीतं जानाति भाषिनं च, केषुलं सकलकाल-
विषयं सुप्रतीतं, श्रुतज्ञानविभक्तज्ञाने अपि त्रिकाण्डविषये, ताभ्यामपि यथार्योगमतीतानागतभाषपरिच्छेदात्, ततः
ज्ञानानि साकारपदसाम्यं चान्वयानि, उपयोगस्तु यत्राकारो यथोदितस्वरूपः परिस्फुरति स बोधो वर्तमानकालवि-
षयो वा यदि भवति त्रिकाण्डको वा तत्र सर्वत्रापि प्रवर्तत इति साकारोपयोगोऽष्टविधः । तथा चक्षुर्वर्धनमचक्षुर्वर्धन-
मथधिदर्शनं केवलदर्शनमिति षट्षिषोऽनाकारोपयोगः, अनाकारपश्यता तु त्रिविधा, अचक्षुर्वर्धनस्थानाकारपश्य-
ताद्यदयान्वयत्पामायात्, कस्मादिति चेत्, उच्यते, उक्तमिदं पूर्वमनाकारपश्यतायां चिन्त्यमानायां प्रकृतं परिस्फु-
टरूपमीक्षणमवसेवमिति, तत्राचक्षुर्वर्धने परिस्फुटरूपमीक्षणं न विद्यते, न हि अक्षुषेण श्रेयेन्द्रियमनोभिः परिस्फुट-
मीक्षते प्रमाता, ततोऽचक्षुर्वर्धनस्थानाकारपश्यताश्चद्वयत्पामायात् त्रिविधाऽनाकारपश्यता, तत्रेव साकारमेवऽ-
नाकारमेदे ष प्रत्येकमथान्तरमेदे वैचित्र्यमावात्मदानुपयोगपश्यत्तयोः प्रतिविशेषः, एतमेव प्रतिविशेषं प्रतिपि-
पादयितुः प्रथमतः साकारानाकारमेदौ ततस्सद्गतावान्तरेमेवान् प्रतिपादयति—'गो० । इतिहा पं० तज्जहा-
सागारपास्रणया अणागारपास्रणया च, सागारपास्रणया च मते ! कतिबिदा प०' इत्यादि भाषितार्थम् । तत्रेवं सामा-
न्यतो जीवपदविशेषणरहिता पश्यत्तोक्ता, साम्प्रतं तामेव जीवपदविशेषितामभिधित्सुराह—'एवं जीवार्णवि' एव-

पूर्वोक्तप्रकारेण जीषानामपि—जीवपदविशेष्यसहितापि पश्यथा पृक्तव्या, सा शैवम्—'जीवाण मन्ते ! कतिविधा
 पासणया प०?, गो० ! बुविहा प०, तंजहा—सागारपासणया अणगारपासणया य, जीवाण मन्ते ! सागारपासणया
 कतिविधा प०' इत्यादि, तदेवं जीवात्तामपि सामान्यत उक्ता, सम्प्रति षट्शतित्तिदण्डकक्रमेण षट्ति—'नेरश्याण
 मन्ते !' इत्यादि, सुगमत्वात् उपयोगपदे प्रायो भावित्वात् अनन्तरोक्तभावनानुसारेण स्वय परिभाषनीय, तदेव सा
 मान्यतो विशेषतश्च जीषानां पश्यचोक्ता, सम्प्रति जीवानेव पश्यचाविशिष्टान् विचिन्तयिपुराह—'जीवा ण मन्ते !
 किं सागारपस्ती' इत्यादि, जीवाः—जीवनयुक्ताः प्राणधारिण इत्यर्थः, गमिति वाक्यालङ्कारे किमिति प्रश्ने साकार-
 पश्यता विद्यते येषां ते साकारपश्यन्ति, प्राकृतत्वात् साकारपस्ती इत्युक्तं, 'ममपञ्चवनाणी केवलनाणी न दुषार'
 इत्यादि, नैरधिकार्थां चारित्रप्रतिपत्तेरभासतो मनःपर्ययज्ञानकेषुलज्ञानकेषुलदर्शनानामभावात् ॥ इह किल लक्ष्मणानां
 साकारोऽनाकारभोपयोगः क्रमेणोपजायमानो घटते, सर्वकर्मकाणां ह्यन्यतरत्सोपयोगस्य वेलायामन्य-
 तरस्य कर्मणाऽऽद्युतत्वात् घटते एयोपयोग इति, केवली तु धातिषट्शतयथावद् भवति, ततः सञ्चयः—किं कीणज्ञा-
 नाद्यणदर्शनवापरणत्वात् यस्मिन्नेव समये रत्नप्रभादिकं जानाति तस्मिन्नेव समये पश्यति उच जीषस्वामाभ्यात्
 क्रमेणेति ?, ततः पृच्छति—

केवली ष मन्ते ! इमं रणण्यमं पुढवि आगारोहि हेवहि उवमाहि विहंतेहि षण्णेहि संठाणेहि पमाणेहि पञ्चोयारोहि जं समयं

जाणति तं समयं पासइ अं समयं पासइ तं समयं जाणइ !, गो० ! नो तिण्णहे समहे, से केण्णहेणं मते ! एवं बुधति केवली
 णं इमं रयणप्यमं पुढविं आगारेहिं० अं समयं जाणति नो तं समयं पासति अं समयं पा० नो तं समयं जा० !, गो० !
 सागारे से पाप्पे भवति अणागारे से दंसणे भवति, से वेण्णहेणं जाव जो तं समयं जाणाति एवं जाव अहे सत्तमं । एव
 सोहम्मकप्पं जाव अनुयं, गेविल्लगविमाणा अणुचरविमाणा, ईसीपग्गमारं पुढवी, परमाणुं योगलं दुपदेसियं खंघं जाव
 अणंतपदेसियं खंघं, केवली णं मते ! इमं रयणप्यमं पुढविं अणागारेहिं अहेत्तहिं अणुवमाहिं अदिट्ठेहिं अवण्णेहिं असं
 ठापेहिं अपमाणेहिं अपढोयोरेहिं पासति न जाणति !, इंता ! गो० ! केवली णं इमं रयणप्यमं पुढविं अणागारेहिं जाव
 पासति न जाणति, से केण्णहेणं मते ! एव बु० केवली इमं रयणप्यमं पुढविं अणागारेहिं जाव पासति ण जाणति, गो० !
 अणागारे से दंसणे भवति सागारे से नाणे भवति, से ते० गो० ! एवं बुधइ-केवली णं इमं रयणप्यमं पुढविं अणागारे-
 हिं जाव पासति ण जाणति, एव जाव ईस्सिप्यमारं पुढविं परमाणुं योगलं अणतपदेसियं खंघं पासति न जाणति ॥
 (मूत्रं ३१४) पासणयापयं समच्चं ॥ ३० ॥

'केवली ण मते !' इत्यादि, केवल ज्ञान दर्शन चात्साक्षीति केवली णमिति वाक्यालङ्कृतौ मन्त !—परमक-
 ल्याणयोगिन् । 'इमां' प्रत्यक्षत उपलभ्यमानां रत्नप्रमाभिर्वा पृथिवी 'आगारेहिं'ति आकारभेदा यथा इय रत्नप्रमा-
 पृथिवी त्रिकाण्डा खरकाण्डपङ्ककाण्डमपूकाण्डभेदात्, खरकाण्डमयि पौण्ड्रभेदं तद्यथा-प्रथम योजनसहस्रमाज

रत्नकाण्ड तदनन्तर योजनसहस्रप्रमाणमेव यत्रकाण्ड तस्याप्यधो योजनसहस्रमान वैदुर्यकाण्डमित्यादि, 'हेकहि' ति
 हेतयः—उपपत्तया, ताभेमाः—केन कारणेन रत्नप्रमेत्यभिधीयते ?, उच्यते, यस्मादस्याः रत्नमय काण्ड तस्मात्
 रत्नप्रमा, रत्नानि प्रमा—स्वरूप यस्याः सा रत्नप्रमेति न्युत्पत्तेरिति, 'उवमाहि' इति उपमाभिः, 'माहू माने' अस्मा-
 दुपपूर्वात् उपमितं उपमा 'उपसर्गादात्' इत्यङ्प्रत्ययः, ताभेव—रत्नप्रमाया रत्नप्रमादीनि काण्डानि वर्णविभागेन
 कीदृशानि ?, पद्मरागेन्दुसदृशानि इत्यादि, 'दिदृतेहि' ति इष्टः अन्तः—परिच्छेदो विवक्षितसाध्यसाधनयो सम्बन्ध-
 स्थाविनामाथरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते इष्टान्तास्तेर्यथा घटाः स्वगतैर्धर्मैः पृथुबुभोदराथाकारादिरूपैरनुगतः परधर्मैर्म्यम्ब
 पटादिगतेभ्यो व्यतिरिक्त उपलभ्यते इति पटादिभ्यः पृथक् वस्त्वन्तर तयैवैपाऽपि रत्नप्रमा स्वगतभेदैरनुपक्ता शर्करा-
 प्रमादिभेदेभ्यश्च व्यतिरिक्तेति ताभ्यः पृथक् परत्यन्तरमित्यादि, 'वण्णेहि' ति शुक्लादियर्णविभागेन तेषामेव उत्कर्षा
 पकर्षसद्वेयासरूपेयानन्तगुणविभागेन च, वर्णप्रहणमुपलक्षण तेन गन्धरसस्पर्शविभागेन चेति द्रष्टव्य, 'सठाणेहि' ति
 यानि तस्यां रत्नप्रमायां भवननारकादीनां सत्त्वानानि, तद्यथा—'ते ण भवणा वाहिं घट्टा अतो चउरंसा अहे पुक्ख-
 रकणियासंठाणसठिया' तथा 'ते ण नरया अतो घट्टा वाहिं चउरसा अहे सुरप्पसठाणसठिया' इत्यादि, तथा
 'पमाणेहि' ति प्रमाणानि, 'अहे'त्यादि परिमाणानि, यथा 'असीउत्तरजोयणसयसहस्सवाइहा रञ्जुप्यमाणमेत्ता आ
 यामयिक्खमेण'मित्यादि, 'पढोयारेहि' ति प्रति—सर्वतः सामस्येन अवतीर्यते—ध्याप्यते भेस्से प्रत्यवताराः, ते घात्र

पनोदध्यादियलया वदितया, ते हि सर्वासु विष्णु विविधु धेर्मां रत्नप्रमां परिधिष्य म्यवस्थितास्तैः, 'जं समय'मिति
 'फालाध्यनोन्व्यासा'वित्वधिकरणभावेऽपि द्वितीया, ततोऽयमर्थः—यस्मिन् समये जानाति—आकारादिविधिष्टां परि-
 च्छिनत्ति 'त समय'ति तस्मिन् समये पश्यति—केवलदर्शनविषयीकरोति?, भगवानाह—'गौतम! नायमर्थः समयो,
 नायमर्थो युक्तयुपपन्न इति मायः, तत्त्वमजानानः पृच्छति—'से केणट्टेणं मते?' इत्यादि, 'से' इति अयमश्वदार्थे अथ
 फेनार्थेन—कारणेन मदन्त ! एय—पूर्वोक्तिन प्रकारेणोप्यते, तमेव प्रकार दर्शयति—'केवली ण'मित्यादि, भगवानाह—
 'गौतमे'त्यादि, अस्याय मावार्थः—'इह ज्ञानेन परिच्छिन्दन् जानातीत्युच्यते, दर्शनेन परिच्छिन्दन् पश्यतीति, ज्ञान
 च 'से' तस्य भगवतः साकारमन्यथा ज्ञानत्वायोगात्, विज्ञेयानभिरुपहानो हि बोधो ज्ञानं, 'सविज्ञेय पुनर्ज्ञान'मिति
 पचनात्, दर्शनमनाकार 'निर्विज्ञेयं विज्ञेयाणां, प्रबो दर्शनमुच्यते' इति वचनात्, तत्र ज्ञान च दर्शन च जीवत्स
 शुण्डश्री नोपजायते, यथा कतिपयेषु ज्ञानं कतिपयेषु प्रवेक्षेपु दर्शनं, तथास्वामान्यात्, किन्तु यदा ज्ञान
 तदा सामस्येन ज्ञानमेव यदा दर्शनं तदा सामस्येन दर्शनमेव, ज्ञानदर्शने च साकारानाकारतया परस्पर विरुद्धे,
 छायातपयोरियेतैतरामायनान्त्वरीयकत्वात्, ततो यस्मिन् समये जानाति तस्मिन् समये न पश्यति, यस्मिन् समये
 पश्यति तस्मिन् समये न जानाति, एतदेवाह—'से पण्णट्टेणं' इत्यादि, एतेन ब्रह्मवादीद्वादी सिद्धसेनविवाकरो
 मथा—'केवली भगवान् युगपत् जानाति पश्यति चे'ति, तदप्यपास्तमभगन्तव्यं जनेन सत्रेण साधात् पुच्छिपुं

ज्ञानवर्धनोपयोगस्य क्रमशो व्यवस्थापितत्वात्, एवं चर्कराप्रमावाष्टकप्रमाघूमप्रमातमः प्रमातमस्रमः प्रमासौ-
 घर्मेज्ञानसन्तुम्भारमाहेन्द्रप्रस्रलोककान्तफद्रुकसहस्रारानतप्राणतारणाश्रुतकल्पत्रैवेयकविमानानुत्तरविमानेपत्प्राग्मा-
 राभिघट्टयिपीपरमाणुपुद्रुठद्विप्रदेशिकस्कन्धपावदनन्तप्रदेशिकस्कन्धविपयाष्यपि सुत्राणि सावनीयानि, ननु यदि
 ज्ञानवर्धने साकारानाकारतया पुर्यगेव व्यवस्थापितविषये तत इदमायातं—यदा भगवान् केवली रत्नप्रमादिकमा-
 काराधभावेन परिच्छिनत्ति तदा स पश्यतीत्येवं यकम्ब्यो न जानातीति, सत्यमेतत् तथा चाह—‘केवली णं भते !
 इम रयणप्यम पुठर्वि अणागारेहिं अहेकहिं इत्यादि, प्रायो भावित्त्यात् सुगम ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितार्थां०
 त्रिंशत्तम पर्वं समाप्त ॥ ३० ॥

अथ एकत्रिंशत्तम सज्ञापारिणामपदं ॥ ३१ ॥

तदेयमुक्त पश्यत्ताऽऽख्यं त्रिंशत्तम पद, साम्प्रतमेकत्रिंशत्तममारभ्यते, अस्य धायमभिसम्बन्ध—इदानीन्तरपदे
 ज्ञानपरिणामविशेषः प्रतिपादितः, इह तु परिणामसाम्याद् गतिपरिणामविशेष एव सज्ञापारिणामः प्रतिपाद्यते, तत्र
 चेदमादिसूत्रम्—

जीवा णं मते ! किं सण्णी असण्णी नोसण्णीनोअसण्णी ? गो० ! जीवा सण्णीवि असण्णीवि नोसण्णीनोअसण्णीवि । नेरइयाणं पुच्छा, गो० ! नेरइया सण्णीवि असण्णीवि नो नोसण्णीनोअसण्णी, एवं असुरकुमारा ज्वाव धणियकुमारा, पुढविक्काइयाय पुच्छा, गो० ! नो सण्णी असण्णी, नो नोसण्णीनोअसण्णी, एवं येइदियेवेइदिबचठरिदियावि, मणुसा जहा जीवा, पंदिदियतिरिसखजोणिया धाणमसुरा ये जहा नेरइया, जोतिसिबवेमाणिया सण्णी नो असण्णी नो नोसण्णी नोअसण्णी, सिद्धाणं पुच्छा, गो० ! नो सण्णी नो असण्णी नोसण्णीनोअसण्णी, -नेरइयतिरियमणुया य वणायरगसुरा इ सण्णीअसण्णी य । पिंगलिदिया असण्णी जोतिसवेमाणिया सण्णी ॥२॥ (सुत्रं ३१५) पण्णवणाए सण्णीपयं समघं ॥३१॥

‘जीवा ण मते ! किं सण्णी’ इत्यादि, सज्जान सज्जा-‘उपसर्गादात्’ इत्यङ्प्रत्ययः मृतमवद्गाधिमावस्वमापपर्यालोच्यन सा पिपथे येषां ते सञ्चिन, विञ्चिट्सारणादिरूपमनोपिज्ञानमाज इत्यर्थः, ययोक्तमनोपिज्ञानविकला भसञ्चिनः, ते च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसम्मुखेन्द्रिया वेदितव्याः, अथवा सञ्जायते-सम्यक् परिच्छिद्यते पूर्वोपलब्धो वस्तुमानो भावी च पदार्थो यथा सा सञ्जा, भिदादिपाठान्मुपगमात् करणे घञ्, विञ्चिष्टा मनोवृत्तिरित्यर्थः, सा विद्यते येषां ते सञ्चिनः समनस्का इत्यर्थः, तद्विपरीता असञ्चिनोऽमनस्का इत्यर्थः, ते वैकेन्द्रियादय एवानन्तरोदिताः प्रतिपत्तव्याः, एकेन्द्रियाणां प्राय सर्वथा मनोवृत्तेरभावात्, द्वीन्द्रियादीनां तु विञ्चिष्टमनोवृत्तेरभावात्, ते हि द्वीन्द्रियादयो वार्त्तमानिकमेवार्थं शब्दादिक शब्दादिरूपतया सपिदन्ति, न मृत माधिन वेत्ति, केवली सिद्धधोमयप्रतिपेधवि-

पयः, केपली हि यद्यपि मनोद्रव्यसम्यग्भाक् तथापि न तैरसौ भूतमवद्भाषिभायस्वभावपर्यालोचन करोति, किन्तु
 धीणसकलज्ञानदर्शनावरणत्वात् पर्यालोचनमन्तरेणैव केवलज्ञानेन केवलदर्शनेन च साधात्समस्त ज्ञानाति पश्यति च,
 ततो न सञ्जी नाप्यसञ्जी, सकलकालकलापव्यथच्छिन्नसमस्तद्रव्यपर्यायप्रपञ्चसाक्षात्करणप्रथमज्ञानसमन्वितत्वात्,
 सिद्धोऽपि न सञ्जी, द्रव्यमनसोऽप्यभावात्, नाप्यसञ्जी सर्पज्ञत्वात्, तेषु सामान्यतो जीयपदे सञ्चिनोऽसञ्चिनो नो-
 सञ्चिनोअसञ्चिनश्च लभ्यन्ते इति, भगवान् तेषु प्रतिसमाधानमाह—‘गौतमे’त्यादि, जीवाः संञ्चिनोऽपि नैरयिका-
 दीनां सञ्चिनां भावाद्, असञ्चिनोऽपि पृथिव्यादीनामसञ्चिनां भावात्, नोसञ्चिनोअसञ्चिनोऽपि सिद्धकेवलिनो नो
 सञ्चिनोअसञ्चिनामपि भावात् । एतानेषु घटुर्विश्वत्तिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—‘नेरइया ण’मित्यादि, इह ये नैरयिकाः
 सञ्चिभ्य उत्पद्यन्ते ते सञ्चिनो व्ययत्रियन्ते इतरे त्वसञ्चिनः, न च नैरयिकाणां केवलिभावो घटते, चारिअप्रतिपत्तेर-
 भावात्, तत उक्त्वा नैरयिकाः सञ्चिनोऽप्यसञ्चिनोऽपि, नो नोसञ्चिनोअसञ्चिनः, पञ्चमसुरकुमारादयोऽपि स्वनि-
 तकुमारपर्यवसाना भयनपतयो वक्तव्याः, तेषामप्यसञ्चिनोऽप्युत्पादात् केवलित्वाभावात्, ‘मणूसा जहा जीव’सि
 मनुष्याः प्राक् यथा जीवा उक्तास्त्रया वक्तव्याः, सञ्चिनोऽपि असञ्चिनोऽपि नोसञ्चिनोअसञ्चिनोऽपि वक्तव्या इति
 भावः, तत्र ये गर्भभण्डुत्क्रान्तास्त्रे सञ्चिनः सम्मूर्च्छिता असञ्चिनः केवलिनो नोसञ्चिनोअसञ्चिनः, ‘पञ्चेन्द्रियतिरि-
 पञ्चजोणियवाणमतरा जहा नेरइया’ इति, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका व्यन्तराश्च यथा नैरयिका उक्तास्त्रया वक्तव्याः,

सञ्चिनोऽपि असञ्चिनोऽपि नो नोसञ्चिनोअसञ्चिन वक्तव्या इति भावः, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्पग्योनिकाः सम्मूर्च्छिमाः असञ्चिनः गर्भभ्युत्क्रान्ताः सञ्चिनः, म्यन्तरा असञ्चिम्य उत्पन्ना असञ्चिनः संञ्चिनः, उत्पन्नाः सञ्चिनः, सञ्चिनोऽपि सञ्चिनोऽपि नो नोसञ्चिनोअसञ्चिनः, ज्योतिष्कवैमानिकाः सञ्चिन एष, नो असञ्चिनः, असञ्चिम्य उत्पन्नाभाषात्, नो नोसञ्चिनोअसञ्चिनधारिप्रतिपत्तेरमाषात्, सिद्धास्तु प्रागुक्त्युक्तो नो सञ्चिनो नाप्यसञ्चिनः किन्तु नोसञ्चिनोअसञ्चिनः, अत्रैव सुखप्रतिपत्तये सङ्घट्टिणीगाथासाह—‘नेराय’ इत्यादि, नेरयिकाः ‘तिरिय’षि ति-
 र्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या वनधरा—व्यन्तरा असुरादयः—समस्त्रा मयनपतयः प्रत्येक सञ्चिनोऽसञ्चिनश्च वक्तव्याः, एत-
 धानन्तरमेव मायित, यिकलेन्द्रिया—एकद्वित्रिचतुरिन्द्रिया असञ्चिनो ज्योतिष्कवैमानिकाः सञ्चिन इति ॥ इति
 श्रीमलयगिरिविचितायां प्र० एकत्रिंशत्तम पद समाप्तम् ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशत्तम सयमयोगाख्यं पर्व ॥ ३२ ॥

तदेवमुक्तेमेकत्रिंशत्तम पद, अथुना द्वात्रिंशत्तम पदमारभ्यते, तस्य चायमभिसम्बन्धः—इदानीन्तरपदे संज्ञिपरिणा-

म उक्तः, इह तु चारित्रपरिणामविशेषः सयमः प्रतिपाद्यते, सयमो नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिश्चितिरूपः, तत्र
 धेवमादिसूत्रम्—

जीवा णं मते ! किं संज्ञया असंज्ञया संज्ञया २ नोसंज्ञानोअसंज्ञानोसंज्ञयासंज्ञया ? गो० ! जीवा संज्ञयावि ? असंज्ञया-
 वि २ संज्ञयासंज्ञयावि ३ नोसंज्ञानोअसंज्ञानोसंज्ञयासंज्ञयावि ४, नेरइया णं मते ! पुच्छा, गो० ! नेरइया नो संज्ञया असं-
 ज्ञया नोसंज्ञयासंज्ञया नो नोसंज्ञानोअसंज्ञानोसंज्ञयासंज्ञया, एवं आष चउरिदि, पश्चिदियतिरिक्खजोयियाणं पुच्छा,
 गो० ! पश्चिदियतिरिक्खजोयियाणं नो संज्ञया असंज्ञयावि संज्ञयासंज्ञयावि नो नोसंज्ञानोअसंज्ञानोसंज्ञयासंज्ञयावि, मणु-
 स्साणं पुच्छा, गो० ! मणुसा संज्ञयावि असंज्ञयावि संज्ञयासंज्ञयावि नो नोसंज्ञानोअसंज्ञानोसंज्ञयासंज्ञया, षाणमतर
 ओतिसियवेमायिया जहा नेरइया, सिद्धा णं पुच्छा, गो० ! सिद्धा नो संज्ञया ? नो असंज्ञया २ नो संज्ञयासंज्ञया ३
 नोसंज्ञानोअसंज्ञानोसंज्ञयासंज्ञया ४ ॥ गाहा “संज्ञयाअसंज्ञया मीसगा य जीवा तहेव मणुसा य । संज्ञतरहिंसा तिरिया
 सेसा असंज्ञया होति ॥ १ ॥” (सूत्रं ३१६) ॥ संज्ञयापयं समचं ॥ ३२ ॥

‘जीवा णं मते !’ इत्यादि, सयच्छन्ति अ—सर्वसाधयोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति अ अर्थात् निरवद्ययोगेणु चारित्र-
 परिणामस्फातिहेतुषु वर्चन्ते अ इति सयताः ‘गत्सर्यनित्याकर्मका’विति कर्त्तरि कप्रत्ययः, हिंसादिपापस्थाननिवृत्ता
 इत्यर्थः, तद्विपरीता असयताः, हिंसादीनां वेद्यतो निवृत्ताः सयतासयताः, त्रितयप्रतिषेधविषयाः सिद्धाः, कथमिति

धेत्, लुप्यते, लृक्मिह संयमो नाम निरवधेतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः, ततः सयतादिपर्यायो योगाश्रयः, सिद्धाश्र-
 भगयन्तो योगातीताः शरीरमनसोऽभाषादवस्त्रितयप्रतिषेधविषयाः, एव च सामान्यतो जीवपदे चतुष्टयमपि षट्पदे,
 तथा घाह—‘गोयमे’त्यादि, गौतम ! जीवाः सयता अपि साधूनां सयतत्वात्, असयता अपि नैरयिकादीनामसंयत-
 त्यात्, सयतासयता अपि पञ्चेन्द्रियतिरर्था मनुष्याणां च बेश्वत समयस्य माषात्, नोसयतनोजसयतनोसंयतासयता
 अपि सिद्धानां त्रयस्यापि प्रतिषेधात्, चतुर्थिद्यतिदण्डकक्षत्राणि सुगमानि, अत्रैव सद्ब्रह्मणिगापामाह—‘सयते’त्यादि,
 सयता असयता मिथकाश्र—सयतासयता जीवास्त्वपैव मनुष्याश्च, किमुक्तं सवति ?—जीवपदे मनुष्यपदे च एतानि
 प्रीण्यपि पदानि घटन्ते, ननु न घटन्ते इत्येवपरमेतत् सूत्र, अन्यथा जीवपदे त्रितयप्रतिषेधरूपं चतुर्थ्यमपि एव
 घटत एव, ययोक्तं प्राक्, तथा सयतरहिता उपलक्षणमेतत् त्रितयप्रतिषेधरहिताश्च तिर्यश्चः—तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः,
 आह—रूपं सयतपदरहितास्त्रिर्ब्रह्मैन्द्रियाः ?, यावता तेषामपि सयतत्वमुपपद्यते एव, तथाहि—सयतत्व नाम निर-
 वधेतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मक, ते च निरवधेतरयोगेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती तिरश्चामपि सम्भवतः, यत्तस्मिन्महाकालेऽपि चतु-
 र्बिधस्याप्याहारास्य प्रत्याख्यानं कृत्वा शुभेषु योगेषु वर्धमाना दृश्यन्ते, अन्यत्र सिद्धान्ते तत्र तत्र प्रदेशे महाप्रतान्यव्या-
 त्मन्यारोपयन्तः भूयन्ते, उक्तं च—“तिरियाणं चारिष निवारितं तद् य अह पुणो तेसिं । सुवव चतुयाण चिय मह-
 षयारोवण समप ॥१॥” [तिरिष्वां चारिष निवारितं तथा च पुनस्त्रेषां भूयसेऽप्य महाप्रतारोपणं चतुर्नां समये ॥१॥]

तदेतदुक्तं, सम्यग्पशुतत्वापरिज्ञानात्, सयतत्त्वमिह निरवधेतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपमान्तरचारित्रपरिणामानुपपन्न-
 मयगन्तव्यं, न श्रेय, न च तेषां कृतचतुर्विधाहास्रत्यास्थानानामपि महाप्रतान्यारोपवतां भवप्रत्ययादेव चरणपरि-
 णाम उपजायते, स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिफले मनुष्यमव एव, यदि पर कर्मक्षयोपशमाद् भवति, नान्यथा, अत एवा-
 यमतिदुर्लभो गीयते मगयद्भिः, अथ कथमवसीयते न तिरश्चा तथा चेष्टमानानामभ्यान्तरचारित्रपरिणामः?, उच्यते,
 केवलज्ञानाद्यध्रवणात्, यदि हि तिरश्चामपि चरणपरिणामस्त्वस्मयेत् तत् क्वचित् कदाचित् क्लृप्तिदुत्कर्षतो भाव-
 तो मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं वा श्रूयेत्, तयोश्चारित्रपरिणामनिबन्धनत्वात्, न च श्रूयते, तस्मादवसीयते—न तेषां
 चारित्रपरिणामः, उक्तं च—“न महद्ययसुष्मावेधि चरणपरिणामसमवो तेसिं । न घडुगुणार्णपि जवो केवलसभूर
 परिणामो ॥ १ ॥” [न महाप्रतसद्भावेऽपि चारित्रपरिणामसमवक्त्रेणाम् । न घडुगुणानामपि यतः केवलसभृत्तिप-
 रिणामः ॥१॥] तस्मात्तस्मात् सयमपदरहिताः, श्रेयाः संसारस्या असयता—असयतपदसहिता भवन्ति, न श्रेयपद-
 सहिताः ॥ इति श्रीमलयगिरिविर० प्रज्ञा० सयमपद द्वारिश्चतम समासम् ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशत्तम ज्ञानपरिणामाख्य पदं ॥ ३३ ॥

तदेवमुक्तं द्वात्रिंशत्तम पदं, सम्प्रति त्रयस्त्रिंशत्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इदानीन्तरपदे चारिप्रपरिणामयिज्ञेयः समयः प्रतिपादितः, इह तु ज्ञानपरिणामविधेयः स्वल्पयधिः प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याप्यधिपियमधिकारकारमाह—

भेदविमयसंज्ञाया अन्वितरपाहिरे य देसोरी । ओदित्स य सुयवुद्धी पठित्वाइं चेष अपठित्वाइं ॥ १ ॥ क्वचिद्वा णं भते !
ओरी पण्णसा १, गो० ! दुविदा ओरी पण्णसा, तं०—मवपण्णसा य सुओवसमिया य, दोण्हं मवपण्णसा, तं०—वेवा-
न य नेरइयाण य, दोण्हं सुओवसमिया, तं०—मण्णसाणं पंचिदियतिरिक्खल्लोणियाण य (सूत्रं ३१७)

‘भेययिसुये’त्यादि, यथेः—अयधिज्ञानस्य प्राग्गुणिरूपितशब्दार्थस्य प्रथमं भेदो यत्कथ्यः, ततो विषयसूदनन्तर मन्थानं—ययधिना घोतितस्य क्षेत्रस्य यत्प्रारूप आकारयिज्ञेयः सोऽवधिनिकन्धन इत्यवधेः सत्यानत्वेन व्यपदिश्यते, तथा द्वियिधोऽयधिर्यत्कथ्य, तद्यथा—अभ्यन्तरो वासथ, तत्र योऽवधिः सर्वासु यिधु सपोत्य क्षेत्र प्रकाशयति अयधिमता च सह सातत्सेन तत सपोत्य क्षेत्र सम्यद्ध सोऽभ्यन्तरावधिः, एतद्विपरीतो वासावधिः, स च द्विया,

तदथा-मन्तगतो मध्यगतश्च, अद्यान्तगत इति कः शब्दार्थः !, उच्यते, इह पूर्वाचार्यप्रवर्द्धितमर्थप्रय अन्ते-
 जात्मप्रदेशानां पर्यन्ते गतः-स्थितोऽन्तगतः, काऽत्र मायनेति चेत्, उच्यते, इहावधिरूप्यमानः कोऽपि स्वर्द्धकरु-
 पतयोत्पद्यते, स्वर्द्धक च नामापधिज्ञानप्रमाया गवाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रमाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविश्ले-
 ष, तथा चाह जिनभद्रगणित्वाद्यमणः स्वोपज्ञमाध्यटीकार्या-“स्वर्द्धकमवधिविच्छेदविश्लेष” इति, तानि च एकजी-
 वस्यासद्धेयानि संख्येयानि च भवन्ति, यत उक्त मूलावश्यप्रथमपीठिकायाम्-“फडा य असखेज्जा संखिज्जा यावि
 एगजीवस्स” इति, [स्पर्धकान्यसंख्येयानि संख्येयानि चापि एकजीवस्य] तानि च विधिप्ररूपाणि कानिचित्पर्यन्त
 वर्धिव्यात्मप्रदेशेपूतपद्यन्ते, तत्रापि कानिचित्पुरतः कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे कानि-
 चिन्मध्यवर्तिव्यात्मप्रदेशेष्वेव योऽवधिरुपजायते स आत्मनः पर्यन्ते स्थित इति कृत्या अन्तगत इत्यभिधीयते, तैरेव
 पर्यन्तवर्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवयोधात्, अथवा औदारिकशरीरस्थान्ते गतः-स्थितोऽन्तगतः, औदारिकशरीरम-
 धिष्ठ्य कदाचिदेकया विद्योपलम्भात्, इवमपि स्वर्द्धकरूपमवधिज्ञान, अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशम
 मायेऽपि औदारिकशरीरस्थान्ते कदाचिदेकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते सोऽप्यन्तगतः, आह-यदि सर्वेषामप्यात्मप्र-
 देशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति !, उच्यते, एकविशेष क्षयोपशमसम्भवात्, विचित्रो हि देशाद्यपेक्षया
 कर्मणां क्षयोपशमः, ततः सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानामित्यभूत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयोपशमः सद्ब्रह्मो यदौदारिक-

न्नीरमेपेस्य कयाचिद्विबधितया एरुया दिथा पश्यतीति, तथा चोक्तं नन्धच्ययनचूर्णौ—‘ओरालियसरीरते ठिय-
 गयति एगट्ट, त या अण्प्यपसफट्टगावहि एगधिसोपलमाओ अतगवमोरिनाण भन्नर, अइवा सध्वप्यपसेसु वि-
 मुद्धेसुयि ओरालियसरीरगतेण एगदिसि पासणा गयति अतगयति मण्णर’ इति, एप द्वितीयः, तृतीयः पुनरप—एग-
 दिग्माधिना तेनाबधिना यदुपोतित क्षेत्रे तस्मान्ते वर्येते अबधिषधिज्ञानवत्सुवन्ते वर्यमानत्वात्, ततोऽन्ते
 एकदिग्गतस्वाधिविपयस्य पर्यन्ते गत्—स्थितोऽन्तगत इति, अन्तगतस्वाधिविधिः त्रिधा, तद्यथा—पुरतोऽन्तगतः
 पृष्ठतोऽन्तगतः पार्श्वतोऽन्तगतः, तत्र यथा कश्चित्पुरुषो हस्तग्रहीतया दीपिकया पुरतः प्रेर्यमाणया पुरत एव पश्य
 ति, नान्यत्र, एव येनाधधिना तथापिधद्योपशमभावत् पुरत एव सङ्क्षेयान्यसङ्क्षेयानि वा योजनानि पश्यति ना-
 न्यत्र सोऽपधि पुरतोऽन्तगत इत्यभिधीयते, तथा स एव पुरुषो यथा पृष्ठतो हस्तेन त्रियमाणया दीपिकया पृष्ठत एव
 पश्यत्येव येनाधधिना पृष्ठत एव सङ्क्षेयान्यसङ्क्षेयानि वा योजनानि पश्यति स पृष्ठतोऽन्तगतो, येन तु पार्श्वत एक-
 तो ह्यस्या पां सङ्क्षेयान्यसङ्क्षेयानि वा योजनानि पश्यति स पार्श्वतोऽन्तगत इति, उक्तं च नन्धच्ययनचूर्णौ—“पुर-
 तोऽन्तगएण पुरतो चेव सङ्क्षेज्जाणि वा असङ्क्षेज्जाणि वा जोयणाइ जाणर पासर, मगतोऽन्तगएणं ओरिनायेण
 मगतो चेव’ इत्यादि, मज्जगत इत्यत्रापि त्रिधा ग्याख्यान, इह मज्ज प्रसिद्धं दण्णादिसम्यक्त्वं, तत्रात्मप्रदेशानां मज्जे-
 मज्जधर्चिंध्यात्मप्रदेशेषु गत्—स्थितो मज्जगतः, अयं च स्वर्देकरूपः सर्वदिगुपत्तन्मकारण, मज्जधर्चिंधिनामात्मप्रदे-

ज्ञानामपधिरयसेयः, अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकश्चरिरमभ्यभागेनोपलब्धिः स मध्ये
 गतो मध्यगतः, उक्तं च नन्द्यभ्ययनचूर्णौ—“ओरालियसरीरमज्झे फ़डगपिसुखीओ सवायप्पएसविमुदीओ वा सव-
 विसोयळमसुणओ मज्झगतोचि मण्णइ” इति, अथवा तेनायधिना यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वानु विष्णु तस्य मध्ये—मध्य-
 मागे स्थितो मध्यगतः, अपधिज्ञानिनस्सदुद्योतितक्षेत्रमभ्यवर्त्तिरथात्, आह च नदिचूर्णिफ़ुदेव—“अहवा उवलद्धि-
 खेचत्स अयधियुरिसो मज्झगतोचि भतो वा मज्झगतो ओधी मण्णइ” इति, इह व्याख्यानत्रयेऽपि यदाऽवधिना
 द्योतितं क्षेत्रमयधिमता सम्बद्धं भवति तदा सोऽस्यन्तरावधिर्भतः, सर्वदिगुपलब्धिक्षेत्रमभ्यवर्त्तिरथात्, एष चेह न
 प्राप्नोऽस्यन्तरावधावस्थान्तर्भायात्, यदा तु तदुद्योतितं क्षेत्रमपान्तराले व्यवच्छिन्नत्वाद्दवधिमता सम्बद्धं न भवति
 तदा वासोऽवधिः एष चेह प्रासः, प्रस्युतत्वात्, तथा ‘देशोधी’ इति देशावधिर्वक्तव्यः, उपलक्ष्यमेतत्, प्रतिपक्षमूलः
 सर्वावधिश्च, अप किंस्वरूपो देशावधिः किंस्वरूपो वा सर्वावधिरिति चेत्, उच्यते, इहावधिसिद्धिबोधो भवति, तद्य-
 या—सर्वजघन्यो मध्यमः सर्वोत्कृष्टश्च, तत्र यः सर्वजघन्यः स द्रव्यतोऽनन्तानि तैजसमापापान्तरालवर्त्तानि द्रव्याणि
 क्षेत्रतोऽहुतासद्भ्येयभाग क्षेत्र कालतोऽतीतमनागत चावल्लिकाया असद्भ्येयभाग, इहावधिः क्षेत्र फाल च स्वरूपतः
 साधान्न जानाति, तयोरमूर्त्तत्वात्, अवधेय रूपिषिपयत्वात् ‘रूपिव्यवधे’ (तत्त्वा—अ० १ सू० २८) इति वचनात्,
 इह क्षेत्रकालदर्शनमुपचारातो वेदितव्यं, किमुक्तं भवति ?—प्रतावति क्षेत्रे काले च यानि द्रव्याणि तानि जानातीति,

मायतोऽनन्तान् पर्यायान् जानाति, प्रतिद्रव्य अघन्यपदेऽपि चतुर्णां रूपरसगन्धस्पर्शरूपाणां पर्यायाणामयगमात्, 'दो पञ्चये इगुणिप सषजहण्णे च पिच्छप (ओही) । 'ते स यन्नार्थया चदरो' [द्वौ पर्यवौ द्विगुणितौ सर्वत्रघन्यौ तु त्रेधतेऽयधिः । ते तु वर्णादिकामत्याः] इति वचनात्, द्रव्याणां चानन्तत्वात्, अत ऊर्ध्वं तु त्रेधेयश्रुत्या सम-
 यश्या पर्यायश्रुत्या च प्रयर्द्धमानोऽयधिमन्मयो वेदितव्य, स च तावत् यापत्सर्वोत्कृष्टः परमावधिर्न भवति, सर्वोत्क-
 र्ष्ट परमावधिर्द्रव्यतः सर्वाणि रूपिद्रव्याणि जानाति, क्षेत्रतोऽल्लोके लोकमात्राणि खण्डानि, कालतोऽस्तीवानागता-
 मासश्रेयसा उत्सर्पिण्यसर्पिणीर्भावतोऽनन्तान् पर्यायान्, प्रतिद्रव्य सङ्घेयानामसङ्घेयानां च पर्यायामासवगमात्, 'एग दय पेच्छ सयमणु वा स पञ्चये तत्स । उक्कोसमसखिजे सखेजे पेच्छप कोर्णं ॥ १ ॥' [एक द्रव्य त्रेध्यमाणः
 स्तूत्रमणु वा स तस्य पर्ययान् । उत्कृष्टत सस्येयान् असस्येयान् त्रेधते कश्चित् ॥१॥] इति वचनात्, तत्र सर्वत्रघन्यो
 मस्यमस्य देनापधिः, सर्वोत्कृष्टस्तु परमावधिः सर्वावधिः । तयाऽयधे अयश्री वक्तव्ये, किमुक्त भवति १-हीयमान-
 क प्रयर्द्धमानकषायधिवर्षकन्य इति, तत्र तयायिधसामग्र्यमायत पर्यायस्यातो हानिसुपगच्छन् हीयमानकः, उक्त
 च—“हीयमाणप पुषायत्पातो अहोऽहो हस्समाण'ति, वर्द्धमानको बहुबहुतरे'घनप्रशेषादिभिर्वर्द्धमानज्वालाकलाप
 इव पूर्वापिस्तातो यथायोग प्रशस्तप्रशस्ततरास्यपसायमायतोऽभियर्द्धमान, तथा प्रतिपाती अत्रतिपाती चशब्दस्यानु-
 कार्यसमुषायकत्यादानुगामिफोऽनानुगामिकस्य वक्तव्यः, तत्र प्रतिपतनशील प्रतिपाती—य उत्पन्नः सन् षयोपश

मानुरूप कियत्काल स्थित्या प्रदीप इव सामस्त्येन विष्वंसमुपयाति, अथ हीयमानकप्रतिपातिनोः कः प्रतिविशेषः ? ,
 उच्यते, हीयमानकः पूर्वावस्थातोऽधोऽधो हानिसुपगच्छन्नभिधीयते प्रतिपाती तु निर्मूलमेककाल स्वसमुपगच्छन्नि
 ति, तथा न प्रतिपाती अत्रतिपाती, यत्केवलज्ञानाद्वा मरणावार्तो वा न ब्रह्ममुपयातीत्यर्थः, तथा गच्छन्त पुरुष
 आ-समन्ताद्नुगच्छतीत्येवंशीलमानुगामि आनुगाम्येवानुगामिकः, स्वार्थे कः प्रत्ययः, अथवा अनुगमः प्रयोजन यस्य
 स आनुगामिकः, लोचनयत् गच्छन्तमनुगच्छति सोऽवधिरानुगामिक इति मायः, तथा न आनुगामिकोऽजानु-
 गामिकः, शृङ्खलाप्रतिषद्धीप इव यो गच्छन्त पुरुषं नानुगच्छतीति भावः ॥ तद्वेधमधिकारप्रतिपादनाय द्वारगायोप-
 न्यस्त्रा, सम्प्रति 'ययोरेव निर्देष्ट' इति न्यायात् प्रथमतो भेदप्रतिपादनार्थमाह—'कश्चिद्वा ण भते !' इत्यादि, कति
 विधो भवन्त ! अथधि प्रज्ञप्तः, सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देष्टः प्राकृतत्वात्, भगवानाह—गौतम ! द्विविधोऽवधिः प्रज्ञप्तः, तद्य-
 या—'मयपश्यथा य खञ्जोवसमिया य' मधप्रत्ययकः क्षायोपश्रमिकश्च, तत्र मधन्ति कर्मवशवर्षिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति
 मधो—नारकादिजन्म, 'पुनास्त्री'ति अधिकरणे षप्रत्ययः, मय एव प्रत्यय—कारण यस्य स भवप्रत्ययः, प्रत्ययशब्द
 धेए कारणपर्यायः, वर्धते च प्रत्ययशब्दः कारणत्वे "प्रत्यय श्रपयज्ञानहेतुविश्वासनिश्चये" इति, स एव स्वार्थिक
 कप्रत्ययविधानात् मधप्रत्ययकः, तथाऽयधिज्ञानावर्णीयस्य कर्मण उदयावलिकाप्रथित्यांशस्य वेदनेन योऽपगमः
 स क्षयोऽनुदयावस्थस्य विपाकोदयविष्कम्भमसुपश्रमः क्षयश्च उपश्रमश्च क्षयोपश्रमौ ताम्ब्यां निर्युक्तः क्षायोपश्रमिकः,

चण्ड्यौ स्वगतानेकमेदसूचकौ, तत्र तु यो येषां भवति त तेयामुपदर्शयति—‘दोण्ड’मित्यादि, इयोर्जीषिसमूहयोर्भेष-
 प्रत्ययकः, तथया—देवानां च नारकाणां च, देवा भवनपतिम्यन्तरज्योतिष्क्यैमानिकमेदाषतुर्विधाः, नारका रत्नप्र-
 भादिपृथिवीभेदात् सप्तपिधा, चण्ड्यौ प्रत्येकं स्वगतानेकमेदसूचकौ, ते चानेकमेदा विषयसंस्थानचिन्तायामग्रे स्व-
 यमेव सूत्रछतैदोयदर्शयिष्यन्ते, आह—नन्यपधिविज्ञान ध्यायोपन्नमिक्के भावे वर्तते नारकादिभयस्त्वौवयिके तत्कर्ष देवा-
 दीनामवधिविज्ञानं भयप्रत्ययमिति व्यपदिश्यते ?, नैप दोयो, यतस्त्वदपि परमार्थतः ध्यायोपन्नमिक्केभेव, केवल स क्षयो-
 पद्यमो देयनारकमेव्यधश्यमावी पक्षिणां गगनगमनलघ्विरिव ततो भवप्रत्ययमिति व्यपदिश्यते, आह च नन्य
 व्ययनचूर्णिकृत्—“नणु ओही स्वर्गोषसमिधो चेव नारगादिभवो से तददप भावे तजो कद भयपयइजो मण्णइ ?,
 वप्यते, सोऽपि स्वमोपसमिधो चेव, किंतु सो स्वओषसमो देवनागरममेसु भवस्स मवइ, को विट्ठवो ?—पक्खीण
 आगासगमण य, तजो मवपयइजो मण्णइ’सि, तथा इयोः ध्यायोपन्नमिक्कस्यथा—मनुव्याथां च पक्खेन्त्रियतिरेग्यो-
 निजातानां च, जन्नापि चण्ड्यौ प्रत्येक स्वगतानेकमेदसूचकौ, मनुष्याणां तिर्यक्पक्खेन्त्रियतिरत्थां चावधिविज्ञान नाव-
 र्श्यमावि ततः सामान्येऽपि ध्यायोपन्नमिक्त्ये भवप्रत्ययादिद विद्यते, परमार्थतः पुनः सकलमप्यवधिविज्ञानं ध्यायोपन्न-
 मिक्केभेवेति । तदेपमुक्को भेदः, सम्प्रति विषयप्रतिपादनार्थमाह—

नेरइया षं भंते ! केवइयं खेपं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गो० । अह० खइगाठर्यं उक्को० वणारि माठयाइं ओहिणा

जायंति पासति, रयण्यमापुढविनेरया णं मंते ! केवतिपं खेचं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गो० ! ज० अट्टुट्टाई गाड
 याई उक्को० चत्तारि गाडयाई०, सक्करप्पमापुढविनेरया जह० तिष्णि गा० उक्को० अट्टुट्टाई गाड०, षालुयप्पमापुढविने
 रया ज० अट्टाईखाई गाड० उ० तिष्णि गाडयाई ओहिणा जाणंति पासंति, पकप्पमापुढविनेरया ज० वेष्णि गाड०
 उ० अट्टाईखाई गा० ओहिणा जा० पा०, धूमप्पमापु० नेर० जह० विवदं गा उक्को० दो गाड० ओहिणा जा० पा०,
 तमापु० ने० ज० गाडयं उ० दिवहुं गाडय ओहिणा जा० पा०, अघेसचमाए पुच्छा, गो० ! जह० अदं गाडयं उ०
 गाडयं ओहिणा जा० पा० । असुरकुमारा णं मंते ! ओहिणा केवइयं खेचं जा० पा० !, गो० ! ज० पणवीसं जोअणाई
 उक्को० असंखेले दीवसहरे ओहिणा जा० पा०, नागकुमारा षं ज० पणवीसं जोअणाई उ० संखेले दीवसहरे ओहिणा
 जा० पा०, एवं जाव यणिपकुमारा । पंधिदियतिरिद्धुखोअिया णं मंते ! केवइयं खेचं ओहिणा जाणंति पासंति ?,
 गो० ! ज० अंगुलस्स असंखेअतिभागं उ० असंखेले दीवसहरे, मपूसा णं मंते ! ओहिणा केवतिथ खेचं जा० पा० !,
 गो० ! ज० अंगुलस्स असंखेअतिभागं उक्को० असंखेजाई अलोए लोयप्पमाणनेपाई खंटाई ओहिणा जा० पा० ।
 वाणमंतरा अहा नागकुमारा, जोइसिया णं मंते ! केनतिथं खेचं ओ० जा० पा० !, गो० ! ज० संखेले दीवसहरे उक्को-
 सेणयि संखेले दीवसहरे, सोहम्मगदेवा ण मंते ! केव० खेचं ओ० जा० पा० !, गो० ! ज० अंगुलस्स असंखेअतिभाग
 उक्को० अरे जाव इमीसे रयण्यमाए विट्ठिष्ठे चरमंते तिरियं जाव असंखेले दीवसहरे उहुं जाव सगाई विमाणाई
 ओहिणा जाणंति पासंति, एवं ईसाणगदेवावि, सणकुमारदेवावि एवं चेष, नवरं जाव अरे दोषाए सक्करप्पमाए पुढपीए

द्विद्विष्टे धरमंते, एव माहिर्वदेवापि, समलोपसंलग्देवा स्याए पुठधीए दिद्विष्टे धरमंते, महासुक्ताहस्वारगदेवा षड्तीयए
 पंकप्यमाए पुठधीए देद्विष्टे धरमंते, आपयपाअयआरणशुपदेवा अरे आव पंचमाए धूमप्यमाए देद्विष्टे धरमंते, देद्विमम-
 ग्मिसमगेयेज्जगदेवा अघ जाव छद्दाए तमाए पुठधीए देद्विष्टे बाध धरमंते, उवरिमगेविष्णगदेवा णं मंते ! केवतिपं खेषं
 ओदिणा आ० पा० !, गो० ! व० अगुलस्स असंखेअतिमार्गं उ० अंधे सचमाए हे० च० तिरिमं जाव असंखेअे दीवससुरे
 उई जाव सयाइ विमाणाई ओ० जा० पा०, अपुत्तरोववाइयदेवा ष मंते ! के० खेषं ओ० जा० पा० !, गो० ! संमिअं
 सोगनालिं ओ० जा० पा० (सूत्र ३१८)

‘नेरइया ण’मित्सादि सुगम, नधर जघन्येनार्द्धगन्धूतमिति ससमशुधिय्यां जघन्यपदमेपेस्य, उत्कर्षतमत्वारि
 गन्धूतानि रत्नमायामुत्कृष्टपदमाहित्स्व, अपुना प्रतिशुधियीधिपयं चिन्तयन्नाह—‘रयणप्यमे’त्वादि, सुगम, जघन्य-
 पयोत्कृष्टपदयिपयसद्वादिफे इमे गाये—“अशुद्ध १-३॥ त्विच्चि २-३ अद्दाइयाइ ३-२॥ दोण्णि ४-२ य दिवह-
 ५-१॥ मेग च ६-१॥ मद्ध च गात ७-०॥ कमसो जहत्ततो रयणमार्षेसुं ॥ १ ॥ चसारि गात्थाइ १-४ अशु-
 द्दाइ २-३॥ तिगात्तयं ३-३ खेय । अद्दाइच्चा ४-२॥ दोण्णि ५-२ य दिवह ६-१॥ मेग ७-१ च नरएसु ॥
 ॥ २ ॥” मयनपतिच्यन्तराणां जघन्यपदे यानि पखर्विन्नतियोजनानि तानि येषां सर्वजघन्य दग्धर्षसहस्रप्रमाणमा-
 युलेषां द्रष्टव्यानि, न द्रेपाणां, आह ष मान्यकृत्—‘पणधीसजोयणाइ दसमाससहस्सिया ठिई जेसि’मिति, मनुष्य-

चिंतायासुदृष्टपदे यान्यलोके लोकप्रमाणमात्राणि सुष्ठानि असङ्ख्येयानि तानि परमावधिसपेक्ष्य द्रष्टव्यानि, तस्यै
 धैतावद्रूपयसम्भवात्, एतत्सामर्थ्यमात्रमुपवर्णयते, यद्येतावति क्षेत्रे द्रष्टव्य मयति तर्हि पश्यति यावता तन्न विद्यते,
 अलोके रूपिद्रव्याणामसम्भवात्, रूपिद्रव्यविषयभाषधिः, केषलभयं विज्ञेयो—यावदद्यापि परिपूर्णं लोक पश्यति
 तावदिह स्फुधानेय पश्यति, यदा पुनरलोकेऽपि प्रसरमवधिरधिरोहति तदा यथा यथाऽभिवृद्धिमासादयति तथा
 तथा लोके सूक्ष्मान् सूक्ष्मतरान् स्फुधान् पश्यति यावदन्ते परमाणुमपि, उक्तं च—“सामर्थ्यमेचमुचं ददृष्वं जइ
 ह्येच्च पेच्छेज्वा । न उ त तत्यत्पि जजो सो रूधिनियधणो मणिजो ॥ १ ॥ बहृतो पुण षाहिं लोगत्य चेव पासर्द
 दध । सुदुमयर सुदुमयर परमोही जाव परमाणु ॥ २ ॥” [सामर्थ्यमात्रमुक्त द्रष्टव्य यदि मयेत् प्रेक्षेत ननु
 तत्तत्रास्त्रि यतः स रूपिनियधनो मणितः ॥ १ ॥ वर्धमानः पुनर्वर्धिलोकस्यमेव पश्यति द्रव्य । सूक्ष्मतर सूक्ष्मतर
 परमावधिर्यावत् परमाणु ॥ २ ॥] इत्यमृतपरगावधिकलितम् नियमावन्तमुद्धर्त्तेन केषलालोकलक्ष्मीमालिङ्गति, यत्
 उक्तं—“परमोहीनाणविक केषलमतोमुदुचमेत्तेन” [परमावधिज्ञानविदः केषलमन्तमुद्धर्त्तमात्रेण] इति, वैमानि-
 फानां यज्वधन्यपदे अहुलासङ्ख्येयमागत्रमाण क्षेत्रं उक्त तत्र पर आह—नन्वहुलासङ्ख्येयमागमात्रक्षेत्रपरिमितोऽवधिः
 सर्वजधन्यो मयति, सर्वजधन्यभाषधिस्त्रिर्यगमनुष्येव्येव न शेपेपु, यत् आह माव्यकृत् सङ्कतटीकायाम्—“उत्कृष्टो म-
 नुष्येव्येव नान्येपु, मनुष्यतिर्यग्योनियेव जधन्यो नान्येपु, शेपाणां मध्यम एपेति” तत्कथमिह सर्वजधन्य उक्तः ? ,

उच्यते, सौचर्मादिदेवानां पारमथिकोऽप्युपपातकालेऽवधिः सम्भवति, स च कदाचित्सर्वेभ्यः सन्भवति, उपपातान-
 न्तर तु तद्भवत्, ततो न कश्चिद्दोषः, आह ष बुव्यमाद्यकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो जिनमद्रयमिष्यमात्रमणः—
 ‘वेमाणियाणमंगुलभागमसंख जहण्णव्वो होइ । उववाए परमथिवो तम्मवजो होइ तो पच्छा ॥ १ ॥’ उह्ठ जाव
 सगाइ विमाणाइ’ति कर्त्तव्यं वाक्यत् सकीरानि विमानानि, सकीरविमानस्तूपम्वज्जार्दिकं वापदित्यर्थः, ‘सन्निब्रं
 भोगनारि’ति परिपूर्णं चतुर्दशस्वात्मिकां लोकनाडीमिति । संस्थानधारमाह—

नेरयाणं भंते ! ओही किंसीए पं० १, गो० ! तप्यागारसंठीए पं०, असुरकुमारणं पुच्छा, गो० ! पछगसंठीए, एवं जाव
 यथियकुमारणं, पंचिदियविरिषखबोणियाणं पुच्छा, गो० ! गागासंठाणसं०, एवं मणसाणपि, षाणमतराणं पुच्छा,
 गो० ! पच्छगसं०, ओतिसियाणं पुच्छा १, गो० ! म्छरिसंठाणसं० पं०, सोरम्मगदेवाणं पुच्छा, गो० ! उह्ठसुयंगगागार-
 संठीए पं०, एवं जाव अपुयदेवाणं, गेवज्जगदेवाणं पुच्छा, गो० ! पुक्कचंगेरिसंठीए पं०, अपुचरोववाइमाणं पुच्छा,
 गो० ! ज्वनालियासंठीए ओही, पं० । (सुत्रं ३१९) नेरयाणं भंते ! ओहिस्स किं अतो० वाहिं०, गो० । अतो नो
 वाहिं, एवं जाव यथियकुमारा, पंचिदियविरिषखबोणियाणं पुच्छा, गो० ! नो अतो वाहिं, मणसाणं पुच्छा, गो० !
 अतोवि वाहिंपि, षाणमंतरओइसियवेमाणियाणं खहा नेरयाणं भंते ! किं देसोही सबोही १, गो० ! देसोही
 नो सबोही, एव जाव यथियकुमारा, पंचिदियविरिषखबोणियाणं पुच्छा, गो० ! देसोही नो सबोही, मणसाणं पुच्छा,

गो० ! देखोहीवि सबोहीवि, बाणमंतरज्वोहसिपवेमाभियाणं जहा नेरइयाणं । नेरइयाणं भंते ! ओही किं आशुगामिते अणाशुगामिते वड्डमाण्ठे हीयमाणए पठिथारि अप्पठिथारि अणवट्ठिए १, गो० ! आशुगामिए नो अणाशुगामिए नो वड्डमाण्ठे नो हीयमाणए नो पठिथारि अप्पठिथारि अवट्ठिए नो अणवट्ठिए, एवं जाव यणियड्डमारणं, पंधिवियति रिमहज्जोभियाणं पुच्छा, गो० ! आशुगामितेवि जाव अणवट्ठिएवि, एवं मणूसाणवि, बाणमंतरज्वोहिसिपवेमाभियाणं जहा नेरइयाणं (दूरं ३१९) ॥ पप्पावणाए ओहिपदं समं ॥ ३३ ॥

‘नेरइयाणं’मित्यादि, ‘तप्पागारसंठिए’सि तत्रो नाम काष्ठसमुदायविशेषो यो नदीप्रवाहेण द्वाव्यमानो दूरा-
दानीयते स चायतक्यस्रमथति, तदाकारस्रस्थितोऽवधिर्नारकाणां, असुरकुमारादीनां सर्वेषामपि मथनपतीनां
पलकयस्थानसस्थितः, पल्लको नाम लाटवेद्ये धान्याधारविशेषः, स षोड्धाव आयत उपरि च किञ्चित्सङ्घिसः, पञ्चे-
न्त्रिपतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां च नानासस्थानसस्थितो, यया स्वयम्भूरमणोदधौ मत्स्याः, अपि च तत्र मत्स्थानां
पलयाकार सस्थान निपिद्ध तिर्यग्मनुष्याषबेस्तु तदपि मथति, उक्तं च—“नाणागारो तिरियमणुएसु मच्छा सय-
भूरमणेव । तत्प पलव निसिद्धं तस्स पुण तयपि होज्जाहि ॥ १ ॥” म्थन्तराणा पटइसस्थानसस्थितः, पटह आतो-
पविशेषः, स च किञ्चिदायत उपरमथम्य समप्रमाणः, ज्योतिक्खेवानां छळरीसस्थानसस्थितः, छळरी—चर्माधनद-
यिसीर्णपलयाकारा आतोपविशेषेरुपा देवविशेषे प्रसिद्धा, सौधमदेवादीनामण्युतदेवपर्यन्तानां मृदङ्गसस्थानसस्थितः,

मुदज्ञो वाद्यविद्येयः, स चाधस्तात् विस्तीर्णं उपरि च तनुकः सुप्रतीतः, शैवेयकदेवानां प्रथितपुष्पसञ्चिखाकरूपच-
 केरीसंस्थानसंस्वितः, अनुचरोपपातिकदेवानां कन्याचोलकापरपर्यायज्वनालकसस्थानसस्थितः, तथा च सप्राकारा-
 दीनां व्याख्यानमिदं भाष्यकृदाह—“तल्पेण समागारो तव्यागारो स धाययत्सो । उद्गायतो ऽ पक्षो ऽवर्षिं च स
 किंचि संस्थितो ॥ १ ॥ नवायतो समोप्रिय पृष्ठो देदोषरि परितो सो । चम्माणयणद्विच्छिन्नवलयरूपा ऽ श्लु-
 रिया ॥२॥ उद्गायथो मुशगो देहा रुधो तदोषरिं तणुओ । पुष्कसिहावलिरहया धगेरी पुष्कचगेरी ॥ ३ ॥ जवना-
 लवोत्ति मण्णइ उब्भ सिरकजुओ कुमारीए ॥” इति, अनेन च संस्थानप्रतिपादनेनेदभावेदित द्रष्टव्य, मवनपतिव्यन्त-
 राणामूर्ध्वं प्रभूतोऽनधिर्भमानिकानामधः ज्योतिष्कनारकाणां तिर्यङ्क विचित्रो नरतिरथा, आह च—“भवणवयवणय-
 राण उह वहुगो अहो य सेसाण । नारगजोइसिवाणं तिरिय ओरालिओ चित्तो ॥ १ ॥” तथा नैरयिकमवनपति-
 व्यन्तरज्योतिष्कैभमानिकाः तथाभवस्तामान्यादधधेर्भयवर्धिनो न युनर्बहिः, किमुक्क मयति ?—सर्वतःप्रकाश्विद्य-
 सम्बन्धायधयो भवन्ति, न तु स्पर्द्धकाधयो विच्छिन्नाधधयो वा, तिर्यङ्कपञ्चेन्द्रियास्त्यवधेरन्तर्न विद्यन्ते, किन्तु
 बहिः, अत्राप्येव भावार्थः—तिर्यङ्कपञ्चेन्द्रियास्तथासमाभ्यात् स्पर्द्धकाधयो विच्छिन्नापान्तरालसर्वतःप्रकाशयध-
 धयो वा भवन्ति, स्पर्द्धकाधधयो नेति भावः, देशावधिसर्वावधिचिन्तायां मनुव्यवर्जाः सर्वेऽपि देशावधयः, मनुव्यास्तु
 देशाधधयोऽपि भवन्ति सर्वाधधयोऽपि, परमाधधेरपि तेषां सम्मथात् । आनुगामिकाविधिन्तायां नैरयिकमवनपति-

मन्तरज्योतिष्कैमानिका आनुगामिकाप्रतिपात्यबस्थिताषषयो नत्वनानुगामिकवर्द्धमानशीयमानप्रतिपात्यनवस्थि
 तापपयस्त्रयामवस्थामाभ्यात्, तिर्यक्पक्षेत्रिभ्यमनुभ्याम् त्वष्टषाडषधिरिति ॥ इति श्रीमलयगिरि० प्रज्ञापनादी-
 कार्यां त्रयस्त्रिंशत्तमषष्ठ्याख्य पद समाप्तम् ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशत्तम प्रवीचारपरिणामाख्य पदं ॥ ३४ ॥

तद्वेषमुक्त श्रयस्त्रिंशत्तम पद, सम्प्रति चतुस्त्रिंशत्तममारभ्यते, अस्य चायमभिप्रायस्त्वर्थः—इहानन्तरपदे ज्ञानपरिणाम-
 विभेदोऽवधिकः, अत्र तु परिणामसाम्याद्देवपरिणामविशेषः प्रवीचारः प्रतिपाद्यते इति, तत्र च सकलवस्तुत्वतो-
 पसद्वादिफे इमे द्वे गार्थे—

अर्णवरगणहारे १, आहारे भोयथाइय २ । योगला नेव आर्षति ३, अक्षरसणार ४ य आदिचा ॥ १ ॥ सुम्मचस्ता-
 दिगमे ५ तपो परियारणा ६ य बोद्धवा । काए फाते त्वे सदे य मने य अप्पबुं ॥ २ ॥ नरइया ण मति ! अर्णव-
 राहारा ततो निवचन्ना ततो परियाइयया ततो परिणामया ततो पच्छा विवचयया ? इत्ता ! गो० !
 नेरइयाए अर्णवरहारा ततो निवचयया ततो परियाइयया ततो परिणामया ततो पच्छा विवचयया,
 अहुरकुमारा णं मति ! अणवरहारा ततो निवचयया ततो परियाइयया ततो परिणामया ततो विवचयया ततो पच्छा

परियारब्ध्या ? , ईत्वा ! गो० ! असुरकुमारा अणतराहारा ततो निबध्णया जाव ततो पच्छा परिया०, एवं जाव षण्णिय कुमारा, पुढच्चिकाइया णं मत्ते ! अणतराहारा ततो निबध्णया ततो परिआइयया ततो परिआमया ततो परिया० ततो विव० ? , ईत्वा ! गो० ! ए खेव जाव परियारणया नो खेव ष विउडणया, एव जाव चउरिइिया, नवरं षाउक्काइया पं- धिवियतिरिक्खुओणिया मणूसा य च्छा नेरइया, षाणमंतरज्जोइसियषेमाणिया च्छा असुरकुमारा (सूत्रं ३२०)

‘अणतरागयाहारे’ इत्यादि, प्रथममनन्तरागताहाराको नैरयिकादिर्विष्कम्ब्यः, तदनन्तर ‘आहारे मोयआइय’ इति माहाराभोगता आदिशुब्धायाहाराभोगता च षकम्ब्या, यथा ‘नेरयिकाण मत्ते ! आहारे किं आमोगनिबत्तिए रणाभोगनिबत्तिए’ इत्यादि, तथा ‘योगला नेव जाणति’ इति, नैरयिका आहारातया गृहीतान् पुद्गलान्नेव जानन्ती यादि षट्ठुविश्रतिवणकक्रमेण षकम्ब्य, ‘अज्जवसाया य आहिय’त्ति तदनन्तर नैरयिकादीनां क्रमेणाध्यवसानाने, सूत्रे पुच्छिन्ननिर्देशः प्राकृतत्वाद्, चः पूर्वापेक्षया समुषये, आख्यातानि, तदनन्तरं ‘सम्मत्तस्स अहिगमे’ इति, इम्यक्त्बस्याधिगमो नैरयिकादिषट्ठुविश्रतिवणकक्रमेण चिन्तनीयः, ‘तत्तो परियारणा य षोअवा’ इति ततः— इम्यक्त्ब्याधिगमप्रतिपादनावूर्ध्वं परिधारणा षकम्ब्यतया षोदम्ब्या, कम्मिन् विपये इत्याह—काये स्पर्शे रूपे शब्दे णसि ष, ततः कायप्रवीचारादीनामत्यधुत्त्व, मायप्रधानोऽय निर्देशः—अल्पषट्ठुत्वं षकम्ब्य । सम्प्रति ‘यपोदेश नि- श्रि’ इति प्रथमतोऽनन्तरागताहारक्कम्ब्यतामभिधित्सुरिवमाह—‘नेरइया ष मत्ते !’ इत्यादि, नैरयिका, णमिति

वास्यालङ्कारे, मदन्त !—परमसुख्याणयोगिन् ! परमसुखपोगिन् ! वा अनन्तर—उपपातक्षेत्रप्रतिस्वमयमेव आहा-
 रयन्तीत्सनन्तरागताहाराः, 'ततो निवचणया' इति ततः—अनन्तराहारप्रहणाधारभ्य क्रमेण शरीरस्येति गम्यते नि-
 र्घर्षना—निवृत्तिर्भवति, 'ततो परियाणयया' इति ततः—शरीरनिवृत्तेरारभ्य पर्यादान—यथायोगमङ्गप्रत्यङ्गैर्लोमा-
 हारादिना सम तत पुद्गलादान 'ततो परिणामणया' इति तत पुद्गलादानानन्तर तेषां पुद्गलानां परिणामन—
 इन्द्रियादिरूपतया परिणत्यापादन 'ततो परिवारणया' इति ततः—इन्द्रियादिरूपतया परिणत्यापादनापूर्व्यं परि-
 चारणा—यथायोगं शब्दादिपिपयीपमोगः, ततः पश्चात् विकुर्वणा—वैक्रियलब्धिबन्धात् विक्रिया नानारूपाः, एय-
 मुक्ते भगवानाह—'हता ! गोयमे'त्यादि, वन्तेत्यम्यनुज्ञार्थं, हता ! नैरयिका अनन्तराहारा इत्यादि, तदेव
 यथा नैरयिकाणामनन्तराहारादिवक्तव्यतोक्ता तथा भस्वरकुमारदीनामपि स्वनितकुमारपर्येषसानानां वक्तव्या, नवर
 तेषां पूर्वं विकुर्वण पश्चात् परिचाराणा, ते हि विशिष्टशब्दाद्युपमोगाश्चाख्यां पूर्वमिष्ट वैक्रिय रूप कुर्वन्ति पश्चात्
 शब्दाद्युपमोगमित्येव नियमः, शेषास्तु शब्दाद्युपमोगसम्पत्तौ सत्यां दर्पवशात् विशिष्टतरश्चब्दाद्युपमोगाश्चाख्यातः
 अन्यतो वा कुतश्चित्कारणात् विकुर्वन्ते, ततस्तेषां पूर्वं प्रयीचाराणा पश्चाद्विकुर्वन्तेति, पृथिवीकावपिपये प्रमसूत्र तथैव
 उत्तरसूत्रे तापद् वक्तव्य यापत् परिचाराणा, तेषामपि स्वर्शोपमोगसम्भवात्, 'नो चेष ण यिउषणय'सि न चैष तेषा
 विकुर्वणा यान्या, वैक्रियलब्धेरसम्भवात्, 'एव'मित्यादि, एवं—पृथिवीकायिकवत् अपृकायावयो वातकाययजोस्वा-

यदप्येतस्या यावच्चतुरिन्द्रियाः, सर्वेषामपि वैक्रियलब्धेरसम्भवेन सूत्रस्य समानत्वात्, वातकायान् प्रति चित्रेषामभि-
 धित्तुः समानगमत्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्गमनुभ्याजामपि वातकायैः सहातिबेधमाह—‘नवर’मित्यादि, ‘अहा नेरइया’
 इति यथा नेरयिकास्त्रया वक्तव्याः, किमुक्तं भवति !—‘नेरयिकवत् चिकुर्षणाऽप्येतेषां वक्तव्या, वैक्रियलब्धिसम्भ-
 वात्, सा च प्रषीचारणायाः पश्चादिति, ‘वायमसरजोरसवेमणिया जहा असुरकुमारा’ इति असुरकुमारणासिच
 न्यन्तरादीनामपि पूर्वं चिकुर्षणा पश्चात् परिचारणा वक्तव्येति भावः, सुरगणानां सर्वेषामपि तथास्वामाव्यात्, सक्त
 च सृष्टीकायाम्—“पुष विडवणा सह्य पञ्चा परियारणा सुरगणानं । सेसाण पुषपरियारणा च पञ्चा विडवणया
 ॥ १ ॥” इति ॥ सम्प्रति आहारविषयमामोग विधिन्त्ययिपुरिदमाह—

नेत्रया पं मते ! आहारे किं आमोगनिवृत्तिरे वयामोगनि० ? , गो० ! आमोगनिवृत्तिषु अणामोगनि०, एवं असुरकुमारानं
 ज्ञाप वेमाप्त्रियाण, कवरं एगिदियापं नो आमोगनिवृत्तिषु अणामोगनिवृत्तिषु । नेरइया जं मते ! अे पोगले आहारपाए
 गिष्मंति ते किं वाणंति पा० आहारंति तदाणु न यार्पंति न पासं० आहारंति ? , गो० ! न यार्णंति न पासंति आहारंति,
 एवं वाय तेइदिया, वरंतिदियां पुञ्चा, गो० ! अत्येगविया न यार्पंति पासंति आहा० अत्येगइया न यार्पंति न
 पासंति आहा०, यर्चिदियतिरिक्खवोत्रियाणं पुञ्चा, गो० ! अत्ये० जा० पा० आहा० ? अत्ये० जा० न पा० आहा०
 अत्ये० न यार्णंति पासंति आहा० ३ अत्ये० न वा० न पा० आ० ४, एवं वाय मपुस्सापनि, वायमंतरजोइस्सिया अहा

नेरइया, वेमाणिषाणं पुच्छा, गो० ! अत्ये० आ० पा० आ० न वा० न पा० आ०, से केण्टेणं मंते ! एवे बु०
 वेमाणिया अत्ये० जा० पा० आ० अत्ये० न आ० न पा० आ० !, गो० ! वेमाणिया दुविहा पं०, उ०—मार्शमिच्छदिष्टि-
 उवधभगा य अमायिसम्मदिद्धिउष०, एवं वहा इंदियउरेसए पढमे मणितं तहा माणितवं वाव से एएण्टेणं गो० ! एवं
 बुधदि, नेरइया णं मंते केधविया अक्खवसाभा प० !, गो० ! असंलेखा अक्खवसाभा, ते षं मंते ! किं पसत्या
 अपसत्या !, गो० ! पसत्याधि अप० एवं वाव वेमाणियाणं । नेरइया णं मंते ! किं सम्मचाभिगमी मिच्छचाभिगमी
 सम्मामिच्छचाभिगमी !, गो० ! सम्मचाभिगमीधि मिच्छचाभिगमीधि सम्मामिच्छचाभिगमीधि, एवं आव वेमाणियाधि,
 नवरं एगिदियविगळिदियाणो सम्मचाभिगमी मिच्छचाभिगमी नो सम्मामिच्छचाभिगमी (सुत्रं ३२१)

'नेरइयाण'मित्यादि, आमोगनिर्वर्त्तितो यदा मनःप्रणिधानपूर्वमाहार एहन्ति, क्षेपकालमनामोगनिर्वर्त्तितः, स
 च लोमाहारोऽवसातन्व्यः, एय शेपाणामपि जीवानामामोगनिर्वर्त्तितोऽनामोगनिर्वर्त्तितश्चाहारो मावनीयः, नवर-
 मेवेन्द्रियाणामतिस्त्रोकापद्रुमनोद्रभ्यलब्धिसम्पन्नत्वात् पद्रुतर आमोगो नोपजायते इति तेषां सर्वदाऽनामोगनिर्व-
 र्त्तित एवाहारो न पुनः कदाचिदप्यामोगनिर्वर्त्तितः । अधुना आहार्यमाणपुल्लथिपये ज्ञानवर्धने चिन्तयति—'नेरइ-
 या ण मते' इत्यादि, नेरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे भवन्त ! यान् पुल्लान् आहारतया एहन्ति तान् किं जान-
 न्ति पश्यन्ति उत नेति !, भगवानाह—गौतम ! न जानन्स्वधिविज्ञानेन, लोमाहारतया वेपामतिसुख्मत्वेन नारका-

षधेरविषयत्वात्, न च पश्यन्ति षष्टुरिन्द्रियविषयामावात्, द्वीन्द्रिया न जानन्ति, मिथ्याज्ञानतया तेषां सम्यक्-
 परिज्ञानामावात्, द्वीन्द्रियाणां हि मत्सञ्चान तदपि चास्पष्टमतः प्रथेपाहारमपि न ते स्वय एवमाणमपि सम्यक् जा-
 नन्ति षष्टुरिन्द्रियामावात् न च पश्यन्ति, एवं त्रीन्द्रिया अपि ज्ञानवर्धनविकला भावनीयाः, षष्टुरिन्द्रियाः 'अत्येगइ-
 य'सि सन्त्येकके ये स्वय एवमाणमप्याहार प्रथेपरूपमपि न जानन्ति, मिथ्याज्ञानित्वात्, तेषामपि हि द्वीन्द्रियाणा
 मिव मत्सञ्चान तदपि चाविस्पष्टमिति, षष्टुपा पुनः पश्यन्ति षष्टुरिन्द्रियसञ्ज्ञावात्, तथाहि—पश्यन्ति मधिकारयो
 गुबारिकमिति एवमाहारयन्ति, तथा सन्त्येकके षष्टुरिन्द्रिया ये न जानन्ति, मिथ्याज्ञानित्वात्, न पश्यन्ति च अन्ध-
 कारादिना चष्टुवर्धनस्य व्याहतत्वात् अनामोगसम्भवाद्वा, तिर्यक्पथेन्द्रियतिरथां षष्टुर्मञ्जी प्रथेपाहार लोमाहार
 चाधिकृत्य भावनीया, तत्र प्रथेपाहारमधिकृत्यैव भावना—सन्त्येकके तिर्यक्पथेन्द्रिया ये प्रथेपमाहारं जानन्ति,
 सम्यग्ज्ञानितया तेषां यथावस्थितपरिज्ञानात्, पश्यन्ति षष्टुरिन्द्रियमावात् एवमाहारयन्ति १, तथा सन्त्येकके ये
 जानन्ति पूर्वंषत् न च पश्यन्ति चष्टुवर्धनसाग्धकारादिना अनामोगेन च व्याहतत्वात् २, तथा सन्त्येकके ये न
 जानन्ति मिथ्याज्ञानितया सम्यक्परिज्ञानामावात् पश्यन्ति पुनश्चष्टुरिन्द्रियोपयोगात् ३ तथा सन्त्येकके ये न जान-
 न्ति मिथ्याज्ञानित्वान्न च पश्यन्ति पूर्वंषत् एवमाहारयन्ति ४ लोमाहारोपेक्षया त्वेष भावना—सन्त्येकके तिर्यक्पथे-
 न्द्रिया ये लोमाहारमपि जानन्ति, विशिष्टावधिज्ञानपरिकल्पितत्वात्, पश्यन्ति तथाविधयोपश्चमभावात् इन्द्रियपा-

दृश्यतातिविद्युत्तयात् एवमाहारयन्ति १ तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति पूर्ववत् न तु पश्यन्ति तथापिधस्येन्द्रियपा
 दृश्यामायात् २ तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति पश्यन्ति पुनस्त्रद्विपयेन्द्रियपादवस्य भावात् ३ तथा सन्त्येकके ये
 न जानन्ति मिथ्याज्ञानित्यात् अथधिविकल्पात् अथधिविषयतीतत्वाद्वा, न च पश्यन्ति तथारूपपादवामावात्
 ४ इति, एव मनुष्याणामपि लोमाहारप्रक्षेपादारौ प्रतीत्स चतुर्भङ्गी भावनीया, 'वाणमतरजोइसिया जडा नेरइया'
 इति, नैरयिकाषधिरिष ब्यन्तरज्योतिष्कापधिरपि मनोभक्षित्वेऽप्याहारपुद्गलानामयिपयत्वात्, 'वेमाणियाण पुष्ठ'-
 इति, वैमानिकानां पृथक् सूत्र घक्तव्य, 'वेमाणिया ण मते!' जे पोगले आहारचाप गेणहत्ति ते किं जाणंति पासति
 आहारंति उदाहु न जाणति न पासति आहारंति' इति, भगवानाह--'गोयमे'त्यादि, माया पूर्वमवकृता विद्यते
 येषां ते मायिनो, मायया हि यया तथा वा वावररूपकृतया कलुपकर्मप्रादुर्भायः, कलुपे च कर्मण्युदयमागते भवप्र-
 त्यादप्युपजायमानोऽवधिर्नातिसमीचीनो भवति, एते च सम्यग्बुद्धो न वेदितव्याः, तथा मिथ्या--विपर्यया इष्टिः-
 जिनप्रणीतवस्तुतस्यप्रतिपत्तिर्येषां ते मिथ्यादृश्यः, मायिनश्च मिथ्यादृश्यश्च मायिमिथ्यादृश्यस्ते च ते उपपन्नाश्च
 मायिमिथ्यादृष्टुपपन्नाश्च एव स्वार्थिकप्रत्ययविधानात् मायिमिथ्यादृष्टुपपन्नकास्ते षोपरितनोपरितनत्रैवेयकपर्य-
 वसाना विज्ञेयाः, तेषां यथायोगमयस्य मिथ्यादृष्टित्वस्य मायित्वस्य च माधात्, तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्टपुपप-
 न्नाकाः, ते चानुत्तरविमानयासिनः, तेषामवस्य सम्यग्दृष्टित्य, पूर्वानन्तरमये नितरां प्रतनुक्रोधमानमायालोभत्वस्योप-

दान्तफपायत्यस च भावात्, आह च मूळटीकाकारः—‘वेमाणिमा मायिमिच्छद्विड्विडवषण्णगा जाष उवरिमगेवेष्वा,
 अमायिसम्मरिड्विडवषण्णगा अनुसरसुरा एव एसन्ते” इति, ‘एव जेहे’त्यादि, एषमुक्तेन प्रकारेण प्राक् यया इन्द्रि-
 यसत्के प्रथमोद्देशके मणित तथा मणितन्व्य, तच्च तावत् यावत् सर्वास्तिम ‘से एषण्णेण’मित्यादिना निगमनवाक्य,
 तथैषम्—‘तस्य ण जे ते मायिमिच्छद्विड्विडवषण्णगा ते ण न जाणति न पासति आहारोति, तस्य णं जे ते ममायि-
 सम्मरिड्विडवषण्णगा ते ण दुविहा पण्णत्ता, तच्चहा—अणतरोवषण्णगा य परपरोवषण्णगा य, तस्य ण जे ते अणत-
 रोवषण्णगा ते ण ण याणति न पासति आहारोति, तस्य ण जे ते परपरोवषण्णगा ते ण दुविहा पं०, त०—एषत्त-
 गा य अपषत्तगा य, तस्य ण जे ते अपषत्तगा ते ण न जाणति न पासति आहारोति, तस्य णं जे ते एषत्तगा ते
 दुविहा पं०, त०—उषत्तगा य अणुषत्तगा य, तस्य ण जे ते अणुषत्तगा ते ण याणति न पासति आहारोति, तस्य
 ण जे ते उषत्तगा ते ण जाणति पासति आहारोति, से एषण्णेण गोयमा ! एवं हुवति—अथेगइया न जाणति न
 पासति आहारोति अथेगइया जाणति पासति आहारोति ?” इति, अस्यायमर्थः—एतन्न ये ते मायिमिच्छाएषुपपन्नका
 उपरितनोपरितनप्रैवेयकपर्यवसाना इत्यर्थः ते मनोमक्ष्याहारयोग्यान् पुद्गलान् न जानन्ति अथधिज्ञानेन, तदवधेस्त्रेया-
 मयिपयत्वात्, न पश्यन्ति चक्षुषा, तथाविधपाटवभावात्, येऽप्यमायिसम्यग्एषुपपन्नका अनुसरिमानवासिन
 इत्यर्थः, ते द्विधा—अनन्तरोपपन्नका परस्मरोपपन्नका, प्रथमसमयोत्पन्ना अत्रथमसमयोत्पन्नाभेत्यर्थः, अत्र ते ते

अनन्तरोपपन्नकास्त्रे न जानन्ति न पश्यन्ति, प्रथमसमयोत्पन्नतयाऽवधिज्ञानोपयोगस्य चक्षुरिन्द्रियस्य चाभावात्, किन्त्वैयमेवाहावयति, तत्र ये ते परस्पररोपपन्नकास्त्रे द्विविधाः, तद्यथा—पर्यासा अपर्यासाश्च, तत्र ये ते अपर्यासा-कास्त्रे न जानन्ति न च पश्यन्ति, पर्यासीनामसम्पूर्णत्वेनापच्याप्तुपयोगाभावात्, येऽपि पर्यासास्त्रेऽपि द्विविधाः, तद्यथा—उपयुक्ता अनुपयुक्ताश्च, तत्र ये ते उपयुक्तास्त्रे जानन्ति, अवधानवश्रतो यथाशक्ति नियमेन ज्ञानस्य स्वपि पयपरिच्छेदाय प्रवृत्तिसम्भवात्, पश्यन्ति बह्वया इन्द्रियपाटवस्य तेपामतिबिम्बित्वात्, ये त्वनुपयुक्तास्त्रे न जानन्ति न च पश्यन्ति अनुपयुक्तत्वादेव, उपयुक्ता अपि क्व मनोमस्याहायोग्यान् पुत्रलान् जानते इति चेत्, उच्यते, इहापश्यकप्रथमपीठिकायामवधिज्ञानाधिकारेऽभिहितम्—“स्रक्षेच्च कम्मदवे लोए योक्कणय पलिय” अस्सायमर्थे—फार्मणञ्चरीरुन्न्याणि पश्यन् क्षेत्रतो लोकस्य सम्भेयान् मागान् पश्यति कालतः स्त्रोकोन पल्पोपम यापत्, अनुत्तरा-स्तु सम्पूर्णां लोकनाबी पश्यन्ति, ‘समिच्च लोगनाळि पासति अनुत्तरा देवा’ इति वचनात्, ततस्त्रे मनोमस्याहा-योग्यानपि पुत्रलान् जानन्ति, आह च मूळटीकाकारः—‘ते जानन्ति पश्यन्ति आहारयन्ति च, यिञ्चुत्त्वाद्यधेदि-न्द्रियविपयस्य चातिपिशुद्धत्वात् पश्यन्त्वपि’ इति, अत्र इन्द्रियविपयसेति—इन्द्रियपाटवसेतिमायः, उपसहारायाम् प्रतीत । अप्ययसायचिन्तायां प्रत्येक नैरयिकादीनामसम्भेयान्यध्यवसानानि प्रतिसमय प्राभोऽन्यान्याभ्यवसानमा-वात् । सम्यक्त्वायधियमचिन्तां कुर्वन्नाह—‘नैरइया ञ’मित्यादि, नैरयिकाः ञमिति पूर्ववत् मदन्त ! किं सम्यक्त्वा-

धिगामिन—सम्यक्त्वप्राप्तिष्वन्त, एष मिथ्यात्वाधिगामिनः सम्यग्मिथ्यात्वाधिगामिनश्च ? , भगवानाह—गौतम !
 'सम्मे'त्यादि सुगम, त्रिबिधाया अपि प्राप्तेर्ययायोग सम्भवात्, 'एव जावे'त्यादि, एव—नैरयिकगतेनानिलापप्रकारेण
 निरन्तर तापद्रक्त्व यावद्भैमानिकाः, नवरभेकेन्द्रियाणां विकलेन्द्रियाणां केषाञ्चित् सासादनसम्यक्त्वमपि लभ्यते
 तथापि ते मिथ्यात्वामिमुखा इति सर्वपि तन्न विवक्षित । सम्प्रति परिचाराणां प्रतिपिपादयिपुरिदमाह—

देवा णं मंते ! किं सदेवीया सपरियारा सदेवीया अपरियारा अदेवीया सपरियारा ? , गो० !
 अत्येगतिया देवा सदेवीया सपरियारा अत्येगतिया देवा अदेवीया सपरियारा अत्ये० देवा अदेधिया अपरिचारा नो
 चैव णं देवा सदेवीया अपरिचारा, स केण्ड्रेण मंते ! एवं बुषति—अत्ये० देवा सदेवीया सपरिचारा तं चैव जाव
 नो चैव णं देवा सदेवीया अप० ? , गो० ! भवणपतिवाणमतरब्बोतिससोहस्मीसाणेसु कप्पेसु देवा सदेवीया सपरियारा,
 सणंभमारमादिदधंमलोगलठगमहासुकसहस्सारजाणयपाजयआरणुएसु कप्पेसु देवा अदेवीया सपरिचारा भेवेज्जअणु-
 चरोषवाइया देवा अदेवीया अपरियारमा, नो चैव णं देवा सदेवीया अपरिचारा, से वेण्ड्रेणं गो० ! एवं पु० अत्ये० देवा
 सदेवीया सपरिचारा त चैव नो चैव णं देवा सदेवीया अपरियारा (सूत्रं ३२२) कतिचिहा णं मंते ! परियारणा पं० ? ,
 गो० ! पंचविहा परियारणा पं०, उ०—कायपरियारणा रूपप० सपरि० मणप०, से केण्ड्रेणं मंते ! एवं पु०
 पंचविहा परि० पं०, पं०—कायप० जाव मणप० ? , गो० ! भवणपत्तवाणमतरब्बोससोहस्मीसाणेसु कप्पेसु देवा कायपरि०

सर्वङ्गमारमाहिदेसु कल्पेसु देवा कासपरि० धंमलोपलंत्तणेसु देवा रूपपरिया० महासुक्कसहस्तारेसु देवा सहप० आप्ययपाण्य
 आरज्जुपुत्तु कल्पेसु देवा मज्जप०, गेहेज्जअशुचरोववाइया देवा अपरियारगा, से सेणट्टेणं गो० ! तं चेष जाव मज्जपरिया
 रगा, तत्थ ण अे ते कायपरियारगा देवा वेसि णं इच्छामणे समुप्यज्जति-इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारं
 करेसप, तप णं वेहिं देवेहिं एवं मज्जसीकप समाने खिप्यामेव ताओ अच्छराओ ओरालाहिं सिगाराइं मज्जुब्जाइं मज्जोह-
 राइं मज्जोरमाइं उचरवेउविचियलुवाइं विउवत्ति विउविवा वेसि देवायं अतिरियं पाउग्गमयति, तथे णं ते देवा वाहिं अच्छराहिं
 सद्धिं कायपरियारण क्खंति (सुत्रं ३२३) से ज्जाणामए सीया पोगला सीतं पप्य सीयं चेष अतिवतिचारणं चिद्धति, उस्सि
 णा वा पोगला उस्सिणं पप्य उस्सिणं चेष अतिवतिचारणं चिद्धति, एवमेव वेहिं देवेहिं ताहिं अच्छराहिं सद्धिं कायपरिया
 रणं क्खते समाने से इच्छामने खिप्यामेव अवेति (सुत्रं ३२४) अत्थि णं मंते ! वेसि देवाण सुक्कपोग्गला !, इंता ! अत्थि,
 से णं मंते ! तासि अच्छरानं कीसचावे सुब्बो २ परिणमति !, गो० ! सोत्तिदियचावे चक्खुइंदि० घाणिदिय० रसिदिय०
 कासिदियचावे इद्धचाते कंसचाते मज्जुक्कचाते सुमगचाते सोहम्मरुषवोषणुणुजलावभचाए ते तासि सुब्बो २
 परिणमंति (सुत्रं ३२५) तत्थ णं अे ते कासपरियारगा देवा वेसि णं इच्छामणे समुप्यज्जति, एवं भइव कायपरियारगा
 तथेव निरयसेसं माणित्थं । तत्थ णं अे ते सुवपरियारगा देवा वेसि णं इच्छामने समुप्यज्जति इच्छामो ण अच्छराहिं सद्धिं
 रूपपरियारण करेपत्ते, ते ण वेहिं देवेहिं एवं मज्जसीकत्ते समाने तथेव जाव उचरवेउविवाहिं सुवाइं विउवत्ति विउविवा
 ज्जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति उवागच्छंति वेसि देवाणं अदूरतामंति ठिवा ताइ उरालाइं जाव मज्जोरमाइं उचर-

धउधिवारं तुवारं उरदसमाणीतो २ चिद्वृत्ति, तवे णं ते देवा ताहि अच्छराहिं सद्धिं लुपपरियारणं करेति, सेसं तं चैव
 आव बुज्जो २ परिणमन्ति । तस्य षं जे ते सएपरियारगा देवा वेसि षं इच्छामणे समुप्यत्तति-इच्छामो ण अच्छराहिं सद्धिं
 सएपरियारणं करेचए, तवे णं तेहि देवेहि एवं मणसीकए समाणे तवेव नाव उपरवेउधियाहिं तुवारिं विउवंति विउधिया
 जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छति २ चा वेसि देवाणं अइसामति ठिथा अशुचराई उवावयाई सराई समुदीरेमाणीतो २
 चिद्वृत्ति, तवे णं ते देवा ताहि अच्छराहिं सद्धिं सएपरियारणं करेति सेसं तं चैव आव बुज्जो २ परिणमन्ति । तत्य षं जे ते
 मणपरियारगा देवा वेसि इच्छामणे समुप्यत्तति, इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेचवे, तवे षं वेहिं देवेहिं
 एवं मणसीकए समाणे खिप्यामेव तावो अच्छरावो तस्य गयावो चैव समाणीवो अशुचराहिं उवाववाहिं मणाई संपहारे-
 माणीतो २ चिद्वृत्ति, तवे षं ते देवा ताहि अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेति, सेसं निरवसेसं तं चैव आव बुज्जो २
 प० (मूत्रं ३२६) एतेसि षं मंते ! देवाणं कायपरियारगाणं नाव मणपरियारगाणं अपरियारगाणं य करेरे० अप्पा वा
 ४ !, गो० ! सवस्योवा देवा अपरियारगा मणपरियारगा संखे० सएपरियारगा असंखे० लवप० असं० कासप० असं०
 कायप० असं० ॥ (मूत्रं ३२७) एण्णवणाए परियारणापपं समचं ॥ ३४ ॥

'देवा षं भित्तादि, सुगम, नवरं मवनपतिन्मन्तरज्योतिक्सौधर्मज्ञानकल्पेषु देवा सदेवीकाः, देवीनां तत्रोत्पादात्,
 अत्र एव सपरिचारा-परिचाराणसहिताः, देवीनां तत्परिमृष्टे यथायोग भावतः कायप्रकीर्षारभावात्, सनत्कुमारमादे

न्द्रयोर्मस्रलोकलान्तकयोर्महाशुक्रसहस्रारयोरानताविचतुर्षु कल्पेषु देवा अवेधीकाः, तत्र देवीनामुत्पादाभावात्, अथ स
 सपरिचाराः—परिचाराणासहिताः, सौधर्मेशानगतदेवीभिः सह यथाक्रम स्पर्शरूपशब्दमनःप्रयीचारमाधात्, भ्रैवेयकानु-
 चरोपपातिनो देवा अवेधीकाः, देवीनां तत्रोत्पादाभावात् अपरिचाराः—अप्रवीचाराः, अत्यन्तमन्दपुरुषवेदोदयतया मन
 सापि प्रवीचारासम्भवात्, न पुनस्ते देवाः सवेधीका अपरीचाराः, तथाभवस्थामाभ्यात्, 'से एएज'मित्यादि निगमनवा
 क्य । देवाः सवेधीकाः सपरिचारा इत्युक्तं, तत्र परिचाराणामेव जिज्ञासुः पृच्छति—'कश्चिद्वा ण'मित्यादि, सुगम, मगवा-
 नाह—'गौतमे'त्यादि गतार्थं, नथर 'कायपरिचाराया' इति कायेन—शरीरेण मनुष्यस्त्रीपुंसानामिष परिचारो—मैशुनोपसेवन
 येषां ते कायपरिचारकाः, किमुक्तं भवति ?—मयनपत्त्यादय ईशानदेवलोके देवपर्यन्ताः सद्भिः क्लृप्तोदयपुरुषवेदकर्मप्रभाषतो
 मनुष्यपत् मैशुनसुष्टप्रतीयमानाः सर्वाङ्गीण कायक्लृष्टज सस्पर्शसुखमषाप्य प्रीतिमासावयन्ति नान्ययेति, सनत्कुमार-
 माहेन्द्रयोः कल्पयोर्देवाः स्पर्शपरिचारकाः, स्पर्शेन—स्वनसुजोरुज्वयनादिगात्रसंस्पर्शेन परिचाराः—अप्रवीचरो येषां ते
 तथा, ते हि यदा प्रवीचारमभिलपन्ति तदा प्रवीचाराभिहापुक्तया प्रत्यासन्नमूतानां देवीनां स्वनाथवयधान् सस्यु-
 वन्ति, तापन्मात्रेणैव तेषां कायप्रवीचारादनन्तगुणं सुख वेदोपदान्तिश्चोपजायते, ब्रह्मलोकलान्तकयोः कल्पयोर्देवा
 'रूपपरिचारका' रूपेण—रूपमात्रदर्शनेन परिचारो—मैशुनोपसेवनं येषां ते तथा, ते हि सुरसुन्दरीणां मनोमधराजा-
 स्थानीय दिव्यमुन्मादजनक रूपमुपलभ्य कायप्रवीचारादनन्तगुणं सुरतसुखमासावयन्ति, तावन्मात्रेणैवोपदान्तवेदा

उपजायन्ते, महागुरुसहस्रांस्तु कल्पेषु देवाः 'शुद्धपरिचारकाः' शब्देन-शुद्धमात्रध्वनेन परिचारो येषां ते तथा, ते
दि इच्छायिष्यीकृतदेवीसत्कगीतद्वसितसपिकारभापितनूरादिष्वनिग्रहणमात्रव एव कायप्रवीचारादयन्तगुणसुख
उपमुञ्जते ताथमात्रेणैव तेषां चेद उपशान्तिमेति, जानतप्राणतारणाभ्युत्तेषु कल्पेषु देवा 'मनःपरिचारकाः' मनसा-
मनोमयधिकारोपशुद्धितपरस्परोपाधधमनःसङ्कल्पेन परिचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते तथा, ते हि परस्परोपाधधमनः
सङ्कल्पमात्रेणैव कायप्रवीचारादनन्तगुण सुखमवाप्नुयन्ति, तृताम्य तावन्मात्रेणैवोपजायन्ते, प्रैथेयकानुचरोपपातदेया
'अपरिचारका' न विद्यन्ते परिचारो—मैथुनोपसेवन मनसाऽपि येषां ते तथा, तेषां प्रतनुमोषोदयतया प्रश्नमसुखा-
तर्लीनत्वात्, यथेव कथं न ते ब्रह्मचारिणः !, उच्यन्ते, धारिप्रपरिणामामायात्, 'से तेष्येष्टेण'मित्यादि निगमनवा-
पय, तत्र ये कायपरिचारका देवास्तेषां कायप्रविचार विभावयिपुरिदमाह—'तस्य ण'मित्यादि, तत्र-तेषु कायपरि-
चारकास्ति देवेषु मध्ये ये ते पूर्वमुक्ताः कायपरिचारका मयनपतिस्मन्तरज्योतिष्कसौधमेशानदेवास्तेषां षमिति पूर्वं
यत् इच्छामन—कायपरिचारेच्छामयानं मनः समुत्पद्यते, केनोच्छेदेन समुत्पद्यते ?—इच्छाम—अभिलषामः णमिति
पूर्वपत् अस्वरोभिः सार्द्धं कायपरिचार कर्षुमिति, 'तए ण'मित्यादि, ततस्त्वेवैरेवमुक्तेन प्रकारेण कायपरिचारे मनसि
दृष्टे सति धिप्रमेय-धीप्रमेय ता अस्वस स्वसोपमोग्थदेवाभिप्रायमपेत्स परिचाराभिष्ठापुकृतया उत्तरवैक्रियाणि
रूपाणि विदुर्पुन्तीति सम्मथ, कथंमृतानीत्यत आह—उदाराणि—स्काराणि न तु हीनावयवानि तानि अपि

'शुद्धाराणि' शुद्धारो—विमृषणादिभिर्मण्डन स विद्यते वेपां तानि शुद्धाराणि, 'अप्राविम्य' इत्यादि अप्रत्ययः, विमृ-
 षणादिकृतोदारशुद्धाराणीत्यर्थ, तानि च कदाचित् कस्यचिदमनोव्रानि भवेयुः अत आह—'मनोव्रानि' स्वस्वोपभो-
 ग्यदेवमनोविषयभाषणेदृशानि, तानि लेद्वतोऽपि सम्भाव्यन्ते तत आह—'मनोहराणि' स्वस्वोपभोग्यस्य देवस्य मनो
 हरन्ति—आत्मबन्धं नयतीति मनोहराणि, 'छिहादित्वावच्', तच्च मनोहराय प्रथमसमापातमात्रमान्यपि भवति तत
 आह—'मनोरमाणि' मनः स्वस्वोपभोग्यदेवसम्बन्धि रमयन्ति—क्रीडयन्ति प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरानुरागसम्भृष्टं जनय
 न्तीति मनोरमाणि, तानि इत्यमृतानि उत्तरवैक्रियाणि रूपाणि विकुर्वित्वा तेषां देयानामन्तिक—समीप प्रादुर्भवन्ति,
 'तते ण'मित्यादि, ततः णमिति पूर्वषट्, ते देयास्वाभिरप्सरोभिः सार्द्धं कायपरिचारण—मनुष्य इव मनुष्यस्त्रीभिः
 सर्वाङ्गीणकायकेश्यपूर्वक मैयुनोपसेवन कुर्यन्ति, एवमेव तेषां वेदोपशान्तिमावात् । तथा चासुमेधार्ये दृष्टातेन द्रव्य-
 त्वि—'से अहाणामए' इत्यादि 'से' इति अयश्चार्थः, स चात्र वाक्योपन्यासे, यथा नाम 'ते' विवक्षिताः शीताः
 पुद्गलाः शीतं—शीतयोनिक प्राणिन प्राप्य 'शीतमेव' शीतत्वमेपातिप्रज्य—मतिद्वयेन गत्वा तिष्ठन्ति, किमुक्तं
 भवति ?—यिद्येपतः शीतीमृतस्य शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वापोपकल्पन्ते, उष्णा वा पुद्गला उष्णयोनिकं प्रा-
 णिन प्राप्य 'उष्णमेव' उष्णत्यमेवातिप्रज्य—अतिद्वयेन गत्वा तिष्ठन्ति, यिद्येपतः स्वरूपलामसम्पत्त्या तस्य सुखि-
 त्वापोपतिष्ठते इति भावः, 'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण तैर्देवैस्वाभिरप्सरोभिः सार्द्धं ययोक्तरूपे कायपरिचारेण कृते

सति इच्छामनः—कामविषयेच्छाप्रधान मनः विप्रमेधातितृप्तिमाधात् श्रीतीभवति, इयमत्र भावना—यथा श्री-
तपुद्रुहाः शीतयोनिकस्य प्राणिनः संस्पृशे शीतत्वं विभ्रेपतः आसाद्यन्तस्त्रस्य सुखित्वायोपकल्पन्ते उष्णपुद्रुहा वा
उष्णयोनिकस्य प्राणिनः संस्पृशे उष्णत्वमतिप्रभूतमासादयन्तः सुखाय घटन्ते तथा वेधीशरीरपुद्रुहा वेपथ्वरीरमवाप्य
वेपथ्वरीरपुद्रुहा अपि वेधीश्वरीरमवाप्य परस्परं तद्गुणतां भजमानाः परस्परं सुखित्वायोपकल्पन्ते ततस्तृप्तिरुपजा-
यते तृप्तिमावाषामिहापनिष्टुचिर्भवतीति । इह मनुष्यस्त्रीणां मनुष्यपुरुषोपभोगे शुक्रपुद्रुलसङ्कमतः सुखमुपजायमानं
लघ्व तर्त्तिकं देवीनामप्युपभोग्यदेशसत्कशुक्रपुद्रुलसङ्कमतः सुखमुपजायते आहोत्रिवन्त्येति सञ्चयानो देवानां शुक्र-
पुद्रुलास्त्रित्वं पृच्छति—‘अस्य ण’मित्यादि, बस्त्रीतिनिपातोऽत्र षड्र्ये, णमिति पूर्वषत्, भदन्त ! तेषां देवानां शुक्रपु-
द्रुला यत्सम्पर्कतो देवीनां सुखमुपजायते ? ‘इता ! अत्पि’ भगवानाह—गौतम ! सन्ति, केषल ते वैक्रियश्वरीरान्त-
गंता इति न गर्भमाधानहेतवः, ‘ते ण मते !’ इत्यादि, ते शुक्रपुद्रुलाः, णमिति पूर्वषत् भदन्त ! तासामप्सरसां
कीर्त्स्वरूपतया ‘सूयो २’ यदा २ श्वरन्ति तथा २ इत्यर्थः परिणमन्ति ?, भगवानाह—‘गोवमे’त्यादि, भोत्रेन्द्रि-
यरूपतया यावत्स्पृशेनेन्द्रियतया, तेऽपि कदाचिदनिष्टतया परिणमन्तः सम्भाष्येरन् तत आह—इष्टतया, इष्टमपि
किञ्चित्स्वरूपतोऽक्रान्त भवति, यस्त शूकरादीनामिष्टमपि विष्टादि, तत आह—‘कान्ततया’ कमनीयतया, कान्तम-
पि किञ्चिन्मनःसुहणीय न भवति तत आह—‘मनोज्ञतया’ अतिसुहणीयतया, तदप्यतिसुहणीयत्वं कदाचिदा-

पातकालमात्रमापि सम्भ्राम्यते तत आह—'मनआपतया' मन आमुबन्ति-मनसि सदा रमन्ते इति मनआपास-
न्नावन्नाचा तथा, मनसा सदा स्पृहणीयतयेति भाष, कस्मादिति चेत्, अत आह—'सुमगतया' 'निमित्तकारणभेदेतु
सर्वासां विमर्शानां प्रायो दर्शन'मिति यायात् अत्र हेतौ तृतीया, ततोऽयमर्थः—यतः सुमगतया—सर्वजनप्रियतया
परिणमन्ति तत उच्यते इष्टतया कान्ततयेत्यादि, सुमगतया परिणमनमपि कथमिति चेत्, अत आह—'सोदृग्गुरुव-
जोषणगुणलायनचाप' इति, अत्र प्राकृततया गुणशब्दस्य लाषण्यशब्दात् पूर्वं निपातः परमार्थतस्तु परतो द्रष्टव्यः,
ततोऽयमर्थः—सौभाग्याय—सौभाग्यहेतवे रूपयौवनलाषण्यरूपा गुणा यस्य तत्सौभाग्यरूपयौवनलाषण्यगुण तद्भाव
स्तथा, तत्र रूप—सौन्दर्यवती आकृतिर्यौवन—परमस्वरुणिमा लाषण्य—अतिशायी मनोभवविकारहेतुः परिणति
विशेषः, यतः सौभाग्यहेतुरुपादिगुणनिबन्धनतया परिणमन्ति ततः सुमगतया परिणमतीत्युच्यते, एव ते शुक्रपुत्र-
लाक्षासामप्सरसां भूयो भूयः परिणमन्ति । तदेव कायपरिचार उक्ता, सम्प्रति स्वर्गपरिचार विभावयिपुराह—'तस्य
ण'मित्यादि, तत्र—तेषु परिचारकादिषु मध्ये णमिति पूर्ववत् ये ते स्वर्गपरिचारका देवास्तेषां णमिति पूर्ववत् एषमि-
च्छामनः—स्वर्गपरिचारयिष्येच्छाप्रधान मनः समुत्पद्यते, 'एव जेदेये'त्यादि, एव—उक्तेन प्रकारेण यथैषानन्तर प्राक्
कायपरिचारका उक्ताः तथैव स्वर्गपरिचारकेष्वपि निरवक्षेप मणितव्य, तथैवम्—'इच्छामो ण अच्छराहिं सद्धिं फास-
परियार करेत्तप, ताप ण तेहिं देयेहि एव मणसीकए समाणे खिप्यामेव ताओ अच्छराओ उरालां जाव विउषित्ता

तेषु देवाण अतिय पाडम्भति, तए ण ते देवा अञ्छराहिं सदिं फासपरियार करेति” स्पर्थपरिचारणं षडननुम्बनस्र-
 नमर्देनबाहुपगूहनजघनोरुप्रसृतिगाप्रसस्यर्थरूप, ‘से ज्ञानामए सीया पुग्गला सीय पप्य सीय चेष अतिवइत्ताण
 चिद्धति उसिष्वा या पोगला उसिष्प चेष अइवइसाण चिद्धति एवमेव तेहिं देवेहिं ताहिं अञ्छराहिं
 सदिं फासपरियारे कए समाणे इच्छामणे खिप्पामेव अवेइ,’ अस सपातनिका व्याख्या प्राग्बत्, ‘अतिय ण मते !
 तेषु देवाण सुक्कपोगला ?, इता ! अतिय, ते ण मते ! तासिं अञ्छराण कीसचाए सुब्बो २ परिणमति !, गोयमा !
 सोतिदियचाए जाव फासिदियचाए इट्ठाए फतचाए जाव सुब्बो २ परिणमति’ अस्यापि सपातनिका व्याख्या
 प्राग्बत्, नयरमग्गिन् स्पर्थप्रथीचारे शुक्कपुत्तसङ्गमो दिग्गममावावधसेयः, एव रूपपरिचारावावधि मावनीय, तदेवमुक्ताः
 स्पर्थपरिचाराकाः, सम्प्रति रूपपरिचाराणां विभावयिपुराह—‘तत्प ण’मित्यादि, सुगम तावत् यावत् विकुर्वित्वा ‘जेणा-
 भेव’त्ति यथैव देवलोके विमाने प्रदेष्टे च ते देवाः सन्ति तत्रैव स्थाने ता अप्सरस उपागच्छन्ति, उपागम्य च तेषां
 देवानां ‘अदूरसामंते’ इति अदूरसमीपे स्थित्वा तानि पूर्वे विकुर्वितानि उदाराणि यावदुत्तरवैक्रियाणि रूपाणि उप
 दर्शयन्त्यस्मिन्नन्ति, ततश्चे देवास्त्राभिरप्सरोभि सार्द्धं रूपपरिचाराणां—परस्पर सखिलासरष्टिविधेपाङ्गत्रयक्रितीरिक्षण-
 निजनिजानुरायप्रदर्शनपट्टिष्टेष्टाप्रकटनादिरूपां कुर्वन्ति, ‘सेस तं चेष’त्ति श्रेय ‘से जहा नामए’ इत्यादि तदेव
 यावत् ‘सुब्बो २ परिणमन्ती’ति वाक्यम्, तदेव माथिता रूपपरिचाराणां, सम्प्रति शब्दपरिचाराणां मावयितुकाम

आह—‘तरय ण’मित्यादि कण्ठ्यं, नपरमदूरसमीपे स्थित्वा अनुचरान्—सर्वमन प्रत्यावजनकतया अनन्यसंस्थान्
 उपापचान्—प्रथलरतरमन्मयोदीपकसभ्यासम्यरूपान् शब्दान्, सूत्रे नपुसकनिर्देशः ग्राह्यतत्वात्, समुदीरयन्त्य-
 सिद्धन्ति, श्रेय तथैव, ‘एव तत्तय ण’मित्यादि, मन परिचारकसूत्रमपि तथैव यायन्मनःपरिचारे मनसि कृते सति
 धिप्रमेव ता अप्सरसस्त्र गता एव—सौधर्मेद्वानदेश्लोकान्तर्गतस्वस्वभिमानस्थिता एव सन्त्योऽनुचरानि—परमस-
 न्तोपजनकतया अनन्यसंस्थानि उपापचानि—कामानुपकसभ्यासम्यरूपाणि मनसि प्रचारयन्त्यसिद्धन्ति, इह
 ‘तरयगया चेष समाणीओ’ इति वदता देव्यः सहस्रार यायद् गच्छन्ति न परत इत्याषेदित द्रष्टव्य, तथा चाह सद्म-
 हणिमूलटीकाकारो हरिमद्रचरिः—“सनत्कुमारादिदेवानां रताभिलोपे सति देव्य खल्वपरिगृहीताः सहस्रार यायद्
 गच्छन्ती”ति, तथा स एव प्रवेशान्तरे आह—“इह सोहम्मे कल्पे तासिं देवीण पल्लिओवममालग ताओ तदेयाणं
 चेष हपति, जासिं पुण पल्लिओवमाइ समययाहिया ठिई हुसमयतिसमयसखेआसंखेज्वसमयाहिया जाय दसपल्लिया
 सोहम्मगवेदीओ ताओ सणकुमाराण गच्छति, एव दसपल्लिओवरि जासिं समययाहिया ठिई जाव धीस पल्लिया
 ताओ भंमठोगेदेयाण गच्छति, एव धीसपल्लिओवरि जासिं समययाहिया ठिई जाव तीसं पल्लिया ताओ महासुक्खे-
 याण गच्छति, एव तीस पल्लिओवरि जासिं समययाहिया ठिई जाव च्चालीस पल्लिया ताओ आणयदेवाणं तरय
 ठिया चेष माणापल्लवण होति, एव च्चालीसं पल्लिओवरि जासिं समययाहिया ठिई जाव पचास पल्लिया ताओ

आरण्यदेवानं तस्य ठियाओ चेष द्वाणायलयण होति” तथा “ईसाणे जासिं देयीणं पलिओपममहिंयमाळ्यं ताओ
 तरेयाण चेष होति, जासिं पुण अदियपलिओपमाइ समयादिया ठिई हुसमयतिसमयसंखेच्चसंखेच्चसमयादिया जाय
 पणरसपलिया ताओ माहिंदेदेयाण गच्छंति, एय पन्नरसपलिओपरि समयादिया ठिई जाय पणधीस पलिया ताओ
 लतगदेयाण, जासिं पुण पणधीसपलिओपरि समयादिया ठिई जाय पंचतीस पलिया ताओ सहस्सारेदेवाण, जासिं
 पुण पंचधीमपलिओपरि समयादिया ठिई जाय पणयालीसं ताओ पाणयेदेवाणं तस्य ठियाओ चेष द्वाणावलंबण
 होति, जासिं पुण पणयालीस पलिओपरि समयादिया ठिई जाय पणपन्नपलिया ताओ अनुयेदेयाण तस्य ठियाओ
 चेष द्वाणायलयणं हयति” इति, ‘तय ण’मित्यादि, ततो णमिति पूर्वषत्, ते देवाः तामिरप्सरोभिः सार्द्धं मनः-
 परिचारण—सुरतानुषधि परस्परं सम्भासुम्यमनःसङ्गत्यकरणरूपं कुर्वन्ति, ‘सेस’मित्यादि, श्रेयं ‘से जहा नामप
 सीया पोगला’ इत्यादि निरयेथेप ताथद् षकम्य यायत् ‘मुच्चो २ परिणमन्ती’ति सर्वात्तिसम धाम्य, म्याख्या
 चास्य प्राग्वत्, तत ऊर्ध्वं तु प्रैयेयकाव्यो मनसाऽपि धोपितो न प्रार्थयन्ति, प्रतनुवेदोदयत्वात्, यथोत्तर चैतेऽनन्त-
 गुणसुखभाज, तथादि—कायप्रवीचारेभ्योऽनन्तगुणसुखा स्वर्गपरिचारकास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणसुखाः रूपपरिचार-
 कास्तेभ्योऽपि अनन्तगुणसुखाः शुब्दपरिचारकास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणसुखा मनःपरिचारकास्तेभ्योऽपि अपरिचारका
 अनन्तगुणसुखा । साम्प्रतमेतेषामेष परस्परमन्पन्नदुत्वमभिधित्सुराह—‘एयसि ण’मित्यादि, सर्वलोका देवा णपरिचा-

रका, ते हि प्रैपेयफानुत्तरोपपातिनस्त्रे च सर्षसङ्ख्या धेप्रपल्वोपमासङ्ख्येयमागवर्त्तिनमःप्रदेश्वराधिप्रमाणा इति,
 तेभ्योऽपि मनःपरिचारका देवाः सङ्ख्येयगुणाः, तेयानानतादिकल्पवस्तुष्टयवर्त्तित्वात्, तद्वर्त्तिनां च पूर्वदेवापेक्षया
 सङ्ख्येयगुणधेप्रपल्वोपमासङ्ख्येयमागगताकाश्वप्रदेश्वराधिप्रमाणत्वात्, तेभ्यः शब्दपरिचारका असङ्ख्येयगुणाः, ते हि
 महाशुक्लसहस्रारकल्पयासिनः, ते च घनीकृतलोकस्य एकप्रादेश्विख्याः भेणेरसङ्ख्येयतमे मागे यावन्त ब्राह्मणश्वप्रदेश्व-
 स्वाधत्प्रमाणाः, तेभ्योऽपि रूपपरिचारका देवा असङ्ख्येयगुणाः, ते हि ब्रह्मलोकान्तकल्पनिवासिनः, ते च पूर्वदेवा
 नचिक्त्यासङ्ख्येयगुणभेण्यसङ्ख्येयमागतनमःप्रदेश्वराधिप्रमाणाः, तेभ्योऽपि स्वर्गपरिचारका देवा असङ्ख्येयगुणाः, तेषां
 सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवर्त्तित्वात् तद्वर्त्तिनां च ब्रह्मलोकान्तकदेवानेपेक्ष्यासङ्ख्येयगुणभेण्यसङ्ख्येयमागपत्सर्षाकाश्वप्रदेश्व-
 परिमाणतयाऽधीतत्वात्, तेभ्यः कायपरिचारका देवा असङ्ख्येयगुणाः, मवनपत्यादीनामीश्वानान्ताना सर्वेषां काय-
 परिचारकत्वात्, तेषां सर्वसङ्ख्या प्रतरासङ्ख्येयमागवर्त्तिनमःप्रदेश्वराधिप्रमाणात्वात् इति ॥ इति श्रीमलयगिरिवि०
 प्रज्ञा० चतुर्विंशत्तमं पदं समाप्तम् ॥

तदेयमुक्तं चतुस्त्रिंशत्तम पद, सम्प्रति पञ्चत्रिंशत्तममारम्यते, अस्य षायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरपदे वेदपरिणाम-
विशेषः प्रवीच्यारः प्रतिपादित, अत्र तु गतिपरिणामविशेषा वेदना प्रतिपाद्यते, तत्र आदौ सकलवक्तव्यतासद्भावापरे
इमे द्वे गाथे—

सीता च दशसरीरा साता तह वेदना भवति दुःखा । अन्धुषगभोवकमिया निदाय अणिदाय नायवा ॥ १ ॥ सायमसाय
सर्व सुहं च दुःखं अदुःखमसुहं च । माणसरहिय विगळिदिया उ सेसा दुविहमेव ॥ २ ॥ क्वविहा नं मते ! वेदना
पं० ? गो० । विविहा वेदना पं०, त०—सीता उस्त्रिणा सीतोस्त्रिणा, नेरइया ण मते ! किं सीतं वेदय वेदति उस्त्रिणं वे० वे०
सीतोस्त्रिणं वे० वेदति ? गो० । सीतपि वेदणं वेदति उस्त्रिणपि वे० वे० नो सीतोस्त्रिणं वे० वे०, केरं एक्केकपुढवीए
वेदनाओ भर्णति, रयप्पमापुढविनेरइयाण मंते ! पुच्छा, गो० । नो सीत वेदण वे० उस्त्रिणं वे० वे० नो सीतोस्त्रिणं
वे० वे०, एवं वाच वातुयप्पमापुढविनेरइया, पंक्कप्पमापुढविनेरयाणं पुच्छा, गो० । सीतपि वे० वे० उस्त्रिणपि वे० वे०,
नो सीतोस्त्रिणं वे० वे०, ते षडुपतरागा के उस्त्रिण वेदणं वेदति, ते योवतरागा के सीत वेदणं वे०, घूमप्पमाए एवं वेव
दुविहा, नवरं ते षडुपतरागा के सीत वे० वे० ते योवतरागा के उस्त्रिणं वे० वेदति, तमाए च तपत्तमाए य सीयं वे० वे० नो

उस्मिन् वे० वे०, नो सीतोसिर्णं वे० वेदंति, अस्तुरकुमारार्णं पुच्छा, गो० ! सीर्वपि वे० वे० उस्मिर्णपि वे० वे० सीतोसीर्णपि
 वे० वे०, एवं जाव वेमाणिया । कतिविहा णं मंते ! वेदणा पं० ?, गो० ! चउविहा वेदणा पं० तं०-दशवो खेषतो
 फालतो मावतो, नेरश्या णं मंते ! किं वृत्तो वेदण पे० वे० जाव किं मावतो वे० वे० ?, गो० ! दवओवि वे० वे० जाव
 मावओवि वे० वे०, एवं जाव वेमाणिया । कतिविहा णं मंते ! वेदणा पं० ?, गो० ! तिविहा वेदणा, पं०, तं०-सारीरा
 माणसा सारीरमाणसा, नेरश्या णं मंते ! किं सारीरं वे० वे० माणसं वेयण वे० सारीरमाणसं वे० वे० ?, गो० ! सारी
 रपि वे० वे० माणसंपि वे० वे० सारीरमाणसंपि वे० वे०, एवं जाव वेमाणिया, नवरं एगिदियविगल्लियया सारीर वे०
 वे० नो माणसं वे० वे० नो सारीरमाणसं वे० वे० । कवविहा णं मंते ! वेयणा पं० ?, गो० ! तिविहा वेयणा पं०, तं०-
 सावा असावा सावासावा, नेरश्या णं मंते ! किं सारं वेदणं वेदंति असातं वे० वे० सामासायं वे० वे० ?, गो० यमा !
 तिविहंपि वे० वे०, एव सबबीवा जाव वेमाणिया । कतिविहा णं मंते ! वेदणा पं० ?, गो० ! तिविहा पं०, स०-दुबखा
 सुहा अदुबखसुहा, नेरश्या णं मंते ! किं दुबखं वेदण वे० वे० पुब्बा, गो० ! दुबखंपि वे० वे० सुहंपि वे० वे० अदुबख
 ममुहपि वे० वे० एवं जाव वेमाणिया । (सूत्र ३२८)

'सीया य दवे'त्यादि, वेदना प्रथमतः शीता चक्षुष्यादुष्णा शीतोष्णा च चक्षुष्या, तदनन्तरं द्रव्येष्वेप्रफालमार्यैर्ष-
 दना चक्षुष्या, तत शारीरी उपलब्धणान्मानसी च येदना धार्या, ततः साता तथा दुःखाः वेदना समेदा चक्षुष्य

तथा ज्ञातव्या भवति, तदनन्तरमाम्युपगमिकी औपक्रमिकी च वेदना वक्ष्यन्तया ज्ञातव्या, ततोऽप्यनन्तर निदा-
 चानिदा वेति, सातमुख्यादीना विशेषमाम्युपगमिक्यादिशब्दानामर्थं त्वग्रे वक्ष्यामः, सातादिवेदनां अधिकृत्य यो
 यिनेयो पश्यते तत्सद्वादिता द्वितीया गाथा—‘सायमसाय’मित्यादि, सर्वे ससारिणः सातामसाता चक्ष्ण्वात् साता
 सातां च वेदनां वेदयन्ते, तथा मुख्यां दुःखा अदुःखासुखा च, तथा विकलेन्द्रिया—एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः तुशब्दस्या
 पिकारार्पसवृधनार्पत्वादसद्विपचेन्द्रियाश्च मानसरहिता—मनोविकलां वेदनां वेदयन्ते, श्रेयास्तु द्विविधोमेव शरीरमनो-
 नियधनां, शरीरी मानसी तदुभयसमुद्भवां वेति मायः, निदाऽनिदादिगतस्तु विद्येपो न सङ्गृहीतो, विचित्र
 त्वात् सूत्रगते । तत्र ‘ययोदेव निर्देश’ इति न्यायात् प्रथमतः शीतादियेदनाः प्रतिपादनार्थमाह—‘कश्चिद्वा णं
 भते !’ इत्यादि, शीता—शीतपुद्गलसम्पर्कसमुत्पत्त्या, एवमुष्णा, या च अययभेदेन शीतोष्णपुद्गलसम्पर्कतः शीता
 उष्णा च सा शीतोष्णा, एनामेव त्रिविधां वेदनां नैरयिकादिचतुर्विधतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—‘नेरश्या ण’मि
 त्यादि, तथाघासु तिसुषु श्चिष्वीपूष्णा वेदना वेदयन्ते, ते हि शीता ये नरकायासाश्च तदाभयमृताः, सर्वतो जग-
 त्प्रसिद्धादिराक्षारातिरिक्षदुप्रतापोष्णपुद्गलसम्मृताः, चतुर्थी तु पङ्गमामिषानायां श्चिष्वीपूष्णां केचिन्नैरयिका
 उष्णवेदनां केचिषु शीतवेदनामनुभवन्ति, तत्रसनरकायासानां शीतोष्णभेदतो द्विधा भेदात्, केवलं ये उष्णवेदनां
 वेदयन्ते ते प्रमृततराः, प्रमृतेषु नरकावासेषूपूष्णभेदनासम्भावात्, इतरे शीतवेदनामनुभवन्तः श्लोकाः, श्लोकतेषु नर-

कावासेषु शीतवेदनासम्भवात्, धूमप्रमायामपि पृथिव्यां केचित् शीतवेदनाकाः केचिदुष्णवेदनाकाः, नवर शीतवेद-
 नाका प्रभूततराः, प्रभूतेषु नरकावासेषु शीतवेदनासम्भवात्, स्रोका उष्णवेदनाः, कतिपयेष्वेव नरकावासेषूष्णवेद-
 नामापात्, अधस्तन्योस्तु द्वयोः पृथिव्योः शीतवेदनामेष नैरयिका अनुभवन्ति, तत्रत्यनैरयिकाणां सर्वेषामुष्णयोनि-
 कत्वात्, नरकाभासाना त्वनुपमदिमानुपकृत्वात्, एतापत्सूत्र चिरन्तनेष्वविप्रतिपद्या श्रूयते, केचिदाचार्याः पुन-
 रेतद्विषयमधिकमपि सूत्र पठन्ति, ततस्तन्मत आह—‘केच एकेक्षीप सुहवीप वेयण मणति’ इति केचिदाचार्या एकै-
 कस्यां पृथिव्यां प्रमनिर्यथनरूपतया वेदनां मणति, यथा मणन्ति तयोपदर्शयन्ति—‘रणज्यमे’त्यादि सुगम, तदेव
 नैरयिकाणां चिन्तिता शीतादिवेदना, सम्प्रत्यसुरकुमाराणा तां चिचितयिपुरिदमाह—‘असुरकुमाराण पुच्छा’
 असुरकुमाराणां शीतादिवेदनाविषये पुच्छासूत्रं च वक्तव्य, ‘असुरकुमारा ण मते ! किं सीय वेदण वेयति उसिण
 वेमण वेयति सीओसिण वेयण वेयति ?, इति भगवानाह—‘गोयमे’त्यादि, शीतामपि वेदनां वेदयन्ते, यदा शीतल
 जलसम्पूर्णं हृदादिसु निमज्जनादिक विदधति, उष्णामपि वेदनां वेदयते यदा कोऽपि महर्दिकस्तत्रातीयोऽन्यजा-
 तीयो वा कोपवशात् विरूपतया दृष्ट्वाऽवलोकमानः शरीरे सन्तापमुत्पादयति, यथा प्रथमोत्पन्नः ईशानेन्द्रो बलि-
 वञ्चाराजधानीषास्त्रभ्यानामसुरकुमाराणामुत्पादितवान्, अन्यथा वा तथाविधोष्णपुद्गलसमृक्काशुष्णवेदनामनुभव-
 त्तो वेदितव्याः, यदा त्ववयवभेदेन शीतपुद्गलसम्पर्क उष्णपुद्गलसम्पर्कश्चोपजायते तथा शीतोष्णां वेदनां वेदयन्ते,

ननु उपयोगः क्रमेण जीषानां भवति, तथास्याभाव्यात्, कथमत्र शीतोष्णवेदनानुभवो युगपत् प्रख्याप्यते इति?,
उच्यते, इहापि वेदनानुभवः क्रमेणैव, तथाजीवसाभाव्यात्, केवलं शीतोष्णवेदनाहेतुपुद्गलसम्पर्को युगपदुपजायत
इति सूक्ष्माशुसधारिणमुपयोगक्रममनपेक्ष्य यथैव ते वेदयमाना युगपदभिमन्यन्ते तथैव प्रतिपादितमिति न कश्चि
दोप, सामान्यतः सूत्रस्य प्रवृत्तत्वात्, 'एव जाव पेमाणिय'चि एव—असुरोक्तेन प्रकारेण यावद् वैमानिकास्त्रायत्
सूत्रं पठन्त्य, तथैवम्—'पुढयिकाइया ण भते ! किं सीय वेयण वेयति उसिण वे० वे० सीओसिण वेयणं वेयति !,
गो० ! सीयपि वे० वे० उसिणपि वे० वे० सीतोसिणपि वे० वेयति' इत्यादि, तत्र पृथिवीफायिकादयो मनुष्यपर्ये-
षसानाः शीतवेदनां हिमादिप्रपातेऽभिवेदयमाना वेदितव्याः उष्णवेदनामभ्यादिसम्पर्के शीतोष्णवेदनामप्यवशः
शीतोष्णपुद्गलसम्यन्धे इति, व्यन्तरज्योतिष्क्येमानिकास्त्वष्टुरकुमारवत् भावनीयाः । उक्ता शीतादिमेवात् त्रिविधा
वेदना, सम्प्रति तामेव वेदनां प्रकारातरेणाभिधित्सुः प्रश्ननिर्घनसूत्रे आह—'कश्चिहा ण भते' इत्यादि, इह
वेदना द्रव्यक्षेत्रकालमायसामग्रीबशादुत्पद्यते, सर्वस्यापि वस्तुनो द्रव्यादिसामग्रीयशादुत्पद्यमानत्वात्, तत्र यदाऽ-
स्यैव वेदना पुद्गलद्रव्यसम्यग्धमधिकृत्य चिन्त्यते तदा द्रव्यवेदना, द्रव्यतो वेदना द्रव्यवेदना, नारकाद्युपपातक्षेत्रम-
धिकृत्य चिन्त्यमाना क्षेत्रवेदना, नारकादिसर्वकालसम्यग्धेन विवक्ष्यमाणा कालवेदना, वेदनीयकर्मादयादुपजायमा-
नत्वेन परिभाष्यमाना सावेदना, एतामेव चतुर्यिधां वेदनां चतुर्विधसतिदण्डक्रमेण चिन्तयति—'नेरइया ण भते !

किं वषतो वेयण वेदति' इत्यादि, सफलमपि सुगम । प्रकारान्तरेण वेदनांपि प्रतिपिपादयिषुः प्रमनिर्वचनसूत्रे
 आह—'कश्चिद्वा ण भते !' इत्यादि, शरीरे भवा शारीरी मनसि भवा मानसी तदुभयमवा शारीरमानसी, शारीरी
 च मानसी च शारीरमानसी, 'पुवत्कर्मधारय' इति पुषद्भावः, एतामेव चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—'नेर-
 इया ण भते ! किं सारीर वेयण वेदति' इत्यादि, तत्र यदा परस्परोधीरणतः परमापार्थिकोदीरणतो वा क्षेत्रानुभा
 यतो वा शरीरे पीडामनुभवन्ति तदा शारीरी वेदनां वेदयन्ते, यदा तु केषल मनसि दुःख परिभावयन्ति पाम्बाल्य
 वा मयसात्सीय दुष्कर्मकारिणमनुसृत्य पश्चात्तापमतीष कुर्वते तदा मानसी वेदनां वेदयन्ते, यदा तु शरीरे मनसि
 दोषप्रकारेण युगपत् पीडां अनुभवन्ति तदा शारीरमानसी, इहापि वेदनानुभावः क्रमेणैव केषल वियथिततावत्का
 लमध्ये शरीरे च पीडामनुभवन्ति मनसि च एतापन्त काल एकं वियथित्वा युगपच्छरीरमनःपीडानुभवः प्रतिपा
 दित इत्यबोपः, 'एव जाप येमाणिया' इत्यादि, एष—'नैरयिकोक्तेन प्रकारेण सूत्र तावद् षक्य यावद्भैमानिकाः,
 नयरमेकेन्द्रियकलेत्रयाः शारीरी वेदना वेदयन्ते न मानसी, तेषां मनसोऽभायात्, ततस्तदनुसारेण तद्विषय सूत्र
 यक्य । प्रकारान्तरेण वेदनामभिधित्तुः प्रमनिर्वचनसूत्रे आह—'कश्चिद्वा णं भते !' इत्यादि, तत्र साता-सुख-
 रूपा असाता—दु खरूपा सातासाता-सुखदुःखात्मिका, एतामेव नैरयिकादिचतुर्विधतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति-
 'नैरइया ण'मित्यादि, तत्र तीर्थङ्करजन्मादिकाले सातवेदनां वेदयन्ते, शेषकालमसातवेदनां वेदयन्ते, यदा तु पूर्वस-

श्रुतिको देवो दानवो षा वचनासृतेः सिध्यति तदा मनसि सात शरीरे सु क्षेत्रानुमायतोऽसात यद्विषा मनसेष तद-
 र्शनतः तद्वचनश्रवणतश्च सात पश्चात्सापानुमपनतस्त्वसातमिति तदा सातासातवेदनामनुभवन्ति, अत्रापि तावन्त
 विषयितकालमेक विषयित्वा सातासातानुभवो युगपत् प्रतिपादित, परमार्थतस्तु क्रमेणैव च यद्विस्तव्य इति, 'एव'-
 मित्यादि, एव-नैरथिकोक्तप्रकारेण सर्वे जीवास्त्राषट्कस्या याषट्कैमानिकाः, तत्र वृषिव्यादयो यावन्नाद्याप्युपप्रवः
 सन्निपतति ताषत् सातवेदनां वेदयन्ते उपद्रवसम्प्राते त्वसातवेदनामययभेदेनोपद्रवसम्प्रातमावे सातासातवेदनां,
 व्यन्तरज्योतिष्कैमानिका देवाः सुखमनुभवन्त सातवेदनां व्यवनादिकाळे त्वसातवेदनां परविभ्रुतिवर्द्धनतो मात्स
 र्योद्यनुभवे स्वतन्मदेवीपरिव्यज्ञायनुभवे च युगयज्जायमाने सातासातवेदनां वेदयन्ते इति । भूयः प्रकारान्तरेण
 एतामेव प्रतिपादयन् प्रश्ननिर्णयनसूत्रे आह—'कथिद्या ण मते !' इत्यादि, या वेदना नैकान्तेन दुःखा मणिनु
 श्रययते सुखस्यापि मायात् नापि सुखा दुःखस्यापि भायात् सा अदुःखसुखा सुखदुःखात्मिका इत्यर्थः, अथ साता-
 सातयोः सुखदुःखयोश्च परस्पर कः प्रतिविधेयः ?, उच्यते, ये क्रमेणोदपप्राप्तवेदनीयकर्मपुद्गलानुभवतः सातासाते
 ते सातासाते उच्यते, ये पुनः परोदीर्यमाणवेदनारूपे सातासाते ते सुखदुःखे इति, एतामेव चतुर्विधतिवण्टकक्रमेण
 चि तयति-नैरथ्या ण'मित्यादि ॥ वेदनामेव प्रकारान्तरेण चिन्तयन्नाह—

कथिचिरा णं मदे ! वेदणा पं० ?, गो० ! दुषिद्या वेयणा पं०, सं०—अम्भोवगमिया य उवकमिया य, नैरथ्या ण मदे !

अ०मोवगमिर्यं वे० वे० उवक्कमिर्यं वे० वे० उवक्कमिर्यं वे० वे०, एवञ्च वे० वे०
 त्रिदिया, पंधिदियतिरिक्खल्लोणिया मणूसा य दुविहपि वे० वे०, बाणमंतजोत्तिसियवेमाणिया जहा नेरइया (सुत्रं ३२९)
 'कतिचिहा ण मते !' इत्यादि, तत्राम्युपगमिकी नाम मा स्वयमस्युपगम्यते, यथा सायुमिः केयोह्वुच्चनातापना-
 दिभिः शरीरपीडा, अम्युपगमेन—स्वयमज्ञीकारेण निर्धृत्वा माम्युपगमिकीति श्युत्पत्तेः, उपक्रमणमुपक्रम —स्वयमेव
 समीपे भवनमुदीरणाकरणेन वा समीपानयन तेन निर्धृत्वा औपक्रमिकी, स्वयमुदीर्णस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमु
 पनीतस्य वेदनीयकर्मणो विपाकानुभवनेन निर्धृत्वा इत्यर्थः, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विविधामपि वेदनां वेद-
 यन्ते, सम्यग्दर्शा पञ्चेन्द्रियतिरिक्खां मनुष्याणां च कर्मक्षपणार्थमाम्युपगमिण्या अपि वेदनाया सम्भवात्, श्रेयास्त्वौ-
 पक्रमिकीभ्य वेदनां वेदयन्ते नाम्युपगमिकी, पृथिव्यतेजोषायुपनस्यतिद्वित्रिचत्वरिन्द्रियाणां मनोषिकलतया विवे-
 कामायतस्त्वथाप्रतिपक्षेणमावात्, नारकमयनपतिभ्य तरज्योतिष्कैमानिकानां च तयामवस्थामाव्यादिति, एतदेव
 सुप्रकृष्ट् प्रतिपादयति—'नेरइया णं मते !' इत्यादि सुगम । पुनः प्रकारान्तरेण वेदनाभेवाभित्सुराह—

कतिचिहा ण मते ! वेदना पं० !, गो० ! बुविहा वेदना पं०, तं०—निदाय अणिदाय, नेरइया णं मते ! किं निदायं वेयणं
 वेदयंते अणिदाय वे० वे० !, गो० ! निदायंपि वे० वे० अणिदायंपि वेदणं वे०, से केणट्ठेण मते ! एवं पु०—नेरइया निदा-
 यपि अनिदायपि वे० वे० !, गो० ! नेरइया दुविहा पं०, तं०—सण्णीयूया य असण्णीयूया य, तरय ण जे से सण्णिभूया

से णं निदायंषि वे० वे०, तत्प णं ले से असुष्णीभूता ते ण अणिदायं वेदणं वे०, से तणह्णेण० ऽ, गो० ! एव नेरइया
 निदायंषि वेयणं वे० अपिदायपि वे० वे०, एवं जाव थपियकुमारा, पुढविकाइयाणं पुच्छा, गो० ! नो निदाय थ० वे०
 अणिदायं वे० वे०, से केणह्ण मते ! एवं० पुढवीकाइया नो निदाय वे० वे० अलिदायं वे० ऽ, गो० ! पुढविकाइया
 सवे असुष्णी असुष्णियमूय अणिदायं वे० वे०, से तणह्ण गो० ! एवं० पुढविकाइया नो निदायं वे० वे०, अपिदायं वे०
 वे०, एवं जाव चठरिदिया, पच्चिदियतिरिक्खजोगिया मणूसा धाणमठरा जहा नेरइया, जोइसियाण पुच्छा, गो० ! नि-
 दायपि वेयण वे० वे० अणिदायंषि वेयणं वेद०, से केणह्णेणं मते ! एवं बु०—जोइसिया निदायंषि० अणिदायपि वेयणं वेदं-
 ति ऽ, गो० ! जोइसिया दुविदा प०, तं०—माइभिच्छरिद्धिउववण्णगा य अमाइसम्मरिद्धिउववण्णगा य, तत्प ण ले वे माइ-
 मिच्छरिद्धिउववण्णगा ते णं अथिदायं वेयण वेयति, तत्प णं ले ते अमाइसम्मरिद्धिउ० से णं निदायं वे० वे०, से एवेण-
 ह्णेणं गो० ! एव० जोइसिया दुविदंषि वेदणं वे०, एवं वेमाणियाधि ॥ (सूत्रं ३३०) ॥ पण्णवणाय वेयणापयं समत्तं ॥३५॥

'कतिथिदा ण मते !' इत्यादि, निदा थ अनिदा च, तत्र नितरां निश्चित वा सम्यक् दीयते चित्तमस्यामिति
 निदा, यदुलाधिकाराद् 'उपसर्गादात्' इत्यधिकरणे धञ्, सामान्येन चित्तवती सम्यग्भवेकवती वा इत्यर्थः, इतरा
 त्यनिदा—चित्तधिकला सम्यग्भवेकफिकला वा, एतामेव चतुर्विधसिद्धिदण्डकक्रमेण प्रसिपादयति—'नेरइया ण'मित्यादि,
 द्विथिया हि नेरपिका—सन्निभूता अंसन्निभूताथ, तत्र ये ते सन्निभ्य तत्पप्राप्ते सन्निभूताः, ये त्वसन्निभ्यस्वेऽस-

ङ्किपाः—मायिमिथ्यादृष्टपुपपन्नकाः अमायिसम्यग्दृष्टपुपपन्नकाश्च, तत्र मायानिर्धत्तित यत्कर्म मिथ्यात्वादिकं तद-
 यि माया, कार्ये कारणोपचारात्, माया विद्यते येषां ते मायिनः, अत एव मिथ्यात्वोदयात् मिथ्या—विपर्ययत्वा दृष्टिः—
 वस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयो मायिनश्च ते मिथ्यादृष्टयश्च मायिमिथ्यादृष्टयश्चे च ते उपपन्नकाश्च मायिमि-
 थ्यादृष्टपुपपन्नकाः तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्टपुपपन्नकाः, तत्र ये ते मायिमिथ्यादृष्टपुपपन्नकास्तेऽपि मिथ्यादृष्टित्वा-
 देव प्रत्ययिराधनातोऽज्ञानतपोपन्नाहा पयमेवयिधा वत्पन्ना इति न जानते, ततः सम्यग्गुणभावस्थितपरिज्ञानाभावाद्
 निर्धा वेदना वेदयमानास्ते वेदितव्याः, ये त्वमायिसम्यग्दृष्टपुपपन्नास्ते सम्यग्बुद्धित्वात् यथावस्थित स्वरूपं जानन्ति,
 ततो यां काश्चन वेदनां वेदयन्ते तां सर्वाभपि निवामिति, 'एव एव वेमाणियापि' इति एव—ज्योतिष्कोक्तेन
 प्रकृतेण वेमानिका अपि निवामनिर्वा च वेदनां वेदयमाना वेदितव्याः, तेषामपि मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्टिमेवतो ङ्कि-
 विद्यत्वात् ॥ इति श्रीमल्लयगिरिविरचितार्था प्रज्ञापनाटीकायां वेदनाख्य पञ्चत्रिंशत्तम पद समाप्तं ॥ ३५ ॥

अथ पट्टत्रिंशत्तम समुद्घाताख्य पत्र ॥ ३६ ॥

तदेव व्याख्यात पञ्चत्रिंशत्तम पद, सम्प्रति पट्टत्रिंशत्तममारभ्यते, तस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरपदे गतिपरिणामविद्येयो वेदना प्रतिपादिता, इहापि गतिपरिणामविशेष एव समुद्घातमित्यलते, तत्र समुद्घातयकव्य-
ताविषये इयमादौ समुद्घातिगाया—

वेयणक्त्सायमरणे वेवविषयेवए य आहारे । केवल्लिए केव मवे जीवमणुस्साण सचेव ॥ १ ॥

‘वेयणे’त्यादि, इह समुद्घाता सह सयन्ति, तद्यथा—‘वेयणकसायमरणे’ इति, वेदन कपायाम्भ मरण च वेदन-
कपायमरण समाहारो इन्द्रसस्मिन् विषये त्रयः समुद्घाता भवन्ति, तद्यथा—वेदनासमुद्घातः कपायसमुद्घातो
मरणसमुद्घातश्च, ‘वेवविषय’सि वैकृत्यविषयमर्तुर्यः समुद्घातः, तैजसः पञ्चमः समुद्घातः, पठ आहार इति—
आहारकशरीरविषयः, सप्तम केवल्लिक—केवल्लिपु भवति, ‘जीवमणुस्साण सत्तेय’सि सामान्यतो जीवचिन्ताया
मनुष्यशरचिन्ताया सत्तेव—सप्तपरिमाणाः समुद्घाता षकल्याः, न न्यूनाः, सप्तानामपि तत्र सम्भवात्, ‘सत्तेव’सि
एयकारोऽत्र परिमाणे, वर्धते च परिमाणे एवञ्चब्दः, यवाह शाकटायनन्यासकृत्—‘एवोऽथधारणपृथक्त्वपरिमाणे-

च्य'ति, श्रेयद्वारचिन्तायां तु ययासम्भव वाच्याः, ते धाम्ने स्वयमेव सूत्रकृताऽभिधास्यन्ते इत्येव सूत्रद्विगिगायासहे-
 पार्यं । अप्यसमुद्घात इति कः शब्दार्थः ? उच्यते, समित्येकीभावे उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समु-
 द्घात', केन सह एकीभाषगमनमिति चेत्, उच्यते, अर्थोद्भेदनादिभिः, तथाहि—यदाऽऽत्मा वेदनाविसमुद्घात
 गतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति, नान्यज्ञानपरिणतः, प्राबल्येन कथं घात इति चेत्, उ-
 च्यते, इह वेदनाविसमुद्घातपरिणतो घट्टन् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यानुदीरणकारणेनाक्लृब्योद-
 याबलिकायां प्रधिष्यानुभूय च निर्जरयति, आत्मप्रवेशैस्सह सच्चिऋष्टान् सातयतीति भावः, 'पुषकयकम्मसाङ्गण तु
 निज्वरा' [पूर्वकृतकर्मघाटन तु निर्जरा] इति वचनात्, तथाहि—वेदनासमुद्घातोऽसद्वेद्यकर्माश्रयः, कपायसमुद्-
 घातः कपायाख्यचारित्र्यमोहनीयकर्माश्रय, मारणान्तिकसमुद्घातः अन्तर्मुद्घर्चश्रेयायुःकर्माश्रयः, वैकुण्ठिकैतजसाहार-
 कसमुद्घाता यथाक्रम वैक्रियशरीरैजसशरीराहारकशरीरनामकर्माश्रयाः, केवलिसमुद्घातः सदसद्वेद्यशुभाशुभ-
 नामोघनीशैर्गोत्रकर्माश्रयः, तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा असातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिश्चात करोति, तथाहि—
 वेदनापीठितो जीवः सप्रदेशानन्तानन्तकर्मस्कन्धषेष्टितान् शरीराद्द्विरपि विधिपति, तेन प्रवेशैर्बन्धनजठरादिरन्त्रा-
 णि कर्णस्कथापपान्तरालानि चापूर्व्यायामतो विसरतम शरीरमात्र क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुद्घर्चं यावद्वसिष्ठते, तस्मि-
 न्धान्तर्मुद्घर्चे प्रभूतासात्वावेदनीयकर्मपुद्गलपरिश्चातं करोति, कपायसमुद्घातसमुद्घतः कपायाख्यचारित्र्यमोहनीयकर्म-

पुद्गलपरिशात विघट्टे, तथाहि—कपायोदपसमाकुलो जीवः प्रदेशान् यद्विधिर्विधिपति, तैः प्रदेशैर्बन्धनोदरादिरन्प्राणि कर्ण-
 स्कृधाद्यन्तराखानि चापूर्वोयामतो विस्तरतश्च देहमात्र क्षेत्रमभिव्याप्य वर्धते, तथाभूतम् प्रभूतान् कपायकर्मपुद्गलान्
 परिशातयति, एष मरणसमुद्घातगत आयुःकर्मपुद्गलान् परिशातयति, नखर मरणसमुद्घातगतो विधिसत्त्वप्रदेशो
 यदनोदराविर प्राणि स्फुधाद्यपान्तराखानि चापूर्वं पिष्कम्मबाहल्याभ्यां स्वशरीरप्रमाणमायामतः स्वशरीरातिरेकतो
 जघन्यतोऽङ्गुलासङ्घेयमाग उत्कर्षतोऽसङ्घेयानि योजनान्येकविंशति क्षेत्रमभिव्याप्य वर्धत इति यकम्प्य, नैक्रियसमुद्घा-
 तगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद्विनिष्कास्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः सङ्घेययोजनप्रमाणं दण्ड
 निसृजति, निसृज्य च ययास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्धत् ज्ञातयति, तथा चोक्तम्—'वेदधियससुग्घापण
 समोदणश्च समोदणित्वा सखिज्वाश्च जोयणाश्च दद निसिरश्च, निसिरिश्चा महाबायोरे पुगले परिसाचेद्' इति, एवं तैजसा-
 हारसमुद्घातापि भावनीयो, नखर तैजससमुद्घातस्त्रेजोलेस्याविनिर्गमकाले तैजसनामकर्मपुद्गलपरिशातदंष्टुः, बाह्यार-
 कसमुद्घातगतस्त्याहारशरीरनामकर्मपुद्गलान् परिशातयतीति, केवलिसमुद्घातगतः केवली सदसङ्घेयादिकर्मपुद्ग
 लपरिशात करोति, स च यया कुरुते तथा विनेयजनानुप्रदाय माष्यते इति, केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः, स च
 कुर्षन् केवली प्रथमसमये पाहल्पतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्त आत्मप्रदेशानां दण्डमारचयति, द्विती-
 यसमये पूर्वापर दक्षिणोत्तर वा कपाट तृतीये मथान चतुर्थेऽवकाशान्तराणां पूरण पञ्चमेऽवकाशान्तराणां संहार

पठे मयः सप्तमे क्पाटस्य अष्टमे स्वन्त्रीरस्यो मयति, वस्यति च—“पठमे समये दृढ करोई, षीए क्वाड करोई”
 इत्यादि, तत्र दण्डसमयात् प्राक् या पत्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा धेवनीयनामगोत्राणां स्थितिरासीत् तस्या पुनरुपा
 असङ्ख्येयमागाः क्रियन्ते, ततो दण्डसमये दण्ड कुर्वन् असङ्ख्येयान् मागान् हन्ति, एकोऽसङ्ख्येयो मागोऽवसतिष्ठते,
 यत्र प्राकर्मत्रयस्यापि रसस्रस्याप्यनन्ता मागाः क्रियन्ते, ततस्त्रिंशन् दण्डसमये असातधेवनीयः प्रथमवर्जसस्थान ६
 सहननययका ११ प्रथमवर्णादिचतुष्टयो १५ पषाता १६ प्रथमविद्यायोगति १७ दुःस्वर १८ दुर्भगा १९ स्थिरा-
 २० पर्यासका २१ शुभा २२ नारेया २३ यञ्च कीर्ति २४ नीचैर्गोत्ररूपाणा २५ पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तान्
 मागान् हन्ति, एकोऽनन्तमागोऽवसतिष्ठते, तस्त्रिंशच्च ६ समये सातधेवनीय १ देवगति २ मनुष्यगति ३ देवानु-
 पूर्णा ४ मनुष्यानुपूर्णा ५ पञ्चेत्रियजाति ६ धरीरपञ्चको ११ पाङ्गत्रय १४ प्रथमसस्थान १५ सहनन १६ प्रथमव-
 र्णादिचतुष्टया २० गुरुत्पु २१ पराघातोऽरञ्छास २३ प्रथमविद्यायोगति २४ त्रस २५ याधर २६ पर्यास २७ प्रत्ये-
 कात्पयो २९ षोड ३० स्थिर ३१ शुभ ३२ सुमग ३३ सुसरा ३४ देय ३५ यञ्चःकीर्ति ३६ निर्माण ३७ तीर्थकरो-
 ३७ वैर्गोत्ररूपाणा ३९ मेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुमागोऽप्रथमप्रकृत्यनुमागमभ्यभ्रवेशेनेनोपहृज्यते, समुद्रवा-
 तमाहारिन्पमेतत्, तस्य चोद्धरितस्य स्थितेरसङ्ख्येयमागस्यानुमागस्य चानन्तमागस्य पुनर्नर्पाक्रम असङ्ख्येया अनन्ताश्च
 मागाः क्रियन्ते, ततो द्वितीये क्पाटसमये स्थितेरसङ्ख्येयान् मागान् हन्ति, एकोऽवसतिष्ठते, अनुमागस्य चानन्तान्

भागान् हन्ति एकं सुध्वति, अत्राप्यप्रथमप्रकृत्यनुभागमव्यप्रवेक्षनेन प्रथमप्रकृत्यनुभागघातो द्रष्टव्यः, पुनरप्ये-
 तत्समयेऽयश्चिष्टस्य स्थितेरसङ्ख्येयभागस्यानुभागस्य घानन्ततमभागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसङ्ख्येया अनन्ताश्च भागाः
 क्रियन्ते, ततस्तृतीये समये स्थितेरसङ्ख्येयान् भागान् हन्ति, एकं सुध्वति, अत्रुभागस्य घानन्तान् भागान् हन्ति,
 एकमनन्तभागं सुध्वति, अत्रापि प्रथमप्रकृत्यनुभागघातोऽप्रथमप्रकृत्यनुभागमव्यप्रवेक्षनेनाप्येयः, ततः पुनरपि
 तृतीयसमयावश्चिष्टस्य स्थितेरसङ्ख्येयभागस्यानुभागस्य घानन्ततमभागस्य बुद्ध्यया यथाक्रममसङ्ख्येया अनन्ताश्च भागाः
 क्रियन्ते, ततश्चतुर्थसमये स्थितेरसङ्ख्येयान् भागान् हन्ति, एकस्त्रिंशति, अनुभागस्याप्यनन्तान् भागान् हन्त्येकोऽप्य-
 द्विष्यते, प्रथमप्रकृत्यनुभागघातश्च पूर्ववदप्येयः, एव च स्थितिघातादि कुर्वतश्चतुर्थसमये स्वप्रदेशापुरितसमस्त-
 लोफस्य भगवतः केवलिनो येदनीयादिफर्मत्रयस्थितिरायुषः सङ्ख्येयगुणा जाता, अनुभागस्त्वद्याप्यनन्तगुणः, चतुर्थ-
 समयावश्चिष्टस्य च स्थितेरसङ्ख्येयभागस्यानुभागस्य घानन्ततमभागस्य भूयोऽपि बुद्ध्या यथाक्रमं सङ्ख्येया अनन्ताश्च
 भागाः क्रियन्ते, ततोऽयकाद्यान्तरसंहारसमये स्थिते सङ्ख्येयभागान् हन्ति, एकं सङ्ख्येयभागं श्रेणीफरोति, अनु-
 भागस्यानन्तान् भागान् हन्ति एकं सुध्वति, एवमेतेषु पञ्चसु दण्डादिसमयेषु प्रत्येकं सामयिकं कण्ठकशुत्कीर्णं,
 समये २ स्थितिकण्ठकानुभागकण्ठकघातनात्, अतः परं पष्ठसमयादारभ्य स्थितिकण्ठकमनुभागकण्ठक घान्तसु-
 हर्षेण कालेन विनाशयति, प्रथममन्वीभायात्, पष्ठादिषु च समयेषु कण्ठकस्य प्रतिसमयमेकैकं शकलं ताषडु-

त्किरति याधदन्तर्मुहर्चचरमसमये सरुलमपि तत्कण्ठकमुत्कीर्णं भयति, एवमान्तमौहर्चिकानि स्थितिकण्ठकास्य-
 नुभागकण्ठकानि च पातयन् तायदेदितन्यः यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमयः, सर्वाण्यपि चामूनि स्थित्यनुभाग-
 कण्ठकान्यसद्वैयान्यथगतभ्यानीति हृत प्रसङ्गेन, प्रकृत प्रस्तुतः । तत्र सप्रद्वियगायोक्तमर्थं स्पष्टयन् प्रथमतः समुद्र-
 घातसद्वैयान्यपिथ प्रससूत्रमाह—

कति ७ मते ! समुद्रघाता पं० !, गो० ! सत् समुद्रघाता पं०, तं०—वेदणासमुद्रघाते १ कसायसमुद्रघाते २ मारुणवियससु०
 ३ वेजवियस० ४ तेयास० ५ आहारस० ६ केवलिसमुद्रघाते ७ । वेदणासमुद्रघाते ८ । कतिसमइए पं० !, गो० !
 अंसखेजसमइए अंतोमुद्रुधित पं०, एव ज्ञाव आहारसमुद्रघाते, केवलिसमुद्रघाते ९ । कतिसमइए पं० !, गो० !
 पट्टसमइए पं० । नेरइयाणं मते ! कति समुद्रघाता पं० !, गो० ! चचारि समुद्रघाता पं०, तं०—वेदणासमुद्रघाते कसायस०
 मारुणवियस० वेजवियस०, अतुरकुमारणं मते ! कति समुद्रघाता पं० !, गो० ! पश्च समुद्रघाता पं०, तं०—वेदणास०
 कसायस० मारुणवियस० वेजवियस० तेयासमुद्रघाते, एव ज्ञाव यणियकुमारणं, पुढविकारयाणं मते ! कति समुद्रघाता
 पं० !, गो० ! किण्णि समुद्रघाता पं०, तं०—वेदणास० कसायस० मारुणवियस०, एषं ज्ञाव चउरिबियाणं, नवरं षउकर
 इयाणं चचारि समुद्रघाता पं०, तं०—वेदणास० कसायस० मारुणवियस०, वेठवियस०, पंचिवियतिरियखुजोगियाणं
 ज्ञाव वेमावियाणं मते ! कति समुद्रघाता पं० !, गो० ! पश्च समुद्रघाता पं०, तं०—वेदणास० कसायस० मारुणवियस०

वेठवियस० सेयास०, नवरं मपूत्राणं सचचिद्रे समुग्धाए पं०, तं०-वेवणास० कृतायस० मारुणवियस० वेठ० तेपा०
 आहार० केवलिसमुग्धाते (सूत्रं ३३१)

‘कृ ण’मित्यादि, कृति-किपरिमाणा षमिति वाक्यलङ्कारे ‘भवन्ते’ति भगवतो वर्द्धमानस्वामिन आमभ्रण,
 भद-तत्त्वं च भगवतः परमकल्याणयोगित्वात्, यद्विया मवा-तेति प्रष्टव्य, सकलससारपर्यन्तवर्चित्वात्, अथवा
 मया-त ! इहपरलोकाविभेदभिन्नसप्तप्रकारमयविनाशकत्वात्, समुद्घाताः-उक्थञ्चद्वार्याः प्रञ्जसाः, भगवानाह-
 ‘गोयमे’त्यादि, गौतम ! सप्त समुद्घाताः प्रञ्जसाः, तद्यथा-वेदनासमुद्घात इत्यादि, वेदनायाः समुद्घातो वेदना-
 समुद्घात, एष यावदाहारकसमुद्घात इति, ‘केवलिसमुद्घात’ इति केवलिनः समुद्घातः केवलिसमुद्घातः
 सम्प्रति कः समुद्घातः कियन्त कालं यावन्नवतीत्येतन्निरूपणार्थमाह-‘वेयमे’त्यादि, सुयम, नवर ‘जावे’त्यादि,
 एषमुक्त्रकारेणामिलापेनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणतया च समुद्घाताः क्रमेण तावद्वाच्याः यावदाहारकसमुद्घातः, एते
 पश्य्याथा आन्तर्मुहूर्त्तिकाः, केवलिसमुद्घातस्त्वष्टसामयिकः, स चानन्तरमेव भावितः, एतानेव समुद्घातान्
 चतुर्विंशतिवर्णकक्रमेण विचिन्तयिपुराह-‘नेरइयाण’मित्यादि, नेरयिकाणामाद्यामत्वारः, तेषां तेजोलब्ध्याद्वा-
 रकलब्धिकेयलित्यामायतः श्रेयसमुद्घातत्रयासम्भवात्, असुरकुमारादीनां दशानामपि भवनपतीनां तेजोलब्ध्यात्-
 षिपमावात् आधाः पञ्च समुद्घाताः, पृथिवीकायिकायिकतैजस्कायिकबनस्पतिकायिकद्वित्रिचतुरिन्द्रिया-

णामाद्यान्त्रयः, तेषां वैक्रियादिलब्धभावतः उत्तरेषां चतुर्णामपि समुद्रघातानामसम्भवात्, वायुकायिकानामा-
 घातत्यारसोषां वैक्रियलब्धिसम्भवेन वैक्रियसमुद्रघातस्यापि सम्भवात्, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामाद्याः पञ्च,
 केषांचित्तेषां सेजोलब्धेरपि मावात्, मनुष्याणां सप्त, मनुष्येषु सर्वसम्भवात्, म्यन्तरज्योतिष्कैवमानिकानामाद्याः
 पञ्च, वैक्रियतेजोलब्धिभावाद्, उत्तरो तु द्वौ न सम्भवतः, आहारकलब्धिकेवलित्वायोगात् ॥ सम्प्रति चतुर्विंश-
 त्तिदण्डफमधिकृत्य एकैकस्य जीवस्य कति वेदनादयः समुद्रघाता अतीताः कति माषिन इति चिधित्वतियपुराह—

एगमेगस्स णं मंते ! नेरइयस्स केवइया वेदयासमुग्घाया अतीता ? , गो० ! अर्पता, केवइया पुरेबखुढा ? , गो० ! कस्सइ
 अत्थि कस्सइ नत्थि, वस्सत्थि तस्स वइण्णेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेखा वा असंखेखा वा अणत्ता
 वा, एवमयुरइमारस्सपि निरंतरं जाव वेमाणियस्स, एव जाव वेयगसमुग्घाते, एवमेते पंच षड्धीसा दंढगा । एगमेगस्स
 णं भव ! नेरइयस्स केवइया आहारसमुग्घाया अतीता ? , कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, वस्स अत्थि तस्स वइ० एक्को वा
 दो वा उक्को० तिण्णि, केवइया पुरेबखुढा ? , कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, वस्सत्थि वइ० एक्को वा दो वा तिण्णि वा
 उक्को० षणारि, एव निरंतरं जाव वेमाणियस्स, नवरं मणुसस्स अतीतावि पुरेबखुढावि वइहा नेरइयस्स पुरेबखुढा, एगमे-
 गस्स णं मंते ! नेरइयस्स केवत्थिया केवलिसमुग्घाया अतीता ? , गो० ! नत्थि, केवइया पुरेबखुढा ? , गो० ! कस्सइ

अतिय कस्सइ नतिय, अस्ततिय एक्को, एव आव वेमाणिपस्स, नवरं मणुसस्स अतीषा कस्सइ अतिय कस्सइ नतिय,
 अस्ततिय एक्को, एव पुरेक्खवाणि (द्वात्र ३३२)

'एगमेगस्स ण मत्ते !' इत्यादि, एकैकस्य सूत्रे मकारोऽलाक्षणिकः, भवन्त ! नैरयिकस्य सकलमतीत कालमधि-
 कृत्य 'केवइय'त्ति कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीता—अतिक्रान्ताः?, भगवानाह—नौत्तम ! अनन्ताः, नारकादि-
 स्थानानामनन्तद्वयः प्राप्त्यादेकैकस्मिन् नारकादिस्थानप्राप्तिकाले प्रायोऽनेकयो वेदनासमुद्घातानां भावात्, एतच्च
 पादुल्यापेक्षयोन्यते, षड्वो द्वि जीया अनन्तकालमसम्बन्धवारराशेरुक्त्वा वर्धन्ते, ततस्त्वरपेक्षया एकैकस्य नैरयिक-
 स्थानन्ता अतीता वेदनासमुद्घाता उपपद्यन्ते, ये तु स्वोक्तकालमसम्बन्धवारराशेरुक्त्वास्तेषां यथासम्भय सम्भवेया
 असद्वेद्या पा प्रतिपत्तभ्याः, केवल ते कतिपये इति न विषधिताः, 'केवइया पुरेक्खवा'त्ति इदं सूत्रं पाठसूचामात्र,
 सूत्रपाठस्थेयम्—'एगमेगस्स ण मत्ते ! नेरइयस्स केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खवा' ! इति, सुगम, नवरं पुरे-
 अग्रे कृताः—तत्परिणामप्राप्तियोग्यतया व्यपस्थापिताः, सामर्थ्यात् तत्कर्तृजीवेनेति गम्यते, पुरस्कृता—अनागत-
 कालमाविन इति तात्पर्यार्थः, अत्र भगवानाह—कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जय
 न्यत एको द्वौ या त्रयो वा, उत्कर्षत सम्भवेया वा असम्भवेया वा अनन्ता वा, इयमत्र भावना—यो नाम विषधि-
 तप्रश्नमयानन्तरं वेदनासमुद्घातमन्तरेणैव नरकादुद्घातानन्तरमनुव्यमवे वेदनासमुद्घातमप्राप्त एष सेत्सति

तस्य पुरतो वेदनासमुद्घात एकोऽपि नास्ति, यस्तु विषधितप्रस्रसमयानन्तरमायुःश्रेये कियत्काल नरकमवे स्थित्वा तदनन्तर मनुष्यमवभागत्य सेत्सति तस्य एकादिसम्भवाः, सङ्घातकालससारावस्थायिन सङ्घाता असङ्घातकाल-ससारावस्थायिनोऽसङ्घाता अनन्तकालससारावस्थायिनोऽनन्ताः, 'एष'मित्यादि, एष नैरयिकोक्तप्रकारेणासुरकुमारस्यापि यावत् स्रनितकुमारस्य वाच्य, ततश्चतुर्विधतिवण्डकक्रमेण निरन्तर तावद्वाच्य पायद्देमानिकस्य, किमुक्तं भवति?—सर्वेभ्यपि असुरकुमारादिषु स्थानेषु अतीता वेदनासमुद्घाता मनन्ता वाच्या, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जषत्पत्त एको द्वौ वा प्रयो वा उत्कर्षतः सङ्घेया असङ्घेया अनन्ता वा इति वाच्याः, भावनापि पूर्वोक्तानुसारेण स्य परिभाषनीया, एव चतुर्विधतिवण्डकक्रमेण कपायसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातस्रजससमुद्घातश्च प्रत्येक, तत एष पञ्च षटुर्विधतिवण्डकसूत्राणि भवन्ति, तथा वाह—'एषं जाय तेयगसमुग्वाप' इत्यादि, एष वेदनासमुद्घातप्रकारेण श्रेयसमुद्घातेष्वपि प्रत्येक तावद्दफल्न्य यावत्स्रजससमुद्घातः, श्रेय सुगम, 'एगमेगस्स ण'मित्यादि, एकैकस्र भवन्त ! नैरयिकस्य पात्रात् स कलमतीत कालमपेक्ष्य कियन्त आहारकसमुद्घाता भतीताः!, मगधानाह—गौतम ! कस्यापि 'अत्पि'ति अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गप्रथमो, एवाह शकटापनन्यासच्छत्—“अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गप्रथमेति”ति, ततोऽयमर्थः—कस्यापि भतीता आहारकसमुद्घाताः सन्ति कस्यापि न सन्ति, येन पूर्वे मानुष्य प्राञ्च तवाविचसामग्र्यभाषतमनुर्देस्र

पूर्वाणि नाधीतानि, चतुर्दशपूर्वाधिगमे वा आहारकलङ्क्यमावतः तथाविधप्रयोजनाभावतो वा आहारकक्षरीर न
 कृता तस्य न सन्तीति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यतः एको वा द्वौ वा उत्कर्षतस्तु त्रयो, न तु चत्वारः, चतुः-
 श्लवः कृताहारकक्षरीरस्य नरकगमनाभावात्, आह च मूढटीकाकारः—“आहारसमुग्धाया उक्तोसेण तिमि, तदु-
 परि नियमा नरग न गच्छद् जस्स चत्तारि भयन्ति” इति, पुरस्कृता अपि कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र
 यो मानुष्य प्राप्य तथाविधसामग्र्यमायतश्चतुर्दशपूर्वाधिगममाहारकसमुद्घात घान्तरेण सेत्स्यति तस्य न सन्ति,
 शेषस्य तु ययासम्भय जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः, तत ऊर्ध्वमथस्य गत्यन्तरासंक्रमेणाहारक-
 समुद्घातमन्तरेण च सिद्धिगमनमावात्, ‘एष’मित्यादि, एषं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण चतुर्थिञ्चितिवण्डकक्रमेण निर-
 न्तर तापद् वाप्य यायैर्मानिकस्य सूत्र, नवर मनुष्यस्यातीता अपि पुरस्कृता अपि यया नैरयिकस्य पुरस्कृतास्तथा
 वाच्याः, अतीता अपि चत्वारः पुरस्कृता अपि चत्वार उत्कर्षतो वाच्या इत्यर्थः, सूत्रपाठश्चैवम्—‘एगमेगस्स णं
 मणूसस्स मते ! केयइया आहारसमुग्धाया अतीता ?, गोयमा ! कस्सइ अतिय कस्सइ नतिय, जस्स अतिय जइभेजं
 एको वा दो पा तिमि वा उक्तोसेण चत्तारि, केयइया पुरेक्खणा ?, गोयमा ! कस्सइ अतिय कस्सइ नतिय, जस्स
 अतिय जइभेजं एको वा दो पा तिमि वा उक्तोसेण चत्तारि’ अत्र भावना—इह यश्चतुर्थेऽलमाहारकक्षरीरं करोति
 स नियमात् तद्भय एव मुक्तिमासादयति, न गत्यन्तर, कथमेतदवषसीयते इति चेत् ?, उच्यते, सूत्रपौर्वापर्यपर्या-

लोचनात्, तथाहि—यदि चतुर्थैवेलमप्याहारकश्चरीरं कृत्वा गत्यन्तर संक्रामेत ततो नैरयिकादाषन्यतरस्यां गतौ
 उत्कर्षतश्चत्वारोऽप्याहारकस्य समुद्घाता उच्येरन्, न चोच्यन्ते, ततोऽवसीयते—चतुर्थैवेलमाहारकश्चरीरं कृत्वा
 नियमात् तत्रैव एष सुक्तो भवति, न गत्यन्तरगामी, तत्र यः प्रागाहारकश्चरीरं क्वाचनपि न कृतवान् तस्या-
 तीत आहारकसमुद्घातो नास्ति, ततस्तत्रैवैकयोक्तुं 'कस्मिन् नत्पि'ति, यस्यापि सन्ति सोऽपि यदि पूर्वमेकवारमा-
 हारकश्चरीरं कृतवान् तस्यैकोऽतीत आहारकस्य समुद्घातः द्वौ वारौ कृतवतो द्वौ व्रीन् धारान् कृतवतस्यो
 यश्चतुर्थैवेलमाहारकश्चरीरं कृत्वा आहारकसमुद्घाताश्चतुर्थ्यात्प्रतिनिष्ठो वर्धते न चाद्यापि मनुजसर्वं विजहाति
 तस्य चत्वारः, पुरस्कृता अपि समुद्घाताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र यश्चतुर्थैवेलमाहारकश्चरीरं कृत्वा
 आहारकसमुद्घातात् प्रतिनिष्ठो यदिवा पूर्वमष्टताहारकश्चरीरोऽव्ययवा एकवारकृताहारकश्चरीरोऽपि यदिवा
 द्विकृत्यः कृताहारकश्चरीरोऽपि यदिवा त्रिकृत्यः कृताहारकश्चरीरोऽपि तथाविधसामग्र्यमावात् उचरकालमाहारक-
 श्चरीरमश्वैव मुक्तिमवाप्स्यति तस्य पुरस्कृता आहारकसमुद्घाता न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि अघन्यत एको
 वा द्वौ वा त्रयो वा चतुर्षतश्चत्वारः, तत्र एकादिसम्भवः पूर्वोक्तमावनानुसारेण स्य मावनीयः, यस्तु पूर्वकाल-
 मेकवारमपि आहारकश्चरीरं न कृतवान् भव चोत्तरकालं तथाविधसामग्रीभाषतो वावत्सम्भवमाहारकश्चरीरकर्त्तुं
 तस्य चत्वारो न श्येपस्य । सम्प्रति केषलिसमुद्घातपिपय दण्डकसूत्रमाह—'एगमेगस्य च'मित्यादि, एकेकस्य

भदत् ! नैरयिकस्य निरवधिकमतीतं कालमधिकृत्य कियन्तः केवलिसमुद्घाता अतीताः ? , भगवानाह—‘नर्त्य’चि
 नास्त्यतीत एकोऽपि केवलिसमुद्घातः, केवलिसमुद्घातानन्तर वृन्तशुद्धर्षेण नियमतो जीवाः परमपदममुपते, ततो
 यद्यमयिव्यत्केवलिसमुद्घातस्य नरकमेव नागमिष्यद्, अथ च सम्प्रति नरकगामिनो वर्तन्ते तस्मान्नास्त्येकस्या-
 व्यतीतः केवलिसमुद्घातः, ‘केवइया पुरेक्वृष्ट’चि कियन्तः पुरस्कृताः केवलिसमुद्घाता इति प्रश्नः, भगवानाह—
 ‘गोतमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नर्त्य’चि, इह केवलिसमुद्घात एकस्य प्राणिन आकालमेक एव भवति, न द्वित्राः,
 ततोऽस्तीति निपातोऽत्र एक्यवनान्तो वेदितव्यः, ततस्त्रायमर्थ—कस्यापि केवलिसमुद्घातः पुरस्कृतोऽस्ति, यो
 दीर्घतरेणापि कालेन मुक्तिपदप्राप्त्यवसरे धियमस्थितिकर्मा इति, कस्यापि नास्ति, यो मुक्तिपदमवाप्तुमयोग्यो योग्यो
 या केवलिसमुद्घातमन्तरेणैव मुक्तिपद गन्ता, तथा च वक्ष्यति—“अर्गतूण समुग्घायमणंता केवलीजिणा । जरम-
 रणधिप्पमुष्ठा, सिद्धिं धरगं गया ॥ १ ॥” [अगत्या समुद्घातमनन्ताः केवलिनो जिनाः । जरामरणविप्रमुक्ताः
 सिद्धिं धरगतिं गताः ॥ १ ॥] इति, इह अस्तीति निपातः सर्वलिङ्ग्यचन इत्यविदितसिद्धान्तस्य बहुत्वाशङ्कापि कस्य-
 चित् स्यात् ततस्त्रदपनोदार्थमाह—‘जस्स अत्थि’ एको यथास्ति पुरस्कृतः केवलिसमुद्घातस्य एकः, मूयः ससा-
 रामायात्, ‘एव जाय धेमाणियस्स’चि एव-नैरयिकगताभिलाषप्रकारेण चतुर्धिश्रितिवण्टकक्रममनुसृत्य तावद्
 वक्तव्यं यापद्भैमानिकस्य सूत्र, तथेवम्—‘एग्गेगस्स ण मते ! धेमाणियस्स केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ? ,

गोयमा ! नत्पि, केवइया पुरेकखुटा ? , गोयमा ! कस्सइ अत्पि कस्सइ नत्पि, जस्सत्पि एको' इति, तत्रैष चिन्ने-
 यमाह—'नपर'मित्यादि, नयरमय चिन्नेपः—मनुव्यस्य केषलिसमुद्घातस्य चिन्तायामतीतः कस्याप्यस्मि कस्यापि
 नास्मीति वक्तव्यं, तत्र य केवलिसमुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो वर्षते न घायापि मुक्पिदमवाप्नोति तस्मात्स्यतीतः
 केषलिसमुद्घातः, ते च सर्वसङ्ख्या उत्कर्षपदे गतपृथक्त्वप्रमाणा वेदितव्याः, कस्यापि नास्मि अतीतः केषलिस-
 मुद्घातो, यो न समुद्घात गतवान्, ते च सर्वसङ्ख्या असङ्ख्येया द्रष्टव्याः, अतपृथक्त्वव्यतिरेकेभ्यान्येषां सर्वेषाम-
 व्यसम्प्राप्तकेवलिसमुद्घातत्वात्, अत्राप्यस्मीति निपातस्य सर्वलक्षणवचनत्वात्, 'कस्सइ अत्पि कस्सइ नत्पि'
 इत्युक्तौ धटुत्वान्नङ्गा स्यात् ततस्सद्ब्यवच्छेदार्थमाह—यस्य मनुव्यस्यातीतः केषलिसमुद्घातस्य नियमादेको न
 द्विधाः, एकैव समुद्घातेन प्रायः समस्रधातिकर्मजा निर्मूलकापकपितत्वात्, 'एष पुरेकखुटापि' इति एव अतीत
 गतेन प्रकारेण पुरस्कृता अपि केषलिसमुद्घाता षाभ्याः, ते चैषम्—'कस्सइ अत्पि कस्सइ नत्पि, जस्सत्पि एको'
 इति, अत्र माथना पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं माथनीया ॥ तदेवमतीतमनागतं च कालमपिच्छस्य एकैकस्य नैरयिकादेर्वेद-
 नादिसमुद्घातचिन्ता कृता, सम्प्रति नैरयिकादेः प्रत्येक समुदायरूपस्य तच्चिन्तां चिकीर्षुराह—

नैरयानं मंते ! केवइया वेवमासङ्गधाया अतीता !, गो० ! अगंता, केवइया पुरेकखुटा !, गो० ! अर्पता, एवं जाव
 वेमाणियानं, एव चाप तेयगसङ्गघाए, एवं एवेपि पंष षडधीसदंङ्गा, नैरयानं ! मंते ! केवइया आहारणसङ्गधाया

अतीताः, गो० ! असंखेक्षा, केवइया पु० ? , गो० ! असंखेक्षा, एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं वणस्सइक्काइयाणं मणूसाणं य इमं णाणरुपं-वणस्सइक्काइयाणं मते ! केवइया आहारसमुग्घाया अईया ? , गो० ! अर्भता, मणूसाणं मते ! केवइया आहारसमुग्घाया अईया ? , गो० ! सिय संखेक्षा सिय अर्सं, एवं पुरेखटावि । नेरइयाणं मते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ? , गो० ! अत्थि, केवइया पुरेखटा ? , गो० ! असंखेक्षा, एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं वणस्सइमणूसेसु इमं नाणप-वणस्सइक्काइयाणं मते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ? , गो० ! अत्थि, केवइया पुरे० ? , गो० ! अप्पत्ता, मणूसाणं मते ! केवइया केवलिसं अतीता ? , गो० ! सिय अत्थि सिय नत्थि, अइ अत्थि अइण्णेणं एक्खो वा दो वा त्थिण्णि वा, उक्कोसेणं सवणुइरुपं, केयत्ति० पुरेखटा ? , सिय संखेक्षा सिय अर्सं (सूत्रं ३३२)

‘नेरइयाणं’मित्यादि, नेरयिकाणा विषञ्चितप्रश्नसमपभाविनां सर्वेषां समुदायेन भवन्तः । कियन्तो वेदनासमुद्घाता जतीताः ? , भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहुनामनन्तकालसम्यवहारराशेरुत्तथात्, कियन्ताः पुरस्सुताः ? , अत्रापि प्रश्नद्वयपाठः परिपूर्णं एव द्रष्टव्यः—‘नेरइयाणं मते ! केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेखट्ठा’ इति, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहुनामनन्तकालभाषिससारावस्थानमायात्, एव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद् यत्कन्ययाषडैमानिकानां, यथा च वेदनासमुद्घातचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तितः तथा कपायमरणवैक्रियतैजससमुद्घाता अपि चिन्तनीयाः, तथा चाह—‘एवं जाव तेयगसमुग्घाप’ एव च सति एतान्यपि बहुत्वविषयाणि पञ्च

चतुर्विधतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति, एतदेवाह—‘एवमेपि य एव चत्तवीसदण्डगा’ इति, आहारकसमुद्भवात्-
 चिन्तां कुर्वन्नाह—‘नेरइयाण’मित्यादि, अत्र प्रथमसूत्रं सुगम, भगवानाह—गौतम! अचञ्जेयाः, इयमत्र भावना-
 इह नैरयिकाः सर्वदाऽपि प्रथमसमयमाविनः सर्वसङ्ख्याऽप्यसञ्जेयाः, तेषामपि मध्ये कतिपयाः सञ्जातीताः कृतपूर्वा
 हारकसमुद्भवात्तास्त्वतोऽसञ्जेया एव तेषामतीताहारकसमुद्भवाता घटन्ते, नानन्ता नापि सञ्जेयाः, एव पुरस्कृता
 अपि भावनीयाः, एवं चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण तावद्वाप्य यावदेमानिकानां, आह च—‘एव जाव वेमाणियाणं’
 अत्रैव यो विशेषस्य दिवर्द्धेयिपुराह—‘नबर’मित्यादि, नबर धनस्पतिकायिकचिन्तायां मनुष्यचिन्तायां च नैरयिकापे-
 क्षया नानात्वमवसेय, तदेव नानात्वमाह—‘वणफइकाइयाण’मित्यादि, अत्र प्रथमसूत्रं सुगम, भगवानाह—गौतम! अन-
 न्ताः, अनन्तानामधिगतचतुर्दशपूर्वाणां कृताहारकसमुद्भवातानां प्रमादवशतः उपचितससाराणां धनस्पसित्तु भावात्,
 पुरस्कृता अनन्ताः, अनन्तानां धनस्पतिकेकायादुदस्य चतुर्दशपूर्वाधिगमपुरस्सर कृताहारकसमुद्भवातानां मायिसिद्धिगम-
 नभावात्, ‘मशुस्साणं मते!’ इत्यादि, अत्रापि प्रथमसूत्रं प्रतीत, भगवानाह—गौतम! स्वादिति निपातोऽनेकान्तयोती,
 ततोऽयमर्थः—कदाचित् सञ्जेयाः कदाचिद्वसञ्जेयाः, कयमिति वेत्, उच्यते, इह सम्मूर्च्छिमर्गभ्युत्क्रान्तसमुदाय-
 चिन्तायां उत्कृष्टपदे मनुष्या अदृष्टमात्रक्षेत्रे यावान् प्रदेसराशिस्यस्य यत्रप्रथम वर्गमूलं तत् तृतीयवर्गमूलेन गुणित
 सत् यावत्प्रमाणं भवति एतावत्प्रदेसप्रमाणानि खण्डानि घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिष्वनां भेषो यावन्ति यवन्ति

एतावत्प्रमाणा एकहीनाः, ते चातीव श्रेयनारकाविज्जीवराश्रयपेषया श्लोकाः, तत्रापि ये पूर्वभवेषु कृताहारकञ्चरीराशौ
 कतिपयाः, ते च कदाचित् विपश्चितप्रभ्रसमये सङ्क्षेयाः कदाचिदसङ्क्षेयाः, तत उक्तम्—‘सिय सखेञ्जा सिय अस-
 खेञ्जा’ इति, अनागतेऽपि काले विवक्षितप्रभ्रसमयसायिनां मध्ये कतिसङ्ख्या एवाहारकञ्चरीरभारप्लवन्ति तेऽपि कदा
 चित् सङ्क्षेयाः कदाचिदसङ्क्षेयाः, तत आह—‘एव पुरेकखड्गवि’चि एवं भवीतगतेन प्रकारेण धनस्पतिकायिकानां
 मनुष्याणां च पुरस्कृता अपि आहारकसमुद्घाता वेदितव्याः, ते वैयम्—‘धणफ्फकाइयाण मते ! केवइया आहारगसद्यु
 ग्याया पुरेकखडा !, गो० ! अणता, मणुत्साण मते ! केवइया आहारगसमुग्घावा पुरेफ्फडा !, गो० ! सिय सखेञ्जा
 सिय असखेञ्जा’ इति, फेवलिसमुद्घातविषयं प्रभ्रसूत्रमाह—‘नेरइयाण मते !’ इत्यादि सुगम, भगवानाह—गौतम ! न सन्ति
 केषनातीता नैरयिकानां फेवलिसमुद्घाताः, कृतकेवलिसमुद्घातानां नारकादिगमनासम्मवात्, कियन्तः पुरस्कृता
 इति प्रभ्रः, भगवानाह—गौतम ! असङ्क्षेयाः, सर्वदा विवक्षितप्रभ्रसमयसायिनां मध्येऽसङ्क्षेयातानां भाविकेषवलिसमु-
 द्घाततयात्, तथा केषलवेवसोपलब्धेः, एव घटुविञ्चतिदण्डकक्रमेण निरन्तर तावद् वाच्य थाषद् वैमानिकानां सूत्रं,
 तथा चार—‘एव जाय वेमाणियाण’ अत्रैय विशेषमाह—‘नवर’मित्यादि, नवर—धनस्पतिकायिकेषु मनुष्येषु वेद
 वक्ष्यमाणलक्षण नानात्, तदेवाह—‘धणफ्फकाइयाण’मित्यादि, अत्र प्रभ्रसूत्र सुप्रतीतं, उत्तरसूत्रे निर्वचन—अनन्ताः,
 अनन्तानां भाविकेषवलिसमुद्घातानां तत्र भावात्, ‘मणुत्साण’मित्यादि, अप्रापि प्रभ्रसूत्र सुगम, भगवानाह—

गौतम ! स्यात् सन्ति स्यान्न सन्ति, किमुक्त मयति ?—यदा प्रस्रसमये समुद्घातासिद्ध्याः प्राप्यन्ते तदा सन्ति, द्वेषकाल न सन्ति, तत्र 'जइ अतिय'सि यदि प्रस्रसमये कृतकेवलिसमुद्घाता मनुष्यत्वमनुभवन्तः प्राप्यन्ते तदा अप्रन्यत एण्णे ङी प्रयो वा उत्कर्षत दृतपृथक्त्व, एतावतामेककालमुत्कृष्टपदे केयलिनां केयलिसमुद्घातासादनात् 'केयइया पुरेकस्यद'सि कियन्तो मनुष्याणां केवलिसमुद्घाताः पुरस्कृताः ? , मगथानाह—स्यात् सङ्घेयाः स्यादसङ्घेया, मनुष्या दि सम्मूर्च्छिमा गर्भभ्युत्क्रान्ताश्च सर्वसमुदिता उत्कृष्टपदे प्रागुक्तप्रमाणस्यप्रापि विषयित-प्रस्रसमयभाषिनां मण्ये कदाचित्केवलिसमुद्घाताः सङ्घेयाः, यद्दनाममभ्यानां भावात्, कदाचिदसङ्घेयाः, यद्दनां मापिकेयलिसमुद्घातानां भावात् । सम्प्रति एफैकस्य नैरयिकत्वादिमाधेपु वर्चमानस्य प्रत्येकं कति वेदनासमुद्घाता अतीताः कति भाषिन इति निरूपयितुकाम आह—

एगमगस्स णं मंठे ! नेरायस्स नेरायणे केवइया वेदगास० अतीता ? , गो० ! अणंठा, केवइया पुरेस्सुद्धा ? , गो० ! कस्सइ अतिय कस्सइ नतिय, असइ अतिय अइ० एण्णे वा दो वा तियि वा, ठकोसेणं संखेजा वा असखेजा वा अणंठा वा, एवं अमुरकुमारणे जाय वेमाणियणे । एगमेगस्स णं मंठे ! अमुरकुमारस्स नेरायणे केवइया वेदगासङ्घाया अतीता ? , गो० ! अणंठा, केवइया पु० ! , गो० ! कस्सइ अतिय कस्सइ नतिय, असइतिय तस्स सिय स० सिय अ० सिय अणंठा, एगमेगस्स णं मंठे ! अमुरकुमारस्स अमुरकुमारणे केवइया वेदप्पासङ्घाया अतीता ? , गो० ! अणंठा, केवइया पु० ! ,

गो० ! कस्वइ अत्यि कस्वइ नरिय, बस्वत्यि जइ० एको वा दो वा तिष्णि वा उ० संखे० असंखे० अणता वा, एव नाग
 कुमारचेवि जाव वेमाणियचे, एवं बहा० वेयणासमुग्घाणेणं असुरकुमारे नेरइयादिवेमाणियपज्जवसाभेसु मगितो तथा
 नागकुमारादिया अवसेसेसु सट्टाणेसु परद्वानेसु माणितथा जाव वेमाणियस्स वेमायियचे, एवमेवे षडशीसा षडवीसं
 दंडगा भवंति । (सुत्रं ३३३)

‘एगमेगस्स ण’मित्यादि, एकैकस्य भवन्त ! नैरयिकस्य सकलमतीत कालमवधीकृत्य तथा तथा नैरयिकत्वे दुसस्य
 सतः सर्वसङ्ख्या कियन्तः वेदनासमुद्घाता अतीताः?, भगवानाह—गौतम! अनन्ताः, नरकस्थानस्थानन्तद्वः
 प्रासत्वादेकैकस्मिन् नरकमध्ये जघन्यपदेऽपि सङ्ख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात्, ‘केयइया पुरेक्खुठ’त्ति कियन्तो
 भवन्त ! एकैकस्य नैरयिकसाससारमोक्षमनागत कालमवधीकृत्य नैरयिकत्वे मायिनः सतः सर्वसङ्ख्या पुरस्कृता
 वेदनासमुद्घाताः?, भगवानाह—‘गौतम ! कस्वइ अत्यि’इत्यादि, तत्र य आसन्नसृत्युर्वेदनासमुद्घातमप्राप्या-
 न्तिकमरणेन नरकादुद्धृत्य सेत्स्यति तस्य नास्ति नैरयिकत्वे भावी एकोऽपि पुरस्कृतो वेदनासमुद्घातः, श्रेयस्य
 तु सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, एतच्च क्षीणशेषायुषां तद्भवजानामनन्तर सेत्स्यतां प्रष्टव्यं, न
 भूयो नरकपूत्यत्यमानानां, भूयो नरकपूत्यप्यौ जघन्यपदेऽपि सङ्ख्येयानां प्राच्यमाणत्वात्, यदाह मूळ्ठीकाकारः—
 “नरकेषु जघन्यस्थितिपूत्यस्य नियमतः सङ्ख्येया एव वेदनासमुद्घाता भवन्ति, वेदनासमुद्घातप्रचुरत्वान्नारका-

णा"मिति, उत्कर्षतः सङ्घेया असङ्घेया वा अनन्ता वा, तत्र सकृत् नरकेषु जघन्यस्थितिपूतपत्स्यमानस्य सङ्घेयाः
 अनेकगो दीघस्थित्यु असङ्घेया उत्पत्स्यमानस्य असङ्घेयाः अनन्तश्चः उत्पत्स्यमानस्य अनन्ताः, 'एव'मित्यादि, एव-
 नैरधिकगतेनाभिलाषप्रकारेणासुरकुमारत्वेन तदनन्तर बहुविधसिद्धिदण्डकक्रमेण निरन्तर तावद्वाच्य यावद्भैमानिकत्वे,
 तपैयम्—'एगमेगस्स ण मते ! नेरइयस्स असुरकुमाराओ केवइया वेययाससुग्घाया अतीता?, गो० ! अनन्ता,
 केवइया पुरेक्खइया?, गो० ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जइग्गेण एको वा दो वा तित्थि वा उक्को-
 सेण सङ्खेज्जा वा असङ्खेज्जा वा अणता वा' तत्रातीतसुत्रेऽनन्तश्चोऽसुरकुमारत्वस्य प्राप्तत्वादुपपद्यते तत्रावमाप-
 न्नत्सानन्ता अतीता वेदनासमुद्घाताः, पुरस्कृतचिन्तार्या योऽनन्तरमयेन नरकादुद्घतो मानुष्य प्राप्य सेत्स्यति प्राप्नो-
 या परम्परया सकृदसुरकुमारमय न वेदनासमुद्घात गमिष्यति तस्य नास्त्येकोऽपि पुरस्कृतो असुरकुमारत्वे वेदनासमुद्-
 घातः, यस्तु सकृदसुरकुमारत्व प्राप्तः सन् सकृदेव वेदनासमुद्घातं गन्ता तस्य जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, श्रेयस्य
 सङ्घेयान् वारान् असुरकुमारत्वं यासतः सङ्घेया असङ्घेयान् वारान् असङ्घेया अनन्तान् वारान् अनन्ताः, एव बहुविध-
 गतिदण्डकक्रमेण नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तर सुत्रपाठद्वाराद् वक्तव्यो यावद्भैमानिकत्वविषय सुत्र, 'एगमेगस्स
 यन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः?, मग्घानाह—गौतम ! अनन्ता अतीताः, अनन्तयो नैरधिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, एकै-

कस्मिंश्च नैरयिकस्य मधे जघन्यपदेऽपि सङ्क्षेपानां वेदनासमुद्घातानां भाषात्, कियन्तः पुरस्कृताः?, स्यात् सन्ति
 स्यान्न सन्ति, कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति इति भावः, अत्रापीय भाषना—योऽसुरकुमारभाषादुद्घोचो न नरक
 यासति किन्त्यनन्तर परम्परया वा मनुजमव प्राप्य सेत्सति तस्य नैरयिकत्वावस्थामाविनः पुरस्कृता वेदनास-
 मुद्घाता न सन्ति, नैरयिकत्यायस्याया ययासम्मभावात्, यस्तु तत्रयादूर्ध्वं पारम्पर्येण नरक गमिष्यति तस्य सन्ति,
 तत्रापि कस्यचित्सङ्क्षेपाः कस्यचिदसङ्क्षेपाः कस्यचिदनन्ताः, तत्र यः सकृद्वचन्यस्थितिषु मध्ये समुत्पत्स्यते तस्य
 जघन्यपदेऽपि सङ्क्षेपाः, सर्वजघन्यस्थितावपि नरकेषु सङ्क्षेपानां वेदनासमुद्घातानां भाषात्, वेदनाषडुल्लत्यान्नार-
 काणां, असकृद् जघन्यस्थितिषु दीर्घस्थितिषु सकृदसकृद्वा गमने असङ्क्षेपाः, अनन्तशो नरकगमने अनन्ताः, तथा
 एकैकस्य भवन्तः! असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे स्थितस्य सतः सकलभतीतकालमधिकृत्य कियन्तो वेदनासमुद्घाता
 अतीताः?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, पूर्वमप्यनन्तशस्रत्रापस्य प्राप्तत्वात्, प्रतिभव च वेदनासमुद्घातस्य
 प्रायो भाषात्, पुरस्कृतचिन्तायां कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, यस्य प्रशसमयादूर्ध्वमसुरकुमारत्वेऽपि वर्षे-
 मानस्य न मायी वेदनासमुद्घातो नापि तत उद्घस्य मूयोऽप्यसुरकुमारत्वं प्राप्स्यति तस्य न सति, यस्तु सकृत्
 प्राप्स्यति तस्य जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्क्षेपा असङ्क्षेपा अनन्ता वा, सङ्क्षेपान् धारान् उत्प-
 त्स्यमानस्य सङ्क्षेपाः असङ्क्षेपान् धारान् असङ्क्षेपाः अनन्तान् धारान् अनन्ताः, एव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नाग-

कुमारत्यादिसु स्वस्थानेषु असुरकुमारस्य निरन्तरं तायद्वकम्य यायद्वैमानिकत्वे, तथा चाह—‘एवं नागकुमारचेधि’ इत्यादि, तदेवमसुरकुमाराणां वेदनासमुद्घातमिदं, सम्प्रति नागकुमारादिष्वतिवेद्यमाह—‘एष’मित्यादि, उपदर्शिता भिदापेन यथा चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण असुरो नैरयिकादिसु वैमानिकपर्यवसानेषु भयितस्त्रया नागकुमारावयोऽवशेषेषु समस्रेषु स्वस्थानपरस्थानेषु मणितव्या यायद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे, एव चैतानि नैरयिकचतुर्थिस्रतिवण्डकसूत्रादीनि वैमानिकपचतुर्विधतिदण्डकसूत्रपर्यवसानानि चतुर्विधतिः सूत्राणि भवन्ति, तदेव चतुर्विद्यत्या चतुर्विधतिदण्डकसूत्रेर्वेदनासमुद्घातमिदं, सम्प्रति चतुर्विद्यत्यैव चतुर्विधतिदण्डकसूत्रैः कपायसमुद्घात विचिन्तयिपुरिदमाह—

एगमेगस्र णं भते ! नेरइयस्र नेरइयचे केवइया अवीता ? , गो० ! अणंता, केवइया पु० ? , गो० ! क० अरिय क० नरिय, अस्तस्रिय एगुपरियाचे जाव अणंता । एगमेगस्र णं भते ! नेरइयस्र असुरकुमारचे केवइया कसा यसमुग्याया अवीता ? , गोयमा ! अणंता, केवइया पु० ? , गो० ! कस्तति अरिय कस्तति नरिय, अस्तस्रिय स्रिय संखेजा स्रिय असंखेजा स्रिय अणन्ता, एव जाव नेरइयस्र एगुपरियाचे, पुढविकाइयचे एगुपरियाए नेतणं, एवं जाव मणुयचे, षाणमवरण जाहा असुरकुमारचे, जोइसियचे अवीता अणता, पुरेकखुटा कस्तति अरिय कस्तति नरिय, अस्तस्रिय स्रिय असंखेजा स्रिय अणंता, एवं वेमाप्पियचेधि स्रिय असंखेजा स्रिय अणंता, असुरकुमारस्र नेरइयचे अवीता अणता, पुरेसखुटा कस्तति अरिय कस्तति नरिय, अस्तस्रिय स्रिय संखेजा स्रिय असंखेजा स्रिय अणता, असुरकुमारस्र असुरकु-

मारचे अतीवा अर्थता पुरेखळा एगुणरिवा, एव नागकुमारचे जाव निरंतरं वेमाणियचे बहा नेरइयस्स भाभितं तवेव
 भाभितव, एव जाव धणियकुमारस्सवि वेमाणियचे, नवरं सवेसिं सहाणे एगुणरियाए परद्वाने जरेव असुरकुमारस्स, पुढ-
 पिकाइयस्स नेरइयचे जाव धणियकुमारचे अतीवा अर्थता, पुरेखळा कस्सति अस्सि कस्सति नत्थि, बस्सत्थि सिय
 संवेसा सिय असंखेसा सिय अणता, पुढविकाइयस्स पुढविकाइयचे जाव मणुसचे अतीवा अर्थता पुरे० क० अस्सि क०
 नत्थि अस्स अत्थि एगुणरिया, धाणमंतरचे बहा नेरइयचे, ओतिसियवेमाणियचे अतीवा अर्थता, पुरेखळा कस्सइ अत्थि
 कस्सइ नत्थि, अस्स अत्थि सिय असंखेसा सिय अणता, एवं साव मणुसचेवि नेयवं, धाणमंतरवोइसिखेमाणिया बहा असुर
 कुमारा, नवरं सहाणे एगुणरियाए भाभितवे जाव वेमाणियस्स वेमाणियचे, एवं एवे चउवीसा दंडमा, (सुत्रं३३४)

'एगमेगस्स ण'मित्यादि, तत्र नैरयिकस्स नैरयिकत्यविषय प्रश्नसूत्र सुगम, पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यचित् सन्ति
 कस्यचिन्न सन्ति, तत्र यः धीणशेषायुः प्रश्नसमये मयपर्यन्ते वर्धमानः कपायसमुद्धातमप्राप्त एव नरकमयातुहु-
 रयानतर पारम्पर्येण वा सेत्स्यति न मृत्यो नरकवासगामी तस्य न सन्ति पुरस्कृता नैरयिकत्वे कपायसमुद्धाताः,
 शेषस्य तु सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, ते च धीणायुःशेषाणा तन्नाशमाजामवसेयाः, उत्कर्षतः
 सङ्क्षेया असङ्क्षेया वा अनन्ता वा, तत्र सङ्क्षेयवर्षायुःशेषाणां सङ्क्षेयाः असङ्क्षेयवर्षायुःशेषाणामसङ्क्षेयाः, यदि-
 वा सङ्क्षेय जघन्यस्थितौ उत्पत्स्यमानानां सङ्क्षेयाः असङ्क्षेय जघन्यस्थितौ सङ्क्षेयसङ्क्षेयस्थितादुत्पत्समानानामस-

द्रव्येयाः अनन्तश्च उत्पत्समानानामनन्ता, तथा नैरयिकस्येषासुरकुमारत्वविषयेऽतीतसूत्र, तथैव पुरस्कृतसूत्रे 'कस्सइ
 अतिय कस्सइ नत्थि'सि यो नरकादुद्भूतोऽसुरकुमारत्वं न प्राप्सति तस्य न सन्ति पुरस्कृता असुरकुमारत्वविषययाः
 कपायसमुद्घाताः, यस्तु प्राप्सति तस्य सन्ति, ते च जघन्यपदे सङ्घेया जघन्यस्थितावप्यसुरकुमाराणां सङ्घेयानां
 कपायसमुद्घातानां भावात्, लोभादिकपायधदुल्लथात् तेषां, उत्कृष्टपदेऽसङ्घेया अनन्ता वा, तत्र सङ्घदूर्ध्वस्थि-
 तावसङ्घजघन्यस्थितिषु या उत्पत्समानानामसङ्घेयाः, अनन्तश्च उत्पत्समानानामनन्ताः, एव नैरयिकस्य नागकु-
 मारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तर तावद्वक्तव्यं यावत् खनितकुमारत्वे, तथा घाह—'एव जावे'त्यादि, पृथिवीकापि-
 फत्वेऽतीतसूत्र तथैव, पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र यो नरकादुद्भूतो न पृथिवी-
 कायमय गमी तस्य न सन्ति, योऽपि गन्ता तस्यापि जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्घेया असङ्घेया
 वा अनन्ता वा, ते चैव—तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमवान्मनुष्यमवादेवमवाद्वा कपायसमुद्घातसमुद्गतः सन् य एकवार पृथि-
 वीकायिकेषु गन्ता तस्य एको द्वौ धारौ गन्तुर्द्वौ त्रीन् धारान् त्रयः सङ्घेयान् धारान् सङ्घेया असङ्घेयान् धारान्
 असङ्घेया अनन्तान् धारान् अनन्ताः, तथा घाह—'पुढविकाइयसे प्पुत्तरियाप्प नेयव'ति तथा 'एव ताव मणुससे'
 इति एव पृथिवीकायिकगतेनाभिलापप्रकारेण तावद् वक्तव्य भावन्मनुष्यत्वे, तथैवम्—'एगमेगस्स ण भंते!
 नेरइयस्स माउकाइयसे केवइया कसायसमुग्घाया भईया?, गोयमा! जजता, केवइया पुरेक्खवा?, गो०! कस्सइ

अत्यि कत्सद् नत्पि, जस्सत्पि जण्णेण एको वा दो वा त्तिन्नि वा उच्छोसेण सद्धेब्बा वा असद्धेब्बा वा अणत्ता
 वा' एव याधन्मनुष्यसुत्र, तत्रापकायादिधनस्पतिपर्यन्तसुत्रभाषना पृथिवीकायसुत्रवत्, द्वीन्द्रियसुत्रे पुरस्कृतधि-
 न्तार्या अपन्येन एको द्वौ वा त्रयो वेति सकृत् जघन्यस्थितिक द्वीन्द्रियमव प्राप्तुकामस्य, सद्धेयान् धारान् प्राप्नु-
 कामस्य सद्धेयेया असद्धेयानसद्धेयेया अनन्तान् अनन्ताः, एव त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसुत्रे अपि मायनीये, तिर्यक्-
 पद्मेन्द्रियमनुष्यसुत्रविषया त्वेय भाषना—सहस्यमेन्द्रियमव प्राप्तुकामस्य स्वभावत एवात्यकपायस्य जघन्यत एको द्वौ
 त्रयो वा श्रेयस्य सद्धेयान् धारान् तिर्यक्पद्मेन्द्रियमव प्राप्तुकामस्य सद्धेयेया असद्धेयान् धारान् असद्धेयेया जन-
 तान् धारान् अनन्ताः, मनुष्यसुत्रे तु पुरस्कृतविषया भाषनेवं—यो नरकमयादुबृष्टोऽत्यकपायः सन् मनुष्यमव
 प्राप्य कपायसमुद्घातमप्राप्त एव सिद्धिपुर गन्ता तस्य न सन्ति, श्रेयस्य सन्ति, तस्यापि एकं द्वौ त्रीन् धारान्
 कपायसमुद्घातान् प्राप्य सेत्स्यत एको द्वौ त्रयो वा सद्धेयान् भवान् यदिवा एकस्मिन्नपि मवे सद्धेयान् कपाय
 समुद्घातान् गन्तुः सद्धेयेया असद्धेयान् भवान् प्राप्तुकामस्यासद्धेयेयाः अनन्तान् अनन्ताः, 'वाणमतरचे जहा असुर-
 कुमारचे' प्रागुक्त, किमुक्तं भवति!—पुरस्कृतचिन्तार्या एव वक्तव्य—'जस्सत्पि सिय सद्धेब्बा सिय असद्धेब्बा
 सिय अणत्ता वा' इति न त्येकोचरिका वक्तव्याः, व्यन्तराणामप्यसुरकुमारामिष जघ यत्थितावपि सद्धेयानां
 कपायसमुद्घातानां उभ्यमानत्याव, असद्धेयानन्तभावनाप्यसुरकुमारवत्, 'जोइसियचे' इत्यादि, ज्योतिष्क-

त्वेऽतीता भवन्ता वक्तव्याः, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि प्राग्बद् भावनीय, यस्यापि
 सन्ति तस्यापि कस्यचिदसङ्क्षेपाः कस्यचिदवनन्ताः, न तु स्यात् सङ्क्षेपा इति वक्तव्य, कुत इति चेत् ?, उच्यते,
 ज्योतिष्काणां जपन्यपदेऽप्यसङ्क्षेपकालायुक्तया जपन्यतोऽपि असङ्क्षेपानां कपायसमुद्घातानां उच्यमानत्वात्,
 अनन्तद्वयत्र जिगमिषूणामनन्ताः, एष वैमानिकत्वेऽपि पुरस्कृतचिन्तायां स्यावसङ्क्षेपाः स्यावन्ता इति वक्तव्य,
 भायना प्राग्बत् । तदेयं नैरयिकस्य स्वस्थाने परस्थाने च कपायसमुद्घाताच्चिन्तिताः, सम्प्रत्यसमुद्घामारेषु तान्
 चिन्तयित्वा—‘एगमेगस्र ण’मित्यादि, एकैकस्य असुरकुमारस्य नैरयिकत्वे कपायसमुद्घाता अतीता भवन्ताः,
 मायिनः कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभयादुद्घो नरकं न यास्यति तस्य न सन्ति, यस्तु
 यास्यति तस्य सन्ति, तस्यापि जपन्यतः सङ्क्षेपाः, जपन्यस्थिताषपि सङ्क्षेपाना कपायसमुद्घातानां नरकेषु भावात्,
 उत्कर्षतोऽसङ्क्षेपा अनन्ता वा, तत्र जपन्यस्थितिव्यसङ्क्षेपसङ्क्षेपा जिगमिषोरसङ्क्षेपा भवन्तन्तो
 जिगमिषोरनन्ताः, असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे अतीता अनन्ताः, ‘पुरेस्वहा एगुषरिया’ इत्यादि, पुरस्कृतास्तु
 कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारमे पर्यन्तवर्षी न च कपायसमुद्घात याता नापि तत्र प्रव्रष्टो
 मूयोऽसुरकुमारम उष्वा फिन्त्यनन्तर पारम्पर्येण वा सेरस्यति तस्य सन्ति, श्रेयस्य तु न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि
 जपन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्क्षेपा असङ्क्षेपा भवन्ता वा, तत्र एकादशः धीणासुःश्रेयाणां तत्र-

भाजां भूयस्त्रयानुत्पत्समानानामयगन्तन्याः, सङ्घेयादयो नैरयिकत्वे इय भावनीयाः, 'एव'मित्यादि, एष—
 उक्तेन प्रकारेण नागकुमारत्वे तत ऊर्ध्वं चतुर्विधविवर्णकक्रमेण निरन्तरं यावद्दैमानिकत्वे—धैमानिकत्वविषय सूत्र,
 यथा नैरयिकस्य मणित तथैष मणितस्य, किमुक्तं भवति ?—नागकुमारत्वादियु स्वनितकुमारपर्ययसानेषु पुरस्कृत-
 चिन्तायां 'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय सखेज्जा सिय असखेज्जा सिय अणता' पृथिवीकायिक-
 त्यादियु मनुष्यत्वपर्ययसानेषु 'जस्स अत्थि जहन्नेण एद्धो वा दो वा तिस्सि वा उक्कोसेण सखेज्जा वा असखेज्जा वा
 अणता वा' म्यन्तरत्वे 'जस्स अत्थि सिय सखेज्जा सिय असखेज्जा सिय अणता' ज्योतिष्कत्वे 'जस्स अत्थि सिय
 असखेज्जा सिय अणता' धैमानिकत्वेऽप्येवमेवेति वक्तव्यमिति, 'एय जावे'त्यादि, एष—उक्तेन प्रकारेण असुरकुमा-
 रयन्नागकुमारस्य यावत् स्वनितकुमारस्य प्रत्येक यावद् धैमानिकत्वे—धैमानिकत्वविषय सूत्र तावद्भक्तव्य, अत्रैव विशेष-
 माह—नयरं सर्वेषां नागकुमारादीनां स्वनितकुमारपर्ययसानानां स्वस्थाने नियमतः पुरस्कृता एकोचरिकाः, परस्थाने
 यथेयासुरकुमारस्य तथैष वक्तव्याः, 'पुठयिकाइयस्स नेरइयत्ते' इत्यादि, पृथिवीकायिकस्य नैरयिकत्वे यावत् स्वनि-
 तकुमारत्वे अतीता अनन्ताः, अत्र भावना प्रागिय, पुरस्कृता कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र यः पृथिवी-
 कायमयादुद्बुचो नरकेष्वसुरकुमारेषु यावत् स्वनितकुमारेषु न गमिष्यति किन्तु मनुष्यमव प्राप्य सिद्धिं गन्ता तस्य
 न सन्ति, शेषस्य तु सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जयन्त्यतः सङ्घेयाः, जयन्त्यस्थितावपि नरकादियु सङ्घेयानां

न युवति, एत्यपि चउपीसं चउपीसा दंढगा माणियबा । सेयगतमु० सहा मारणसिपस०, णवरं जस्सजसिय, एवं एतेवि
 चउपीसं चउपीसा दंढगा माणितबा । एगमेगस्स णं भते ! नेरइयस्स नेरइयचे केवइया आहारसमुग्घाया अतीता ?,
 गो० ! जसिय, केवइया पु० ?, गो० ! जसिय, एवं जाव धेमाणियचे, नवरं मणूसचे अतीता कस्सइ अरिय कस्सइ
 नतिय, जस्ससिय जइ० एक्को वा दो वा उ० विअि, केवइया पु० ?, गो० ! कस्सवि अतिय क० नतिय, जस्ससिय जइ०
 एक्को वा दो वा विण्णि वा उ० चचारि, एवं सव्वभीवारणं मणुस्सानं माणियब, मणूसस्स मणूसचे अतीता कस्सवि
 अरिय कस्सवि नतिय, जस्ससिय जइ० एक्को वा दो वा तिण्णि वा उ० चचारि, एवं पुरेवख्खवावि, एवमेते चउपीसं
 चउपीसा दंढगा जाव धेमाणियचे । एगमेगस्स णं भते ! नेरइयस्स नेरइयचे के० केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गो० !
 जसिय, केवइया पुरेवख्खवा ?, गो० ! नतिय, एवं जाव धेमाणियचे, णवरं मणूसचे अतीता नतिय, पुरेवख्खवा क० अतिय
 क० नतिय, जस्ससिय इक्को, मणूसस्स मणूसचे अतीता कस्सति अतिय क० नतिय, जस्ससिय एक्को, एवं पुरेवख्खवावि,
 एवमेते चउपीसं चउपीसा दंढगा (सूत्र ३३५)

'मारणत्तिप्पि मारणात्तिफसमुद्घातः पुरस्सत्तचिन्तायां स्वस्थाने परस्थाने वा एकोत्तरिकया नेतव्यो यावद्दे
 मानिकस्य धैमानिकत्वे—धैमानिकत्यविषय सूत्रं, तथैवम्—एगमेगस्स ण भते ! नेरइयस्स नेरयचे केवइया मार-
 णतियसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेवख्खवा ?, गोयमा ! कस्सइ अतिय कस्सइ नतिय,

जन्मस्य जहन्न एको वा दो वा तिणि वा उक्थोसेण सखेजा वा असखेजा वा अणता वा' तत्र यो मारणा-
न्तिकसमुद्घातमन्तरेण काल कृत्या नरफादुबुद्धः अनन्तर पारम्पर्येण या मनुष्यमव प्राप्य सेत्स्यति न म्रूयो नरक-
गापी तस्य न सन्ति पुरस्कृता मारणान्तिकसमुद्घाताः, यः पुनस्त्रये वर्षमानो मारणान्तिकसमुद्घातेन काल कृत्वा
नरफादुबुद्धः सेत्स्यति तस्यैकः पुरस्कृतो मारणान्तिकसमुद्घातो, यः पुनर्भूयोऽपि नरकमागत्य सर्वसङ्ख्या द्वौ मार-
णान्तिकसमुद्घातौ गन्ता तस्य द्वौ, एष त्रिप्रसृतयोऽपि मावनीयाः, सङ्ख्येयान् वारान् नरकमाग'तुः सङ्ख्येयाः अस-
ङ्ख्येयान् पारान् असङ्ख्येया अन तान् वारान् अन वा, एषमसुरकुमारत्वे आलापको, याच्यः, त्रवरमत्रैव मावनीयो नर
फादुबुद्धो मनुष्यमव प्राप्य सेत्स्यति यदिवा तस्मिन् मये मारणान्तिकसमुद्घातमगत्वा सुत्युमासाथ ततोऽयमये सिद्धि
गन्ता तस्यैव न सति, शेषस्य त्येकादिमापना प्रागिब, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु यथा नैरयिकस्य, (यथा नैरयिकस्य)
नैरयिकस्य चतुर्विधतिस्यानेषु धिन्ता कृता तयाऽसुरकुमारादीनां वैमानिकपर्यवसानानां चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण
कर्तव्या, तदेपमयान्यपि चतुर्विधतिर्दण्डकसुध्राणि भवन्ति, तथा चाह—'एवं एष चतुर्विधस्य चतुर्विधस्य चतुर्विधस्य
माणियषा' इति, उक्तो मारणान्तिकसमुद्घातमनुर्विधस्य चतुर्विधतिदण्डकसुध्रैः, साम्प्रतमेतापरसङ्ख्याकैरेव सूत्रैर्वै-
क्रियसमुद्घात पिपद्युहाह—'वेठषिण' इत्यादि, वैक्रियसमुद्घातो यथा कपायसमुद्घातः प्राक् प्रतिपादितः तथा निर
वर्णेयो मणितप्यः, केवल यस्य वैक्रियसमुद्घातो नास्ति वैक्रियलब्धेरेवासम्भयात् तस्य नोप्यते, शेषस्य चप्यते, स

धैर्—'एगमेगस्स णं मत्ते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया वेउषियसमुग्घाया अतीता ? , गो ! अणता, केवइया पुरे
 क्खइया ? , गो० ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जइण्णेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेण सिय
 सखेज्जा वा सिय असखेज्जा वा सिय अणता वा । एगमेगस्स णं मत्ते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया वेउषिय-
 समुग्घाया अतीता ! , गो० ! अणता, केवइया पुरेक्खइया ? , गो० ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय
 सखिज्जा सिय असखिज्जा सिय अणता वा, एवं नेरइयस्स जाव यणियकुमारत्ते । एगमेगस्स णं मत्ते ! नेरइयस्स
 पुढविकाइयत्ते केवइया वेउषियसमुग्घाया अतीता ? , गो० ! नत्थि, केवइया पुरेक्खइया ? , गो० ! नत्थि, एव
 जाय तेउक्काइयत्ते, एगमेगस्स णं मत्ते ! नेरइयस्स वाउकाइयत्ते केवइया वेउषियसमुग्घाया अतीता ? , गो० !
 अणता, केवइया पुरेक्खइया ! , गो० ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जइण्णेण एक्को वा दो वा तिण्णि
 वा उक्को संखेज्जा वा अस० अणता वा, एवस्सइकाइयत्ते जाव चउरिदियत्ते जइहा पुढविकाइयत्ते, त्तिरिक्खप-
 च्चिदियत्ते मणुसत्ते जइहा वाउकाइयत्ते, पाणभतरजोइसियवेमाणियत्तेसु जइहा असुरकुमारत्ते' इइ यत्र वैक्रियसमु-
 द्धातसम्मवसथ मावना कपायसमुद्घातवद् भावनीया, अन्यत्र तु प्रतिपेघः सुप्रतीतो, वैक्रियलब्धिरेवासम्मवात्,
 यथा च नैरयिकस्य चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण सूत्रमुपदर्शितमेवमसुरकुमारादीनामपि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण प्रत्येक
 सूत्रमपगन्तव्यं, नवरमसुरकुमारादिषु स्रनिसकुमारपर्यवसानेषु व्यन्तरादिषु च परस्पर स्वस्थाने एकोचरिका पर-

स्थाने सङ्क्षेपादयो वक्तव्या, यायुकार्यिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु तु परस्पर स्वस्थाने परस्थाने वा एकोचरिकाः,
 श्रेय तथैव, एषमेतान्यपि घटुर्विश्रुतिघटुर्विश्रुतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति, तथा चार—‘एवमेते चउपीस चउपीसगा
 दङ्गा माणितवा’ एव—उपवदन्तिन प्रकारेण अत्रापि—वैक्रियसमुद्घातविषयेऽपि घटुर्विश्रुतिः—घटुर्विश्रुतिसङ्गाः
 ‘चउपीसा’ इति चटुर्विश्रुतिः—घटुर्विश्रुतित्स्यानपरिमाणा दण्डका—दण्डकसूत्राणि मणितव्याः। सम्प्रति तैजससमुद्घात
 मतिवेद्यत आह—‘तेषुगे’त्यादि, तैजससमुद्घातो यथा मारणान्तिकसमुद्घातस्यैव वक्तव्यः, किमुक्त भवति ?—
 स्वस्थाने परस्थाने च एकोचरिकाया स यक्तव्य इति, नवर यस्य नास्ति—न सम्भवति तैजससमुद्घातस्य न वक्तव्यः,
 तत्र नैरयिकशृथिन्यपतेजोनायुपनस्पतिष्ठित्रिचटुरिन्द्रियेषु न सम्भवतीति न वक्तव्यः, श्रेयेषु तु वक्तव्यः, स वैवम्—
 ‘एगमेगस्स ण मते । नेरइयस्स नेरइयचे केवइया तेउसमुग्घाया अतीता ?, गो० । नत्थि, केवइया पुरेक्खटा ?,
 गो० । नत्थि, एगमेगस्स ण मते । नेरइयस्स असुखुमारत्ते केवइया तेययससुग्घाया अतीता ?, गो० । अणता,
 केवइया पुरेक्खटा ?, गो० । कत्सा अत्थि कत्सा नत्थि, जस्सत्थि अइम्रेण एक्को था दो वा तिण्णि वा उक्को-
 सेण सवेज्जा वा असवेज्जा वा अणता वा’ इत्यादि सूत्रोक्त विधेयसुपजीव्य स्वयं परिभाषनीयं, यत्रापि सूत्रसङ्गा-
 मार—‘एष’मित्यादि, एष—मारणान्तिकसमुद्घातगतेन कश्चित् सर्वथा निषेधरूपेण च प्रकारेण एतेऽपि—तैजससमु-
 द्घातगता अपि घटुर्विश्रुतिः चटुर्विश्रुतिका—दण्डका मणितव्याः। सम्प्रत्याहारसमुद्घात चिन्तयचार—‘एगमे-

गस्स ण'मित्थादि, इह सर्वेष्वपि स्थानेषु मनुष्यत्वचिन्तायामतीता जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतस्त्रयश्च, पुरस्कृता
 जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतस्त्रयारः, श्रेयेषु स्थानेषु अतीताः पुरस्कृताश्च प्रतिपेक्ष्यन्त्याः, मनुष्यस्य
 मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः पुरस्कृताश्च जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतस्त्रयारः, अत्रार्थे च कारण प्रागे-
 धोक्त, अत्रापि सूत्रसङ्ग्रहामाह—'एव'मित्यादि, एषम्-उपदर्शितेन प्रकारेण एते आहारकसमुद्घातविषयाम्बुतुयैशति-
 सङ्ख्याकाः दण्डका पक्ष्याः, कियद्दूर यावदित्याह—यावद्भैमानिकस्य भैमानिकत्वे-भैमानिकत्वविषयं सूत्रं, तच्चै-
 यम्—'एगमेगस्स ण मते ! वेमाणियस्स येमाणियत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता ? , गो० । नत्थि, केव-
 इया पुरेप्पुव्हा ? , गो० । नत्थि' इति । अधुना केवलिसमुद्घातमभिधित्सुराह—'एगमेगस्स ण मते' इत्यादि,
 अत्राप्यय तात्पर्यार्थः-सर्वेष्वपि स्थानेषु मनुष्यत्वचिन्ताव्यतिरेकेणातीताः पुरस्कृताश्च प्रतिपेक्ष्यन्त्याः, मनुष्यवर्जेषु
 मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः प्रतिपेक्ष्यन्त्याः, पुरस्कृतस्तु कस्याप्यस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक एव, एतच्च
 पक्ष्यः, मनुष्यस्य मनुष्यत्वचिन्तायामतीतः कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक एव, एतच्च
 प्रथमसमये केवलिसमुद्घातात्तुचीर्णं केवलिनमधिकृत्य, पुरस्कृतोऽपि कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति
 तस्याप्येक इति पक्ष्य, अत्रापि सूत्रसङ्ग्रहामाह—'एव'मित्यादि एवम्-उपदर्शितेन प्रकारेण एते केवलिसमुद्घातविषय-
 याम्बुतुयैशतिश्चतिसङ्ख्याका दण्डका भवन्ति, तदेव सर्वसङ्ख्याया एकत्वविषयानां चतुर्विंशतिदण्डकसङ्ख्याणाम-

दृष्यधिकं श्रुते जात, एतावत्सङ्ख्याकान्येव बहुत्वविषयाण्यपि सूत्राणि भवन्ति, तान्युपदिबर्धयिपुराह—

नेरश्याणं मते ! नेरश्याणे० के० वेदणास० अतीता !, गो० ! अगंता, के० पुर० !, गो० ! अगंता, एवं जाव वेमाणियसे,
एव सवधीनाथ माणितवं जाव वेमाणियाणं वेमाणियसे, एव जाव वेगम०, गवरं उवठभित्तम नेयव वस्तस्यि वेउधिय-
वेयगा । नेरश्याणं मते ! नेरश्याणे केवसिवा आहारगस० अतीता !, गो० ! नत्थि, केवसिवा पु० !, गो० ! नत्थि एव
जान वेमाणियसे, गवरं मशूससे अतीता असं० पुरेक्खटा असंखेळा एव जाव वेमाणियाणं, गवरं वणस्सइकाइयाणं
मशूससे अतीता असंखटा पुरेक्खटा अजठा, मशूसारं मशूससे अतीता सिय संखेळा सिय असंखेळा, एवं पुरेक्खटावि,
सेसा सये चहा नेरश्या, एवं एते वउधीसं वउधीसा वंढगा । नेरश्याणं मंत ! नेरश्याणे केव० केवलिसमुग्घाया अती-
ता !, गो० ! नत्थि, के० पु० !, गो० ! नत्थि, एवं जाव वेमाणियसे, गवरं मशूससे अतीता नत्थि, पुरे० असंखेळा,
एवं जाव वेमाणिया, गवरं वणस्सइकाइयाणं मशूससे अतीता नत्थि, पु० अगंता, मशूसारं मशूससे अतीता सिय
अत्थि सिय गत्थि, अइ अत्थि अइ० एको वा दो वा त्थिि वा उक्को० सत्तपुट्ट, केवश्या पुरे० !, गो० !
सिय संखेळा सिय वसंखेळा, एवं एते वउधीसं वउधीसा वंढगा सये पुच्छाए माणितवा जाव वेमाणियाणं वेमा-
णियसे (सूत्रं २३९)

‘नेरश्याणं’मित्यादि, नेरशिकाणां विषयित्तमवसमयमापिनां सर्वेषां मदन्त ! पूर्वे सफुलमतीतं फाल्लमवधीकत्स

'एव जाये'त्यादि, एव-येदनासमुद्घातगतेन प्रकारेण कपायादिसमुद्घाता अपि ताषड्कभ्याः याषचैजससमुद्घातः, किमपिनेपेण षकभ्याः १, नेत्याह—'नपर'मित्यादि, नपरसुपयुज्य-उपयोगं कृत्वा सर्वे सूत्र बुद्ध्या नेतव्यं, किमुक्तं भवति ?—ये यत्र समुद्घाता घटन्ते ते तत्रातीताः पुरस्कृताभानन्ता षकभ्याः, श्रेपेषु च स्थानेषु प्रतिपेक्षभ्याः, एतदेव भैमिफ्लेनाह—'जस्स अरयी'त्यादि, यस्य जीवराशेनैरयिकादेरसुरकुमारारेभ्यः सन्ति यैक्रियतैजससमुद्घातास्ते तस्य षकभ्याः, श्रेपेषु प्रथिव्यादिषु स्थानेषु प्रतिपेक्षभ्या इति सामर्थ्यलभ्य, कपायमारणान्तिकसमुद्घाताः पुनः सर्वे-त्रापि घेदनासमुद्घातषदविशेषेणातीताः पुरस्कृताभानता षकभ्याः, न तु कापि निपेक्षभ्याः । सम्प्रसि आहारसमुद्घातविषयसूत्रमाह—'नेरइयाण'मित्यादि, आहारकसमुद्घातो आहारकलब्धौ सत्सामाहारकशरीरप्रारम्भकाले भवति, नान्यथा, आहारकलब्धिभोपजायते चतुर्दशपूर्वाधिगमे, तेषां चतुर्दशानां पूर्वाणामधिगमो मनुष्यत्वावस्थायां न शेषायामपस्थायामिति मनुष्यत्ववर्जांसु शेषास्यस्यास्वतीतानां पुरस्कृतानां आहारकसमुद्घातानां प्रतिषेधः, मनुष्यत्वावस्थायामपि पूर्वमतीता असंश्लेषाः, प्रभ्रसमयमाविनां नारकाणां मध्ये बहूनामसंश्लेषानां नारकाणां पूर्वतदा २ मनुष्यत्वमयाप्य अधिगतचतुर्दशपूर्वाणां प्रत्येकसंश्लेष्टद्विःत्रिणां कृताहारकसमुद्घातत्वात्, पुरस्कृता अपि असंश्लेषाः, प्रभ्रसमयमाविनां नारकाणां मध्ये बहुमिरसंश्लेषैर्नारकैर्नारकादुःस्थानन्तरेण पारस्पर्येण वा तदा तदा मनुष्यत्वावाप्तौ चतुर्दशपूर्वाण्यधीत्य प्रत्येकमाहारकसमुद्घातानामेकशो द्विः त्रिचतुर्षो करिव्यमाणत्वात्, 'एव जाव

येमाणिषाण'मिति नैरयिकाणां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्ता कृता एयमसुरकुमारादीनामपि प्रत्येक चतुर्विंशतिद-
 ण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्या याथैमानिकानां, केवल यत्रास्त्रि विद्येपस्त दर्शयति—'नवर'मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकानां
 मनुष्यचिन्तायामतीताः पुरस्कृताश्च प्रत्येकमनन्ता वक्तव्या, अनन्तानां पूर्वमधिगतचतुर्विंशपूर्वाणा यथायोगमेकशो
 द्विः त्रिर्वा कृताहारकसमुद्घातानां वनस्पतिष्ववस्थानात् अनन्तरमेव वनस्पतिकायादुत्प्लानन्तर्वेज पारम्पर्येण वा मानु
 पत्यमथाप्य यथायोगमेकशो द्विः त्रिभ्रतुर्वाऽऽहारकसमुद्घातानां निर्यर्त्तयिष्यमाणत्वात्, मनुष्याणा मनुष्यत्यावस्थाया-
 मतीताः पुरस्कृताश्च स्नात्सङ्घेयाः स्नादसङ्घेयाः, कथमिति चेत्, उच्यते, ते हि प्रससमयमाविनः उत्कर्षपदेऽपि सर्वस्रो-
 काः, धेण्यसङ्घेयमागतप्रवेक्षराश्विप्रमाणत्वात्, ततो विषयितप्रससमयमाविनां मध्ये कदाचिदसङ्घेयाः—यथायोग
 प्रत्येकमेकशो द्विः त्रिभ्रतुर्वा कृतकरिष्यमाणाहारकसमुद्घाताः प्राप्यन्ते, उपसहारमाह—'एव'मित्यादि, एवमुक्तेन
 प्रकारेण एते आहारकसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिभ्रतुर्विंशतिसङ्घाफा दण्डका वक्तव्या, सम्प्रति केवलिसमुद्घात
 चिन्तयति—'नैरयाण'मित्यादि, केवलिसमुद्घातोऽपि मनुष्यत्यावस्थाया मवति, न शेषास्वस्थासु, न च कृतकेव-
 लिसमुद्घातः संसार पर्यटति, केवलिसमुद्घातानन्तरमन्तर्मुद्घर्त्तेनायस्य निःश्रेयसपदाधिगमात्, ततो नारकाणां मनु-
 पत्यपञ्चांसु शेषास्वस्थास्तीताः पुरस्कृताश्च केवलिसमुद्घाताः प्रतिपेद्व्या, मनुष्यत्यावस्थायामप्यतीताः प्रतिपे-
 द्व्याः, कृतकेवलिसमुद्घातानां नरके गमनामावात्, भाविनश्च मविष्यन्ति, प्रससमयमाविनां मध्ये वदुनामसङ्घे-

याना नाराणां मुक्तिपदगमनयोग्यत्वात्, ततः पुरस्कृता असंख्येया वस्युक्त, 'एय'मित्यादि, यया नैरयिकाणां
केवलिसमुद्रपातचिता कृता एवमसुरकुमारादीनामपि कर्त्तव्या, सा च तावत् यावत् वैमानिकानां, अत्रैव विञ्चे-
पमाह—'नवर'मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकानां मनुष्यत्वावस्थाचिन्तायामतीताः प्रतिषेद्धव्याः, कृतकेवलिसमु-
द्रपातानां सवाराभावात्, पुरस्कृतास्त्वनन्ता धाच्याः, प्रभसमयभायिनां वनस्पतिकायिकाना मध्ये बहूनामन-
न्तानां वनस्पतिकायिकाना वनस्पतिकायाबुभृत्यानन्तर्येण पारस्पर्येण वा कृतकेवलिसमुद्रपातानां सेत्स्यमानत्वात्,
मनुष्याणां मनुष्यत्यायस्थाधि तायामतीताः कदाचित्सन्ति कदाचिन्न सन्ति, कृतकेवलिसमुद्रपाताना सिद्धत्वमाषाद-
न्येषां चाद्यापि केवलिसमुद्रपाताप्रतिषेधः, यदापि सन्ति तदाऽपि ज्वघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः अतए-
वपत्य, पुरस्कृताः सात्सह्येयाः सादसंख्येयाः, प्रभसमयमायिना मनुष्याणां मध्ये कदाचित्संख्येयाना कदाचिद्व-
सद्वेयाना यथायोगमानन्तर्येण पारस्पर्येण कृतकेवलिसमुद्रपातानां सेत्स्यमानत्वात्, सूत्रसर्वसङ्ग्रामाह—एयसुक्तेन
प्रकारेण एते केवलिसमुद्रपातविषयाभतुर्विद्वतिभतुर्विद्यतिवण्डकाः ते च सर्वेऽपि वृच्छायां—वृच्छापुरस्सर मणितव्याः
क्रियन्तु यापदित्साह—वैमानिकानां वैमानिकत्वविषय सूत्र, तत्रेद—'वैमाणियाण भते ! वैमाणियसे केवइया केय-
लिसमुग्गपाया अतीता ?, गो० । नत्थि, के० पु० ?, गो० । नत्थि' इति ॥ तदेयसुक्का नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यव-
सानेयेकत्वविशिष्टेषु षडुत्पयिच्छिष्टेषु च भूतमायियेवनादिसमुद्रपातसम्भवासम्भवपुरस्सर सङ्ख्याप्रमाणप्ररूपणा, सम्प्र-

सर्वस्त्रोका जीया आहारकसमुद्घातेन समुद्घताः, आहारकश्चरीरिणो हि कदाचिद्विद् लोके पणमासान् याथञ्च
 मन्सपि, यदापि भवन्ति तदापि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्व, केवलमाहाकसमुद्घात
 आहारकश्चरीरआरम्भफालेन त्रेपकाल ततः स्त्रोका एव युगपदाहारकसमुद्घाता प्राप्यन्ते इति सर्वस्त्रोका आहारकस-
 मुद्घोतन समुद्घताः, तेभ्यः केवलिसमुद्घातेन समुद्घताः सङ्क्षेपगुणाः, तेषामेककालश्चतस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्,
 यद्यप्याहारकश्चरीरिणः सत्तया समकाल एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वमानाः प्राप्यन्ते तथाप्या(पि स्त्रो-
 कानामा)हारकसमुद्घातसम्भवात् एककालमतिस्त्रोकाः प्राप्यन्ते इति न तेभ्यः केवलिसमुद्घातसमुद्घताना सङ्क्षे-
 पगुणत्वपिरोधः, केवलिसमुद्घातसमुद्घतेभ्यः तैजससमुद्घातेन समवहताः असङ्क्षेपगुणा, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गो निकानां
 मनुष्याणां देयानामपि च तैजससमुद्घातसम्भवात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्घताः असङ्क्षेपगुणाः, नार-
 क्वातफायिकानामपि वैक्रियसमुद्घातसम्भवात्, यातकायिकाश्च वैक्रियलब्धिमन्तो न स्त्रोकाः, किन्तु देवेभ्योऽ-
 प्यसङ्क्षेपगुणा, कथमेतदिति चेत्, उच्यते, इह वादरपर्याप्तवायुकायिकाः स्थलचरपञ्चेन्द्रियेभ्योऽसङ्क्षेपगुणाः,
 महादण्डके तथा पठितत्वात्, स्थलचरपञ्चेन्द्रियाश्च देवेभ्योऽप्यसङ्क्षेपगुणा, ततो यद्यपि वादरपर्याप्तवायुकायि-
 कानां सङ्क्षेपमागमात्रस्य वैक्रियलब्धिः सम्भयो, यत उक्तम्—“तिष्ठ ताव रासीण वेत्तुश्चियलब्धी चेष नतिय, वाय-
 रपञ्चत्वाणपि सत्वेज्जइभागमेत्वाण”ति, तथापि सङ्क्षेपमागमात्रा वैक्रियलब्धिः सम्भयोऽप्यसङ्क्षेपगुणा भवन्ति,

द्या असंगुञ्जगुणा । वेददियालं मते ! वेदपासमुग्धाएण कसायस० मारणंतियस० समोहयाणं असमोहयाण य कतरे-
 २ हिनो अप्पा वा ४१, गो० ! सवत्थोवा वेददिया मारणंतियसमुग्धाएणं समोहया वेदणासमुग्धातेण समोहया असंखे०
 क्कायसु० समो० असखे० असमोहया सखे०, एव जाव चउरिदिया । पचिदियतिरिक्खञ्जोगियाणं मते ! वेदपास०
 ममो० कसायसमुग्धातेण मारणंतियस० वेउबिसस० वेपाससु० समोहयाणं असमोहयाण य कतरे२हितो अप्पा वा
 ४१, गो० ! सवत्थोवा पचिदियतिरि० वेपाससु० समोहया वेउ० समु० अस० मारणंतियस० समो० असं०
 वेदपास० समो० असु० कसायस० समो० सखे० असमवहवा सखे० । मशुत्साण मते ! वेदणासमुग्धातेण समोहयाण
 क्कायसमु० मारणंतियस० वेउबिसस० वेयस० आहारगसमुग्धाएणं केवलिस० समोहयाण असमोहयाण य कतरे २-
 हिनो अप्पा वा ४१, गो० ! सवत्थोवा मशुत्सा आहारगस० समोहया केवलिस० स० सखे० वेयस० समो० संखे० वेउ-
 बिसस० ममो० सखे० मारणंतियस० समो० असं० वेदणास० स० अस० कसायस० स० संखे० असमोहया असं० ।
 राणमंतरजोइसियवेमापियाणं ज्झा असुत्तुभाराण (मंत्रं ३३८)

'पुपसि ण'मित्थादि, पतेपां-पयायोग प्राक् समयहतासमवहत्त्वेन निरूपिताना भवन्त ! सामान्यतो जीवाना
 वेदनासमुद्घातेन यावत् केवलिसमुद्घातेन समवहतानामसमवहतानां च मध्ये कतरे कतरेभ्योऽप्या कतरे कतरे-
 भ्यो बहुता—सवत्थोवासवत्थोवादिगुणतया प्रमूलाः कतरे कतरेऽप्युत्थाः—समसङ्काकाः, अप्रार्थे सुत्रे विमक्तिपरिणामः
 स्वयं योजनीयाः, कतरे कतरेभ्यो विनेपाधिकाः—मनागधिकाः, वाच्य्याः सर्वेऽपि विषयार्थाः, मगवानाह—नौतम !

दीरणाय निरन्तरमुत्तरवैक्रियसमारम्भसम्भवात्, तेभ्योऽपि कपायसमुद्घातेन समुद्भवाः सङ्क्षेपगुणाः, कृतोत्तरवैक्रि-
 याणामकृतोत्तरवैक्रियाणां च सर्वसङ्ख्योत्तरवैक्रियारम्भकेभ्योऽसङ्क्षेपगुणानां कपायसमुद्घातसमुद्भतत्वेन प्राप्य-
 माणत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्भवा सङ्क्षेपगुणाः, यथायोग धेत्रजपरमाधार्मिकोदीरितपरस्परोदी-
 रितवेदनाभिः प्रायो षड्ना सदा समुद्भतत्वेन प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽप्येकेनापि समुद्घातेनासम्भवताः सङ्क्षेप-
 गुणाः, वेदनासमुद्घातमन्तरेणाप्यतिषड्नां सामान्यतो वेदनामनुभपतां सम्भवात् । सम्प्रत्यसुरकुमाराणामल्पबहुत्व
 माह—‘एएसि ण’मित्यादिप्रससृश सुगम, भगवामाह—गौतम ! सर्वस्त्रोका असुरकुमारास्त्रैजससमुद्घातेन
 समुद्भवाः, तैजसो हि समुद्घातो महति कोपापेक्षे क्वचित् कवाचित्केपाश्चिद्भयति, ततस्त्रेन समुद्घातेन समुद्भवाः
 सर्वस्त्रोकाः, तेभ्यो मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्भवाः असङ्क्षेपगुणाः, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेन समुद्भवाः असङ्क्षे-
 पगुणाः, परस्पर युद्धादौ षड्नां वेदनासमुद्घातेन समुद्घातानां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि कपायसमुद्घातेन समु-
 द्घताः सङ्क्षेपगुणाः, येन तेन वा कारणेन षड्नां कपायसमुद्घातगमनसम्भवात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन
 समुद्भवाः सङ्क्षेपगुणाः, परिचारणाद्येनकनिमित्तमतिषड्नामुत्तरवैक्रियकरणारम्भसम्भवात्, तेभ्योऽप्यसम्भवता
 असङ्क्षेपगुणाः, षड्नामुत्तमजातीनां सुखसागरावगाढाना पूर्वोक्तिभ्योऽसङ्क्षेपगुणानां केनापि समुद्घातेनासम्भव-
 तानां सदा लभ्यमानत्वात्, ‘एय’मित्यादि, यथा असुरकुमाराणामल्पबहुत्वमुक्तमेव सर्वेषां भवनपतीनां प्रष्टव्यं

ततो नैरयिकाणां वायुकायिकानां च वैक्रियसमुद्घातसम्भवाद्बुपपयन्ते तैजससमुद्घातसमुद्घतेभ्यो वैक्रियसमुद्घातेन
समुद्घताः असङ्ख्यगुणाः, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्घता अनन्तगुणाः, कप ? , उच्यते, इह निगोद-
जीपानामनन्तानामसङ्ख्येयो माग सदा विग्रहगतौ घर्षमान प्राप्यते, ते च प्रायो मारणान्तिकसमुद्घातसमुद्घातसमुद्घता
इति पूर्वैभ्योऽनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि कपायसमुद्घातसमुद्घता असङ्ख्येयगुणाः, निगोदजीवानामेधानन्ताना विग्रहग-
त्यापनेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानां कपायसमुद्घातसमुद्घतानां सदा प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्घता
विशेषाधिकाः, तेषामेव निगोदजीवानामनन्तानां कपायसमुद्घातसमुद्घतेभ्यो मनाक् विशेषाधिकानां सदा वेदनासमु-
द्घातेन समुद्घततयाऽप्यमानत्वात्, तेभ्योऽपि एकेनापि समुद्घातेनासमुद्घता असङ्ख्येयगुणाः, वेदनाकपायमरण-
समुद्घातसमुद्घतेभ्यो निगोदजीवानामेवासङ्ख्येयगुणानामसमवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । सम्प्रत्येतदेधाल्पधुत्व
जीयविशेषेषु नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण यथायोग चिचिन्तयिपुराह—‘नैरयाण’मित्यादि प्रभसूत्रं, मग
यानाह—सर्वस्वोक्ता नैरयिका मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्घताः, मारणान्तिको हि समुद्घातो मरणकाले भवति,
मरणं च श्रेयजीयन्नारकरास्यपेक्षयाऽतिस्वोक्तानां, न च सर्वेषां म्रियमाणानामविशेषेण मारणान्तिकसमुद्घातः,
किन्तु कृत्तिपयानां, ‘समोदयायि मरति असमोदयायि मरती’ति वचनात्, अतः सर्वस्वोक्ता मारणान्तिकसमुद्घात-
समुद्घताः, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्घताः असङ्ख्येयगुणाः, ससत्त्वपि पृथिवीषु मत्स्येक बहूनां परस्परशेवनी-

मेव तेजोलब्धिमावात्, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेनासमपहताः असङ्क्षेपगुणाः, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समपहताः
 असङ्क्षेपगुणाः, प्रभूतानां वैक्रियलब्धेर्मावात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समपहता असङ्क्षेपगुणा, सम्मू-
 ष्टिमजलधरस्पलधरचराणामपि सर्वेषां वैक्रियलब्धिरहितानां प्रत्येक पूर्वोक्तैभ्योऽसङ्क्षेपगुणानां केपाञ्चित् गर्भ-
 जानामपि वैक्रियलब्धिरहितानां वैक्रियलब्धिमत्तां च मरणसमुद्घातसम्मवात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धताः
 असङ्क्षेपगुणाः, त्रियमाणजीवराश्यपेक्षया अपि अत्रियमाणानामसङ्क्षेपगुणानां वेदनासमुद्घातमावात्, तेभ्यः
 कपायसमुद्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणाः, तेभ्योऽप्यसमपहताः सङ्क्षेपगुणाः, अत्र भावना प्रागिष । मनुष्यसूत्रे
 सर्पस्त्रोका आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, अतिस्त्रोकानामेककालमाहारकश्चरीरारम्भसमवात्, तेभ्यः केवलिसमु-
 द्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणाः, श्वतपृषक्त्वसङ्क्षया प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यस्त्रैजससमुद्घातेन समपहताः सङ्क्षे-
 पगुणाः, श्वतसहस्रसङ्क्षया तेषां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धता सङ्क्षेपगुणाः, कोटीसङ्क्षया
 ठम्भमानत्वात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समपहता असङ्क्षेपगुणाः, सम्मूष्टिममनुष्याणामपि तद्भावात्,
 तेषां चासङ्क्षेयत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धता असङ्क्षेपगुणाः, त्रियमाणराश्यपेक्षया असङ्क्षेपगुणानाम-
 त्रियमाणानां तद्भाषसम्मवात्, तेभ्यः कपायसमुद्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणाः, प्रभूततया तेषां प्राप्यमाणत्वात्,
 तेभ्योऽप्यसमपहता असङ्क्षेपगुणाः, सम्मूष्टिममनुष्याणामल्पकपायाणासुक्तकपापिभ्योऽसङ्क्षेपगुणानां सवा

मेव तेजोलब्धिमायात्, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेनासमवहताः असङ्क्षेपगुणाः, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहताः
 असङ्क्षेपगुणाः, प्रभूतानां वैक्रियलक्ष्णेर्मावात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता असङ्क्षेपगुणाः, सम्मू-
 ष्ठिमजलघरस्यलघरस्वधराणामपि सर्वेषां वैक्रियलब्धिरहितानां प्रत्येक पूर्वोक्तैर्म्योऽसङ्क्षेपगुणानां केषाञ्चित् गर्भ-
 जानामपि वैक्रियलब्धिरहितानां वैक्रियलब्धिमतां च मरणसमुद्घातसम्भवात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धताः
 असङ्क्षेपगुणाः, त्रियमाणजीवराश्यापेक्षया अपि अत्रियमाणानामसङ्क्षेपगुणानां वेदनासमुद्घातमायात्, तेभ्यः
 कपायसमुद्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणा, तेभ्योऽप्यसमवहताः सङ्क्षेपगुणाः, अत्र मायना प्रागिष । मनुष्यसूत्रे
 सर्वस्योका आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, अतिस्त्रोकानामेककालमाहारकशरीरप्रारम्भसमवात्, तेभ्य केवलिसमु-
 द्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणाः, वृत्तपृषक्त्वसङ्क्षया प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यस्त्रैजससमुद्घातेन समवहता सङ्क्षे-
 यगुणाः, वृत्तसहस्रसङ्क्षया तेषां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणाः, कोटीसङ्क्षया
 लभ्यमानत्वात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता असङ्क्षेपगुणाः, सम्मूष्ठिममनुष्याणामपि तद्भावात्,
 तेषां चासङ्क्षेपत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धता असङ्क्षेपगुणाः, त्रियमाणराश्यापेक्षया असङ्क्षेपगुणानाम
 त्रियमाणानां तद्भाषसम्भवात्, तेभ्यः कपायसमुद्घातेन समुद्धताः सङ्क्षेपगुणाः, प्रभूततया तेषां प्राप्यमाणत्वात्,
 तेभ्योऽप्यसमवहता असङ्क्षेपगुणाः, सम्मूष्ठिममनुष्याणामत्यकपायामुत्कटकपायिभ्योऽसङ्क्षेपगुणानां सदा

लभ्यमानत्यात् । ध्यन्तरज्योतिष्कथैमानिका यथा असुरकुमारराक्षसा वक्तव्याः । तदेवमुक्तं समुद्रतासमुद्रतमि-
 पयमल्पपुत्र, अधुना कपायसमुद्रघातगतां विधेयवक्तव्यतामभिविधित्युराह—

कृति णं मते ! कसायसमुग्धाया पण्णा ?, गो० ! चत्वारि क्सायसमुग्धाया प० स—कोहसमुग्धाते माणस० मायास०
 लोहस०, नेरइयानं मते ! कृतिकसायसमुग्धाया वं० ?, गो० ! चत्वारि कसायसमुग्धाता पं० एवं जाव वेमाणियाण,
 एगमेगस्स ण मंत ! नेरइयस्स केवतिता कोहसमुग्धाता अतीता ?, गो० ! अण्णा, केवतिता पुरे० ?, गो० ! कस्सइ
 अरिय कस्सइ नत्थि, वस्सत्थि जइप्पेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा त्को० संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अण्णा वा, एवं
 जाव यमाणियस्स, एव जाव लोमससमुग्धाते एते चत्वारि दडगा । नेरइयानं मते ! केवइया कोहसमु० अतीता ?, गो० !
 अण्णा, के० पु० ?, गो० ! अण्णा, एवं जाव वेमाणियाणं, एवं जाव लोमससमुग्धाए, एवं एय्वि चत्वारि दडगा ।
 एगमेगस्स णं मते ! नेरइयस्स नेरइयसे केवइया कोहस० अतीता ?, गो० ! अण्णा, एव सहा वेदणासमुग्धातो मथितो
 तथा कोहसमुग्धातोवि निरवसेसं जाव वेमाणियसे, माणससमुग्धाए मायाससमुग्धातेवि निरवसेसं सहा मारणंठियसमुग्धाते
 लोहसमुग्धातो जहा कसायसमुग्धातो नवरं सब्बीवा असुरादिनेरइयसु मोहक्साएण एयुचरियाते नेतवा । नेरइयानं मते !
 नेरइयसे केवइया कोहसमु० अतीता ?, गो० ! अण्णा, के० पु० ?, गो० ! अण्णा, एवं जाव वेमाणियसे, एवं सट्ठाणपरट्ठायेसु
 सब्बय माणियाणा, सब्बीवाणं चत्वारिणि समुग्धाया जाव लोमससमुग्धातो जाव वेमाणियाणं वेमाणियसे (सूत्रं ३३९)

'क' ण'मित्यादि, इदं सामान्यताः कपायसमुद्घातविषयं चतुर्विधतिदण्डकक्रमगतं च सूत्रं सुप्रतीतं, सम्प्रत्येकै-
 कस्य नैरयिकादेश्चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण वैमानिकपर्ययसानस्य तद्व्यव्यतामाह—'एगमेगत्स अ मते !' इत्यादि,
 अप्रातीतसूत्रं सुप्रतीतं, पुरस्कृतसूत्रे 'कत्सइ अतिय कत्सइ नतिय'श्चि यो नरकभवप्रान्ते वर्तमानः स्वमावत
 एयाल्पकपाय कपायसमुद्घातमन्तरेण कालं कृत्वा नरकाद्बुद्धो मनुष्यभयं प्राप्य कपायसमुद्घातमगतं पश्य
 सेत्सति तस्य नास्ति पुरस्कृत एकोऽपि कपायसमुद्घातो, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, ते
 च प्रागुक्तस्वरूपस्य सहकपायसमुद्घातगामिनो वेदितव्याः, उत्कर्षतः सङ्क्षेपेया असङ्क्षेपेया अनन्ता वा, तत्र सङ्क्षेप्य
 कालं ससारापस्यापिनः सङ्क्षेपेयाः असङ्क्षेपेय कालमसङ्क्षेपेयाः अनन्तकालमनन्ताः, एवमसुरकुमारादिक्रमेण तावद्
 याच्यं याचद्द्वैमानिकसं, 'एवं'मित्यादि, एव—चतुर्विधतिदण्डकक्रमेण मानादिकपायसमुद्घातसमुद्घातस्वापद्धकम्प्याः
 यावलोभसमुद्घातः, एवमेते चत्वारः चतुर्विधतिदण्डका भवति, एते चैकैकनैरयिकाविधियया उक्ताः, सम्प्रत्येतानेषु
 चतुश्चतुर्विधतिदण्डकान् सकलनारकादिविषयानाह—'नेरश्याण'मित्यादि, अतीतसूत्रं सुप्रतीतं, पुरस्कृता अनन्ताः,
 प्रथममयमाविनां नारकाणां मध्ये यद्गुणमनन्तकालमवस्थायित्यात्, एव—नैरयिकोक्तेन प्रकारेण तावद् वक्तव्य
 याचद्द्वैमानिकानां । यथा चैप क्रोधसमुद्घातश्चतुर्विधतिदण्डकक्रमेणोक्तः एव मानादिसमुद्घाता अपि तावद् वक्त-
 व्या यावलोभसमुद्घातः । एवमेतेऽपि सकलनारकादिविषयाम्बत्वारश्चतुर्विधतिदण्डका भवन्ति, साम्प्रतमेकैकस्य

नैरयिकानैरयिकाविवु मावेषु वर्चमानस्य फति क्रोधसमुद्घाता अतीताः फति माचिन इति निरूपयितुकाम आह—
 'एगमेगत्स ण'मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! नैरयिकस्य विवक्षितप्रभसमयफालात् पूर्वे सकलमतीत फालभवधी
 कृत्य तदा तदाऽस्य नैरयिकत्वं प्राप्तस्य सतः सर्वसङ्ख्याया फियन्तः क्रोधसमुद्घाता अतीता ? , भगवानाह—गौतम !
 अनन्ताः, नरफणतेरनन्तश्च प्राप्तत्वात्, एकैकस्मिन् नरकभवे जषन्यपदेऽपि सङ्ख्येयाना क्रोधसमुद्घातानां भावात्,
 'एय जहे'त्यादि, एधमुपदर्थितेन प्रकारेण यथावेदनासमुद्घातः प्राग् मणित तथा क्रोधसमुद्घातोऽपि मणितव्य,
 कय मणितव्य इत्याह—निरवशेष, क्रियाविशेषणमेतत्, सामस्त्येनेत्यर्थः, कियद्दूर यावत् मणितव्यमित्याह—
 यावद् वैमानिकत्वे, वैमानिकस्य वैमानिकस्य इत्यालापक यायदित्यर्थः, स वैध—'केषइया पुरेक्खवा ? , गोयमा !
 फत्सइ अत्थि फत्सइ नत्थि, जत्सत्थि जइरणेण एक्को वा वो वा तिण्णि वा लक्खोसेण सखेज्जा वा असखेज्जा वा
 अणता वा, एवमसुरकुमारचे जाव वेमामियसे,' 'एगमेगत्स ण मते ! असुरकुमारत्स नेरइयसे केषइया कोहसमु-
 ग्घाया भइया ? , गो० ! अणता, केषइया पुरेक्खवा ? , गो० ! फत्सइ अत्थि फत्सइ नत्थि, जत्सत्थि तत्स सिय
 सखेज्जा सिय अस० सिय अणता, एगमेगत्स ण मते ! असुरकुमारत्स असुरकुमारचे केषइया कोहसमुग्घाया
 मतीता ? , गो० ! अणता, केष० पुरे० ? , गो० ! क० अत्थि फ० नत्थि, जत्सत्थि जइ० एक्को वा वो वा तिण्णि
 या लक्खो० सखेज्जा वा असखेज्जा वा अणता वा, एवं नागकुमारचे जाव वेमामियसे, एव अहा असुरकुमारोसु नेर-

इया वैमाणियपञ्चसाणेसु भणिया तथा णागकुमारादिया सट्टाणपरट्ठाणेसु मणियवा जाव वेमाणियचे' इति, अस्वार्थः-फियन्तो मदन्त ! एकैकस्य नारकस्याससारमोक्षमनत्त कालं मर्यादीकृत्य नैरयिकत्ये माघिन सतः सर्व-सद्भया पुरस्कृताः क्रोधसमुद्घाताः ? , मगधानाह—'कस्सइ अत्थिय' इत्यादि, य आसन्नमरणः क्रोधसमुद्घातः, श्रेयसाद्यात्यन्तिकमरणेन नरकादुद्घातः सेत्स्यति तस्य नास्ति नैरयिकत्वमाघिन एकोऽपि पुरस्कृतः क्रोधसमुद्घातः, श्रेयस्य तु सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जयन्त्यत एको द्वौ त्रयो वा, एतच्च क्षीणश्रेयायुषां तद्भवस्यानां भूयो नरकेषु उ(व्यनु)स्पद्यमानानां वेदितव्य, भूयो नरकेषूपचौ हि जयन्त्यपदेऽपि सद्भेया प्राप्यन्ते, नैरयिकाणां क्रोधसमुद्घातस्य तत्रचुरत्वात्, उत्कर्षतः सद्भेया वा असद्भेया वा अनन्ता वा, तत्र सकृत्तरकेषु जयन्त्यस्त्रितिकेषुत्पत्स्यमानस्य तद्भेया अनेकशो यदिवा दीर्घस्त्रितिकेषु सकृदपि उत्पत्स्यमानस्यासद्भेयाः अनन्तश्च उत्पत्स्यमानस्यानन्ताः, 'एव'—मित्यादि, एवं—नैरयिकोच्छकारेणासुरकुमारत्ये तदनन्तरं षट्पुत्रित्तिदण्डकक्रमेण तावद् षकव्य यावद्वैमानिकत्व धियर्य सूत्र, तथैव—'एगमेगस्स ण भते ! नैरयस्स वैमाणियचे केवइया कोहसमुग्घाया अईया ? , गो ! अणता, केवइया पुरे ? , गो ! फस्सइ अत्थिय फं नत्थिय, जस्सत्थिय जइं एको वा दो वा तिण्णि वा उक्कों संखेज्जा वा असं अणता वा,' अत्राप्यव भावार्थ —अतीतचिन्तायामनन्ताः, अनन्तश्चो वैमानिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतचिन्तायां योऽनन्तरभये नरकादुद्घातो मानुषत्वमवाप्य सेत्स्यति प्राप्तो वा परम्परया सकृद्वैमानिकभवं न क्रोधस

सुदृशात् गन्ता तस्यैकोऽपि पुरस्कृतः क्रोधसमुद्घातो वैमानिकत्वे न विद्यते, यस्त्यसकृद्वैमानिकत्व प्राप्तः सन् सङ्घ-
देष क्रोधसमुद्घातं याता तस्य अघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, शेषस्य सङ्घातान् धारान् वैमानिकत्व प्राप्त्यतः
सङ्घेयाः असङ्घेयान् धारान् असङ्घेयाः अनन्तान् धारान् अनन्ताः, 'एगमेगस्सं ण'मित्यादि प्रकृतसुत्रं सुगम,
'गो० ! अगता' इति, अनन्तशो नैरयिकत्व प्राप्तस्य, एकैकस्मिन् नैरयिकमवे जघन्यपदेऽपि सङ्घेयानां क्रोधसमु-
द्घातानां माषात्, पुरस्कृताः कस्यचित्सन्ति कस्यचित् सन्ति, किमुक्त्वा मयति ?—योऽसुरकुमारमवावुबुचो न
नरकं यासति किन्त्यनन्तरं परम्पराया वा मनुष्यमवमवाप्यं सेरसति तस्य नैरयिकावस्थामाषिनः पुरस्कृता क्रोध-
समुद्घाता न सन्ति, नैरयिकत्वावस्थायां पयासम्मषात्, यस्तु तद्भवावूर्ध्वं पारस्पर्येण नरकगामी तस्य सन्ति,
तस्यापि कस्यचित् सङ्घेया कस्यचिदसङ्घेयाः कस्यचिदन्ताः, तत्र यः सकृदपन्वस्थितिकेषु नरकमध्येषु समुत्प-
रस्यते तस्य अघन्यपदेऽपि सङ्घेयाः दशवर्षसहस्रप्रमाणायामपि स्थितौ सङ्घेयानां क्रोधसमुद्घातानां माषात्, क्रोध
यदुत्पत्त्याकाराणां, असकृन् दीर्घस्थितिषु सकृद्वा गमनेऽसङ्घेयाः अनन्तशो नरकगमनेऽनन्ताः, तथा एकैकस्य
मदन्त ! असुरकुमारस्य असुरकुमारत्वे स्थितस्य सतः सकृदन्तीतकालमधिकृत्य कियन्तः क्रोधसमुद्घाता जतीताः?,
मरणानाह—अनन्ताः अनन्तशोऽसुरकुमारमायस्य प्राप्तत्वात्, प्रतिमव च क्रोधसमुद्घातस्य प्रायो माषात्, पुर-
स्कृत्यन्ताया कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्य प्रथकाहावूर्ध्वं असुरकुमारत्वेऽपि नरकगमस्य न माषी

ज्वा या असंखेज्वा वा अणता वा, एवमसुरकुमारचे जाव वेमाणियचे, एगमेगस्स ष मते ! असुरकुमारस्स नेरा-
यचे केवइया माणसमुग्घाया अतीता !, गोयमा ! अणता, केवइया पुरेक्खवा !, गो० ! कस्सइ अत्थि कस्सइ
नत्थि, जस्सत्थि जइत्तेण एको वा दो वा तिव्वि वा उक्को० संखेज्वा वा असंखेज्वा वा अणता वा, एव नागकुमा
रचे जाप वेमाणियचे, एव जइदा असुरकुमारे नेरइया वेमाणियपज्जबसाणेसु भणिया तथा नागकुमाराइया सट्ठाणप
रट्ठाणेसु माणियवा जाप वेमाणियस्स वेमाणियचे' अस्सायमर्येः—अतीतेपु सत्तेपु सर्वत्राप्यनन्तत्य सुप्रतीत, नेरयि
कत्थाविस्सानानि प्रत्येकमनन्तजः प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतचिन्तायां त्वेष नैरयिकस्य नैरयिकत्वे भावना—यो नैरयिकः
प्रथमफालापूर्णे मानसमुद्घातमन्तरेण काल कृत्वा नरकादुद्घातोऽनन्तर पारम्पर्येण वा मनुष्यमवमवाप्य सेत्स्यति न
भूयो नरकमागता तस्य न सन्ति पुरस्कृता मानसमुद्घाताः, यः पुनस्तद्भवे वर्धमानो भूयो वा नरकमागत्यैक वार
मानसमुद्घात गत्वा कालकरणेन नरकादुद्घात सेत्स्यति तस्यैकः पुरस्कृतो मानसमुद्घातः, एवमेव कस्यापि द्वौ
वस्वापि त्रयः संक्षेपान् वारान् नरकमागन्तुः संक्षेपाः असंक्षेपान् वारान् असंक्षेपाः अनन्तान् वारान् अनन्ता,
नैरयिकस्यैवासुरकुमारत्वे पुरस्कृतचिन्तायामिव भावना—यो नरकादुद्घातो असुरकुमारत्व न यास्यति तस्य न सन्ति
पुरस्कृता मानसमुद्घाताः, यस्त्येक वार गन्ता तस्य एको द्वौ त्र्याद्यो वा संक्षेपान् वारान् गन्तुः संक्षेपाः अस-
ंक्षेपान् वारान् असंक्षेपाः अनन्तान् वारान् अनन्ता, एव तावद् भणनीयं यावत् निर्दिष्टावेति।

चिन्ता, मनुष्यचिन्तायां चैव भावना—यो नरकाहुबुद्धो मनुष्यमव प्राप्य मानसमुद्घातमगत्वा सेत्स्यति तस्य मास्ते-
 कोऽपि पुरस्कृतो मानसमुद्घातो, यस्तु मनुष्यत्व गतः सम्रेक वार मानसमुद्घात गन्ता तस्यैकोऽपरस्य द्वाधन्यस्य
 त्र्यादयः सङ्ख्येयान् वारान् गन्तुः सङ्ख्येयाः असङ्ख्येयान् वारान् असङ्ख्येयाः अनन्तान् वारान् अनन्ता, व्यन्तर-
 ज्योतिष्कैमानिकरवेषु भावना यथा असुरकुमारादीनामपि वैमानिकपर्यवसानानां चतुर्विधसिदण्डकक्रमेण फर्षण्या, यथा च मानसमुद्घा-
 कृता तथा असुरकुमारादीनामपि वैमानिकपर्यवसानानां चतुर्विधसिदण्डकक्रमेण फर्षण्या, यथा च मानसमुद्घा-
 तस्य चतुर्विधसिदण्डकक्रमेणोक्तानि तथा मायासमुद्घातस्यापि चतुर्विधसिदण्डकक्रमेण फर्षण्या, यथा च मानसमुद्घा-
 तसिदण्डकक्रमेण फर्षण्यानि, तुल्यगमकरणात्, अधुना लोभसमुद्घातमतिदशत आह—‘लोभसमुद्घातो जहा कसा-
 यसमुद्घातो, नवर सषजीवा असुराई नेरइयसु लोभकसापण एगुघरियाए नेतवा’ इति, यथा प्राक् कपायसमुद्घात
 उक्तस्य लोभकपायोऽपि षक्यः, नवर तत्रासुरकुमारादीनां नैरयिकत्वे पुरस्कृतचिन्तायां स्यात् सङ्ख्येयाः स्याद-
 सङ्ख्येया स्यादनन्ता इत्युक्तं अत्र तु सर्वे जीवा असुरकुमारादयो नैरयिकेषु पुरस्कृतचिन्तायां चिन्त्यमाना एको
 चरिकाया ज्ञातन्याः, एकोचरस्य माय एकोचरिका ‘द्वन्द्वचुरादिभ्यो बु’ञिति चौरादेराकृतिगणतया बुञिति, एको
 द्वी प्रय इत्यादिरूपा तथा, एकोचरतया इत्यर्थः, नैरयिकाणां निरतिथयदुःखवेदनामिमूततया नित्यसुद्धिमानां प्रायो
 लोभसमुद्घातासम्भवात्, सुत्रालापकधैषम्—‘एगमेगस्त ण मते ! नेरइयस्स नेरइयस्से केव० लोभसमु० अतीता ? ,

जा वा अमर्शेजा वा अणता वा, एवमसुरकुमारचे जाय वेमाणियचे, एगमेगस्स ण मते ! असुरकुमारस्स नेरइ-
 पत्ते फेणइया माणसमुग्धाया अतीता !, गोयमा ! अणता, फेणइया पुरेक्खडा ?, गो० ! फस्सइ अत्थि फस्सइ
 नत्थि, जस्सत्थि जइत्तेण एक्को वा दो वा तित्थि वा उक्को० सखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणता वा, एव नागकुमा-
 रस्ते जाय वेमाणियचे, एव जहा असुरकुमारे नेरइया वेमाणियपज्जयसाणेसु मणिया तहा नागकुमाराइया सट्ठाणप
 रट्ठाणेषु माणियवा जाय वेमाणियस्स वेमाणियचे' अस्सायमर्थेः-अतीतेषु सुत्तेषु सर्वत्राप्यनन्तत्वं सुप्रतीतं, नेरयि-
 पत्तादिस्थानानि प्रत्येकमनन्तशः प्राप्तवान्, पुरस्कृतचिन्ताया त्वेव नेरयिकस्य नेरयिकत्वे मायना—यो नेरयिक
 प्रभाकालादूर्ध्वं मानसमुद्रपातमन्तरेण कालं कृत्वा नरकादुद्बुधोऽनन्तर पारस्पर्येण वा मनुष्यमवमवाप्य सेत्स्यति न
 भूयो नरयमागता तस्य न सन्ति पुरस्कृता मानसमुद्रपाताः, यः पुनश्चञ्चरे घर्षमानो भूयो वा नरकमागस्यैक वार
 मानसमुद्रपात गत्या कालकरणेन नरकादुद्बुधः सेत्स्यति तस्यैक पुरस्कृतो मानसमुद्रपातः, एवमेव कस्यापि द्वौ
 पन्थापि त्रय सङ्घेयान् वारान् नरकमागन्तुः सङ्घेययाः असङ्घेयान् वारान् असङ्घेययाः अनन्तान् वारान् अनन्ताः,
 नेरयिकस्यैषामसुरकुमारत्वे पुरस्कृतचिन्तायामिव मायना—यो नरकादुद्बुधो असुरकुमारस्य न यास्यति तस्य न सन्ति
 पुरस्कृता मानसमुद्रपाताः, यस्त्येक वार गन्ता तस्य एको द्वौ त्र्याद्यो वा सङ्घेयान् वारान् गन्तुः सङ्घेययाः अस-
 ङ्घेयान् वारान् असङ्घेययाः अनन्तान् वारान् अनन्ता, एष तापश्च मणनीय यामत्त्वं तिर्यक्पथेन्द्रियत्वे पुरस्कृत

स० सिय असं० सिय भगता, एव जाव यणियकुमारचे । पुढविकाइयचे जाव वेमाणियचे जहा नेरइयस्स भणित
तदेव माणियप, एव जाव यणियकुमारस्स वेमाणियचे । एगमेगस्स ण मते । पुढविकाइयस्स नेरइयचे केव०
लोमस० अतीता १, गो० । अणता, केवइ० पु० १, गो० । क० अतिय क० नतिय, जस्सतिय जइ० एक्को वा दो
वा तिमि वा उक्को० सखेज्जा वा असं० अण०, पुढवि० असुरकुमारचे अतीता अणता, केव० पु० १, गो० ।
कस्सइ अतिय क० नतिय, जस्स अतिय सिय स० सिय अस० सिय अणता, एव जाव यणियकुमारचे, पुढविकाइ-
यचे अतीता अणता, पुरेक्खवा कस्सइ अतिय क० नतिय, जस्सतिय जइ० एक्को वा दो वा त्तिणिय वा उक्को०
स० अस० अणता वा, एव जाव मणूसत्ते, वाणमतरत्ते जहा असुरकुमारचे, जोइसियत्ते वेमाणियत्ते अतीता
अणता, पुरेक्ख० क० अतिय क० नतिय, जस्सतिय सिय सखे० सिय अस० सिय अणता, एव जाव मणूसस्स
वेमाणियचे, पाणमतरस्स जहा असुरकुमारस्स एव जोइसियवेमाणियाणपि' असायमर्यः-नेरयिकस्स नेरयिकत्ते
अतीता लोमसमुद्घाता अनन्ताः, अनन्तसो नेरयिकत्वस्स प्राप्त्यात्, पुरस्सुतचिन्ताया कस्सचित् सन्ति कस्स-
चिन्न सन्ति, तत्र यः प्रश्नसमयाद्दुर्ल लोमसमुद्घातमप्राप्त एव नरकमवाप्तुइत्यानन्तर पारम्पर्येण वा सेत्सति न च
भूयो नरकमागामी न चागतोऽपि लोमसमुद्घात गन्ता तस्य नैकोऽपि पुरस्सुतो लोमसमुद्घातः, श्रेयस्य तु भावी,
तस्यापि कस्सचिदेकः कस्सचित् द्वौ कस्सचित् त्रयः, एतद्य प्रश्नसमयाद्दुर्लमपि तद्भवमाजां सङ्गतरकमवगामिनां

गो० ! ळता, के० पु० ? , गो० ! कस्सइ पत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि एगो वा दो वा त्तिण्णि वा उक्कोसेण
 मय्था वा पस० अणता वा, एग्गेमगस्स ण मत्ते ! नेरइयस्स असुरकुमारसे केव० लोमस० अतीता ? , गो० !
 अणता, के० पु० ? , गो० ! क० अत्थि क० नत्थि, जस्सत्थि सिय सखेज्जा सिय अस० सिय अणता, एव जाव
 नेरइयस्स घणियरुमारसे, एग्गेमगस्स ण मत्ते ! नेरइयस्स पुढनिकाइयसे के० लोमस० अतीता ? , गो० ! अणता,
 के० पुरे० ? , गो० ! क० अत्थि क० नत्थि, जस्स अत्थि जइ० एक्को वा दो वा त्तिण्णि वा उक्को० सखे० अस०
 अणता वा, एव जाव मणूमसे, पाणमतरेसे जहा असुरकुमारसे, एग्गेमगस्स ण मत्ते ! नेरइयस्स जोइसियसे के०
 लोमस० पतीता ? , गो० ! अणता, केवइया पुरे० ? , गो० ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि अस्सत्थि जइ० एक्को
 वा दो वा त्तिण्णि वा उक्कोसेण सिय सखेज्जा सिय असखेजा सिय अणता, एव जाव घेमाणियचेडवि माणियव,
 एग्गेमगस्स ण मत्ते ! असुरकुमारस्स नेरइयसे के० लोमस० अतीता ? , गो० ! अणता, केवइया पुरे० ? , गो० !
 कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जइ० एक्को वा दो वा त्तिण्णि वा उक्को० स० अस० अणता वा, एग्गे-
 गस्स ण मत्ते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारसे के० लोमस० अतीता ? , गो० ! अणता, के० पु० ? , गो० ! क०
 म० क० नत्थि, जस्सत्थि जइ० एक्को वा दो वा त्तिण्णि वा उक्को० स० अस० अणता वा, एग्गेमगस्स ण मत्ते !
 असुरकुमारस्स नागकुमारसे पुच्छा, गो० ! अणता, के० पु० ? , गो० ! क० अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय

स० सिय मसं० सिय अणता, एव जाय यणियकुमारचे । पुढविकाइयचे जाव वेमाणियसे जहा नेरइयस्स भणित
तदेय माणियय, एवं जाव यणियकुमारस्स वेमाणियसे । एगमेगस्स ण भते ! पुढविकाइयस्स नेरइयसे फेष०
लोमस० अतीता ? गो० ! अणता, केवइ० पु० ! गो० ! फ० अतिय क० नतिय, जस्सतिय जइ० एखो वा दो
वा तिमि वा उफो० सखेज्जा वा असं० अण०, पुढवि० असुरकुमारचे अतीता अणता, केव० पु० ! गो० !
कस्सइ अतिय क० नतिय, जस्स अतिय सिय स० सिय अस० सिय अणता, एव जाव यणियकुमारचे, पुढविकाइ-
यचे अतीता अणता, पुरेखुडा कस्सइ अतिय क० नतिय, जस्सतिय जइ० एखो वा दो वा तिणिण वा उफो०
स० अस० अणता वा, एव जाव मणूसचे, घाणमतरचे जहा असुरकुमारचे, जोइसियचे वेमाणियचे अतीता
अणता, पुरेखु० क० अतिय क० नतिय, जस्सतिय सिय सखे० सिय अस० सिय अणता, एव जाव मणूसस्स
वेमाणियचे, घाणमतरस्स जहा असुरकुमारस्स एव जोइसियचेमाणियाणपि' अस्वायमर्थः-नैरयिकस्य नैरयिकत्वे
अतीता लोमसमुद्घाता अनन्ताः, अनन्तश्चो नैरयिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतचिन्ताया कस्यचित् सन्ति कस्य-
श्चिन्न सन्ति, तत्र यः प्रश्नसमयाद्बुद्धौ लोमसमुद्घातमप्राप्त एव नरकमवाप्नुइत्यानन्तर पारम्पर्येण वा सेत्सति न च
मूयो नरकमागामी न घागतोऽपि लोमसमुद्घात गन्ता तस्य नैकोऽपि पुरस्कृतो लोमसमुद्घातः, श्रेयस्व तु भाषी,
तस्यापि कस्यचिदेकः कस्यचित् द्वौ कस्यचित् त्रयः, एतद्य प्रश्नसमयाद्बुद्धमपि तद्भवमात्रां सकृन्नरकमवगाभिनां

वा वेदितव्यं, उत्कर्षतः सङ्क्षेपा वा असङ्क्षेपा वा अनन्ता वा, तत्र सङ्क्षेपान् वारान् नरकमवमागामिनः सङ्क्षेपाः
 असङ्क्षेपान् वारान् असङ्क्षेपाः अनन्तान् वारान् अनन्ताः, तथा नैरयिकत्वस्यासुरकुमारत्वविषयेऽतीतसूत्रं तथैव
 भाषणीयं, पुरस्कृतसूत्रे 'कत्सह अतिय क० णतिय'सि यो नरकमवावुबुधो नासुरकुमारत्व प्राप्सति तस्य न सन्त्य-
 सुरकुमारत्वविषया पुरस्कृताः लोमसमुद्रपाताः, यस्तु प्राप्सति तस्य सन्ति, ते ष जघन्यपदे सङ्क्षेपाः, जघन्य-
 स्थितावप्यसुरकुमाराणा सङ्क्षेपाना लोमसमुद्रपातानां भावात्, लोमसमुद्रत्वात् तेषां, उत्कृष्टपदेऽसङ्क्षेपा अनन्ता
 वा, तत्र सङ्क्षेपस्थितावप्यसङ्क्षेपस्थितिषु वीर्यस्थितिषु वा उत्पत्त्यमानानामवसेय, अनन्तश्च उत्पत्त्यमानानामन-
 ताः, एव नैरयिकस्य नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तरं तावद्ब्रह्मण्यं यावत्स्वनितकुभारत्वे, तथा चाह—'एवं जगत्
 यणियकुमारवे' पृथिवीकायिकत्वेऽतीतसूत्रं तथैव, पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र नर-
 कावुबुधो यो न पृथिवीकायिकत्व प्राप्सति तस्य न सन्ति, योऽपि गन्ता तस्य जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा
 उत्कर्षतः सङ्क्षेपा असङ्क्षेपा अनन्ता वा, ते चैवम्—तिर्यक्पक्षेत्रियमवात् मनुष्यमवाहा लोमसमुद्रपातेन समुद्रतः
 सन् य एक वार पृथिवी गन्ता तस्य एको द्वौ वारौ गन्तुर्द्वौ त्रीन् वारान् गन्तुमय सङ्क्षेपान् वारान् सङ्क्षेपाः
 असङ्क्षेपान् वारान् असङ्क्षेपाः अनन्तान् वारान् अनन्ताः, 'एव जगत् मणुसत्ते' इति एव—पृथिवीकायिकगतेना-
 मिलापप्रकारेण तावद्ब्रह्मण्यं यावद्ब्रह्मण्यत्वे, तथैव—'प्रगमेगत्स ण मते । नेरयत्स आतकावत्ते' इत्यादि, याव-

मनुष्यसूत्रे, तत्राप्कायिकादिपनस्यतिपर्यन्तसूत्रमायना प्रथिषीकायसूत्रवत्, द्वीन्द्रियसूत्रे पुरस्कृतचिन्तायां जघ-
 न्येन एको द्वौ वा त्रयो वेति एतत् सकृत् द्वीन्द्रियमव प्राप्तुकामस्य वेदितव्य, उत्कर्षेण सङ्क्षेपा असङ्क्षेपा अन-
 न्ता वा, तत्र सङ्क्षेपान् धारान् द्वीन्द्रियमव प्राप्तुकामस्य सङ्क्षेपा असङ्क्षेपान् धारान् असङ्क्षेपाः अनन्तान् धारान्
 जनन्ताः, एव त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि मावनीये, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रविषया त्वेव मावना-सकृत् पञ्चेन्द्रियमव
 गन्तुकामस्य स्वमावत एवाल्पलोमस्य जघन्यतः एको द्वौ त्रयो वा, श्रेयस्य तुत्कर्षतः सङ्क्षेपान् धारान् तिर्यक्पञ्चे-
 न्द्रियमव गन्तुः सङ्क्षेपाः असङ्क्षेपान् धारान् असङ्क्षेपाः अनन्ताः, मनुष्यसूत्रे तु पुरस्कृतविषया
 मावना मूलत एव-यो नरकमषादुर्दुर्षोऽल्पलोमकपाय सन् मनुष्यमव प्राप्य लोमसमुद्घातमगत्वा सिद्धिपुर यासति
 तस्य न सन्ति पुरस्कृता लोमसमुद्घाताः, श्रेयस्य तु सन्ति, यस्य सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा,
 ते च एक द्वौ त्रीन् वा लोमसमुद्घातान् प्राप्य सेत्स्यतो वेदितव्याः, सङ्क्षेपादयः प्राग्बद् मावनीया, 'वाणमत-
 रचे जहा असुरकुमारा' इति यथा नैरयिकस्यासुरकुमारत्वे पुरस्कृतविषये सूत्रमुक्त तथा व्यन्तरेष्वपि पकव्य,
 किमुक्तं भवति ?-पुरस्कृतचिन्तायामेव पकव्य- 'कस्तइ अतिय क० नतिय, जस्स अतिय सिय सखेज्वा सिय
 अस० सिय अणता' इति, नत्वेकोत्तरिका वकव्या, व्यन्तराणामप्यसुरकुमाराणामिव जघन्यस्थितावपि सङ्क्षेपानां
 लोमसमुद्घाताना मायान्, 'ओइसियत्ते' इत्यादि, ज्योतिष्कत्वे अतीता अनन्ताः, अनन्तशो ज्योतिष्कत्स्य प्राप्त-

त्वात्, पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, एतत् प्राग्बद् भावनीय, यस्यापि सति तस्यापि कस्यचिद्-
 संशयेया कस्यचिदनता, न तु जातुचित् सङ्क्षेपाः, ज्योतिष्काणा जघन्यपदेऽप्यसङ्क्षेयवर्षीयुष्कतया जघन्यतोऽ-
 प्यसङ्क्षेयानां लोमसमुद्घातानां भावात्, लोमबहुलत्याच्चज्जातेः, एव वैमानिकत्वेऽपि पुरस्कृतचिन्ताया वक्तव्य ।
 तदेव स्थाने परस्थाने च लोमसमुद्घातविहितः, सम्प्रत्यसुरकुमारस्य तं विचिन्तयिपुरिदमाह—‘एगमेगस्स ण’-
 मित्यादि, एफैफस्स असुरकुमारस्य नैरयिकत्वे लोमसमुद्घाता अतीता अनन्ताः, नैरयिकत्यस्यानन्तश्चः प्राप्तत्वात्,
 पुरस्कृताः कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारमषादुद्बुधो न नरक याता नापि सङ्घर् गतोऽपि
 लोमसमुद्घात गन्ता तस्य न सन्ति, यस्तु यासति तस्य जघन्यत एको द्वौ प्रयो वा उत्कर्षतः सङ्क्षेपा असङ्क्षेपा
 अनन्ताः, तत्र सङ्घ्नरकगामिनः एकादयो नैरयिकाणामिष्टद्रव्यसयोगामावतः प्रायो लोमसमुद्घातस्यासम्मवात्,
 उक् च मूळ्टीकायाम्—“नैरइयाण लोमसमुग्घाया योवा चैव मवन्ति, तेसिमिद्धवसजोगामावातो एगाविस-
 म्भ” इति, सङ्क्षेपान् धारान् नरक गन्तुः सङ्क्षेपाः असङ्क्षेपान् धारान् असङ्क्षेपा अनन्तान् धारान् अनन्ताः,
 असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे अतीता अनन्ता सुप्रतीताः, पुरस्कृता कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽ
 सुरकुमारमये पर्यन्तवर्षी न च लोमसमुद्घात याता नापि तत उद्बुधो भूयोऽप्यसुरकुमारत्व वाता किन्त्वनन्तर
 पारम्पर्येण वा सेत्स्यति तस्य न सन्ति, यस्य तु सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतः सङ्क्षेपा

असह्येया अनन्ताः, तत्र एकादशः क्षीणायुःश्रेयाणां तद्वयमाज्जां मूयस्त्वैवानुत्पद्यमानानामपगन्तव्या, सङ्घेया-
 द्वयो नैरयिकत्वेऽपि भावनीयाः, असुरकुमारस्य नागकुमारत्वेऽतीताः प्राग्बत्, पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि
 न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारमेषादुद्धृष्टो न नागकुमारमव गन्ता तस्य न सन्ति, श्रेयस्य तु सन्ति, यस्यापि सन्ति
 तस्यापि स्यात् सङ्घेयाः स्वादसङ्घेया स्वाधनन्ताः, तत्र सकृन्नागकुमारमय प्रासुकामस्य सङ्घेयाः, अथन्यस्थिता-
 यपि सङ्घेयाना लोमसमुद्घातानां भावात्, असङ्घेयान् वारान् प्रासुकामस्य असङ्घेयाः अनन्तान् वारान् अनन्ता,
 एष यावत् खनितकुमारत्वे, पृथिवीकायिकत्वे यावद्बैमानिकत्वे यथा नैरयिकस्य मणित तथैष मणितव्य, एवमसुर-
 कुमारस्य नागकुमारादेरपि तावद्ब्रह्मव्य यावत्खनितकुमारस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषय सूत्र, तथैष—‘एग
 मेगस्स ण मते ! यणियकुमारस्य वैमानियत्ते केवइया लोमसमुग्घाया अतीता ?’ इत्यादि, एष ‘एगमेगस्स ण
 मते ! पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते’ इत्याद्यपि सूत्रं पूर्वोक्तमावधानुसारेण स्वय भावनीय, तदेव नैरयिकादेरेकत्ववि-
 पयाः क्रोधादिसमुद्घाताः प्रत्येक चतुर्विधत्वा चतुर्विधत्वात्तदण्डकसूत्रैर्विचिन्तिताः, सम्प्रति तानेष नैरयिकादिषु-
 त्वविषयान् विचिन्तयिपुरिदमाह—‘नेरइयाण मते’ इत्यादि, नैरयिकाणा मद्यन्त ! नैरयिकत्वे कियन्तः क्रोधसमु-
 द्घाता अतीताः ?, मगयानाह—गौतम ! अनन्ताः, अनन्तञ्चो नैरयिकत्वस्य सर्वजीवैः प्राप्तत्वात्, कियन्तः पुर-
 स्कृता ?, गौतम ! अनन्ताः, प्रथमसमयमाधिनां मध्ये बहूनामनन्तञ्चो नैरयिकत्व प्राप्तुकामत्वात् ‘एष’मित्यादि,

एष-नैरयिकगतेनामिडापप्रकारेण चतुर्विधत्वा चतुर्विधत्वात्तदण्डकसूत्रैर्निरन्तर तावद्वक्तव्यं यावद्देमानिकस्य वैर्मानि-
 फत्ये-वैमानिकविषय सूत्रं, तत्रैव-वैमाणियाण मते ! वैमाणियसे केवइया फोइसमुग्घाया अतीता ? गो० !
 अणता, केपइया पुरेक्खवा ? गो० ! अणता' मायना प्राग्बत्, यथा च क्रोधसमुद्घाता सर्वेषु जीवेषु स्वस्थाने
 परस्थाने चातीताः पुरस्कृताधानन्तत्वेनामिहिताः तथा मानादिसमुद्घाता अपि वाच्या, तथा वाह-—'एव'मि-
 त्यादि, एष-क्रोधसमुद्घातगतेन प्रकारेण चत्वारोऽपि समुद्घाताः सर्वत्रापि स्वस्थानपरस्थानेषु वाच्याः, याबहोम-
 समुद्घातो वैमानिकत्वविषय उक्तो भवति, स चैव-—'वैमाणियाण मते ! वैमाजियसे केवइया लोमसमुग्घाया
 अतीता ? गो० ! अणता, केपइया पुरेक्खवा ? गो० ! अणता' सुगम ! तदेव नैरयिकादिषडुत्वविषया अपि
 क्रोधादिसमुद्घाता प्रत्येक चतुर्विधत्वा चतुर्विधत्वात्तदण्डकसूत्रैर्भित्तिताः, सम्प्रति क्रोधादिसमुद्घाते श्लेषसमुद्घातैश्च
 समयहतानामसमवहतानां च परस्परमत्यबहुत्वमभिविस्तुः प्रथमतः सामान्यतो जीवविषय तावदाह-—

एतेसि णं भव ! स्त्रीषाण कोइसमुग्घातेण माणसमुग्घातेण मायासमुग्घातेण लोमसमुग्घातेण य समोइयाणं अकसायससु
 ग्घातेणं समोइयाण असमोइयाण य कपरेरहिंयो अप्पा वा ४ ? गो० ! सबत्थोवा जीवा अकसायसमुग्घाएण समो०,
 माणसमुग्घाएणं समोइया अणंठ०, कोइस० समो० विसेसाइया मायासमुग्घाएण स० विसे० लोमससु० स० वि०
 अणमोइया संखेज्जगुणा, एतेसि णं मति ! नैरइयाण कोइस० माणस० मायास० लोमस० समोइयाण असमोइयाण य

कपरेरहितो अप्या वा ४ !, गो० ! सवत्योवा नेरइया लोमसमुग्धाएर्भं समोइया मायास० स० संखेज० माणस० स०
 संखे० कोइस० संखे० असमोइया संखे०, असुरकुमाराणं पुच्छा, गो० ! सवत्योवा असुरकुमाराण कोइस० समो०
 माणसमुग्धाएर्भं स० संखे० मायास० स० सं० लोमस० समो० संखे० असमोइया संखेजगुणा, एवं सवदेवा आव
 वेमाणिया, पुढभिकाइयाणं पुच्छा, गो० ! सवत्योवा पुढभिकाइया माणसमुग्धाएर्भं समोइया कोइसमु० स० विसे०
 मायासमु० स० विसे० लोमस० स० विसे० असमो० संखे, एव बाध पंचिदिपतिरिक्खजोणिया, मजुस्सा अद्वा जीवा,
 जवरं माणसमु० स० अंसं० (सूत्रं ३४०)

'एएसि ण'मित्यादि, एतेषां मदन्त ! जीवानां क्रोधसमुद्घातेन मानसमुद्घातेन मायासमुद्घातेन लोमसमुद्घा
 तेन च समवहताना 'अकपायेणे'ति कपायव्यतिरेकेण श्रेयेण समुद्घातेन समवहतानामसमवहतानां च कतरे कत
 रेभ्यः अल्पा या बहयो वा 'अर्थवशाद्धिमक्तिपरिणाम'इति न्यायात् पञ्चम्याः स्थाने तृतीयापरिणामनासु कतरैः
 कतरैस्तुल्या वा, तथा कतरेरभ्यो विशेषाधिकाः, एष गौतमेन पृष्टे भगवानाह—गौतम ! सर्वस्त्रोका जीवा
 अकपायसमुद्घातेन—कपायव्यतिरिक्तेन श्रेयवेदनादिसमुद्घातपदकेन समवहता, कपायव्यतिरिक्समुद्घातसमुद्घता
 रि क्वचित् कदाचित् केचिदेव प्रतिनियता लभ्यन्ते, ते चोत्कर्षपदेऽपि कपायसमुद्घातसमयहतापेक्षया अनन्त-
 मागे वर्धन्ते, ततः स्त्रोकाः, तेभ्यो मानसमुद्घातसमयहता अनन्तगुणाः, अनन्तानां वनस्पतिजीवानां पूर्वमवस-

स्मरानुष्टिभितो मानसमुद्रघाते वर्षमानानां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यः क्रोधसमुद्रघातेन समपहता विद्वेषाधिकाः,
 मानापेक्षया क्रोधिनां प्रजुरत्वात्, तेभ्यो मायासमुद्रघातेन समपहता विद्वेषाधिकाः, क्रोध्यपेक्षया मायाविना
 प्रजुरत्वात्, तेभ्योऽपि लोभसमुद्रघातेन समपहता विद्वेषाधिका, मायाविभ्यो लोभयतामतिप्रभूतत्वात्, तेभ्यो-
 ऽपि केनाप्यसमपहता सार्वत्रियगुणा, घतसुखपि गतिषु प्रत्येक समपहतेभ्योऽसमपहतानां सदा सार्वत्रियगुणतया
 प्राप्यमाणत्वात्, सिद्धास्त्वैकेन्द्रियापेक्षयानन्तमागयर्त्तिन इति ते सन्तोऽपि न विवक्षिताः, एतदेवाल्पधदुत्व
 पतुर्गतिदण्डकक्रमेण चिन्तयन्नाह—‘एएसि ण’मित्यादि सुगम, नत्र सर्वस्वोका नैरयिका लोभसमुद्रघातेन
 समपहता इति, नैरयिकाणामिष्टद्रव्यसयोगाभावात् प्रायो लोभसमुद्रघातस्त्वावन्नोपपद्यते, येषामपि घ केयाश्चिद्भवति
 ते कतिपया इति नेपसमुद्रघातसमपहतापेक्षया सर्वस्वोकाः, असुरकुमारविपयाल्पधदुत्वचिन्तायां सर्वस्वोकाः क्रोध-
 समुद्रघातसमुद्रता इति, देवा हि स्वमायतो लोभबहुलास्ततोऽल्पतरा मानादिमन्तः ततोऽपि कदाचित्कतिपये क्रोध-
 पत इति नेपसमुद्रघातसमपहतापेक्षया सर्वस्वोकाः, ‘एय सधेया जाय वेमाणिया’ इति एव—असुरकुमारगतेना-
 स्त्वपदुत्वप्रकारेण सर्वे देवा नागकुमारादयस्त्वाथद्वकन्याः यावद्भैमानिकाः, पृथिवीकायिकचिन्तायां सामान्यतो
 जीयपदे इव मायना मावनीया, समानत्वात्, ‘एय जावे’त्वादि, एय—पृथिवीकायिकोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्रम्य
 पायन् तिरिपद्वैकेन्द्रियाः, मनुज्या यथा जीवाः, नभस्परुपायसमुद्रघातसमपहतापेक्षया मानसमुद्रघातेन समपहता

असद्वैयगुणा यकभ्याः । सम्प्रति कति छात्रस्थिकाः समुद्रघाता इति निरूपणार्थमाह—

कृ णं मते ! छात्रमस्थिया समुद्रघाता यं १, गो० ! छ छात्रमस्थिया स० य०, सं०—वेदपास० कसायस० मारणति-
यस० वेउवियस० तेपास० आहारगसमुम्भावे, नेरइयां मते ! कति छात्रमस्थिया स० पं० १, गो० ! चचारि छात्र
मस्थिया स० य०, सं०—वेदपास० कसायस० मारणंस्थियस० वेउवियस०, असुरकुमाराण पुच्छा, गो० ! पंच छात्र० समु०
पं०, सं०—वेदपासमु० कसायसमु० मारणंस्थियस० वेउवियस०, एगिदिमविगलिदियाण पुच्छा, गो० !
विधि छात्र० समु० पं०, सं०—वेदपासमु० कसायस० मारणंस्थियस०, णवर वाउकाइयाणं चचारि स० पं०, सं०—वेद
णास० कसायस० मारणंस्थियस० वेउवियस०, पंधिदियतिरिखजोभियाणं पुच्छा, गो० ! पंच० स० पं०, सं०—वेद
णास० कसायस० मारणंस्थियस० वेउवियस० वेउवियस० कति छात्रमस्थिया समु० पं० १, गो० ! छ छात्रम
स्थिया स० पं०, सं०—वेदपास० कसायस० मारणंस्थियस० वेउवियस० आहारगस० (सूत्रं ३४१)

'कृ ण मते !' इत्यादि सुगमं, अथ कति केषां छात्रस्थिकाः समुद्रघाता इति चतुर्विधत्तिदण्डकक्रमेण निरूप-
यति—'नेरइयाण'मित्यादि, नेरथिकाणामाघाभत्वरो वेदनादिसमुद्रघाताः, तेषां तेजोलब्ध्याधारकलब्धमाषत-
स्रैजससमुद्रघाताहारकसमुद्रघातासम्भवात्, असुरकुमारादीना सर्वेषामपि देयानामाहारकसमुद्रघातपर्जाः श्रेयाः
पञ्च समुद्रघाताः, तेषां तेजोलब्धिसम्भवात् तैजससमुद्रघातस्यापि सम्भवात्, यत्त्याहारकसमुद्रघातः स तेषां न

सम्मयति, घटुर्द्वेषपूर्वाधिगमामायतो भवप्रत्ययाच्च तेषामाहारकलञ्च्यमावात्, वायुकायवर्जैकेन्द्रियविकलेन्द्रि-
नामाघा वेदनाकपायमरणलक्षणस्त्रय समुद्घाताः, तेषां वैक्रियाहारकतेजोलञ्च्यमावत्सुखत्समुद्घातासम्भवात्,
वायुकायिकाणां पूर्वं त्रयो वैक्रियसमुद्घातसहितान्मत्स्वारः समुद्घाताः, तेषां वादरपर्याप्तानां वैक्रियलञ्चिसम्भवतो
वैक्रियसमुद्घातत्वायि सम्भवात्, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामाहारकसमुद्घातवर्जाः श्रेयाः पञ्च छाग्नस्थिकाः समु-
द्घाताः, यस्त्वाहारकसमुद्घातः स तेषां न सम्भवति, घटुर्द्वेषपूर्वाधिगमामावत्स्वेषामाहारकलञ्च्यसम्भवात्,
मनुष्याणां पदपि, मनुष्येषु सर्वमावसम्भवात् । तदेव यति येषां छाग्नस्थिकाः समुद्घातास्तति तेषां निरूपिताः,
सम्प्रति यस्मिन् समुद्घाते वर्चमानो यावत् क्षेत्रं समुद्घातपञ्चतस्त्रैस्त्रैः पुद्गलैर्बर्वाभिति तदेतन्निरूपयति—

जीवे नं भवे ! वेदपासमुग्याएणं समोदवे समोदणिचा जे पोगले निच्छुमति तेदि णं भवे ! पोगलेदि केवहे खेचे
अकुण्णे केवतिते खेचे कुटे !, गो० । सरीरप्पमाणमेचे विरखंमन्नाइहेणं नियमा छरिसि एवतिते खेचे अकुण्णे एवतिते
ऐचे कुटे, से णं भवे ! खिचे केवतिकालस्स अप्पुटे केव० कुटे !, गो० ! एगसमएण वा दुसमएण वा तिसमएण
या पियगोदणं एवतिकालस्स अकुण्णे एवदपकालस्स कुटे, ते णं भवे ! पोगले केवतिकालस्स निच्छुमति !, गो० । अएण्णे
अंतोसुदुत्तस्स उक्को० पि० अंतो०, ते णं भवे ! पोगला निच्छुवा समाणा जाति तरय पाणाति भूयाति जीयाति सचाति
अभिरणंति एवेति छेत्तेति संपाएंति संपेद्वेति परिणावेति किलामेति उएवेति तेहिलो णं भवे ! से जीवे कतिक्किरिए !,

गो० ! सिय तिकिरिए सिय चडकिरिए सिय पंचकिरिए, ते नं मते ! जीवा ठातो जीवाओ कतिकिरिया-१, गो० !
 सिय तिकिरिया सिय चडकिरिया सिय पंचकिरिया, से नं मते ! जीवे ते य जीवा अण्जेसि जीवाण परंपराघाएणं
 कतिकिरिया ?, गो० ! तिकिरियाधि चडकिरियाधि पंचकिरियाधि, नेरइए नं मते ! वेदनासमुघाएणं समोहते, एवं
 जइए जीवे, जवरं नेरइयामिलावो, एवं निरवसेसं जाव वेमाणिते । एवं कसायसमुघातोयि माणितवो । जीवे नं मते !
 मारमंतियसमुघाठेण समोइएण समोहणित्ता चे पोगळे णिच्छुमति वेहि ण मते ! पोगळेहि केवतिते खेचे अण्णुणे
 केवतिते खेचे फुटे !, गो० ! सरीरप्पमाणमेसे विवखंमवाहएणे आयामेणं जइएणं अंगुलस्स असंखेअतिभागं उक्कोसएणं
 असंखेजाधि जोयणाधि एमविसि एवतिते खेचे अण्णुणे एवतिए खेचे फुटे, से नं मते ! खेचे केवतिकालस्स अण्णुणे
 केवतिकालस्स फुटे !, गो० ! एगसमइएण या दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गरेणं एवतिकालस्स
 अण्णुणे एवतिकालस्स फुटे, सेसं तं चेष जाव पंचकि०, एवं नेरइएधि, जवरं आयामेणं जइएण साइरेणं जोयणसहस्सं
 उक्को० असंखेजाधि जोअणाधि, एगदिसि एवतिते खेचे अण्णुणे एवतिते खेचे फुटे, विग्गरेण एमसमइएण वा दुसमइएण
 वा तिसमइएण वा चउसमतिएण वा ममति, सेसं तं चेष जाव पंचकिरियाधि, असुरकुमारस्स जहा जीवपदे, जवरं विग्गहो
 तिसमइओ जहा नेरइयस्स, सेसं य चेष जहा असुरकुमारे, एवं जाव वेमाणिते, जवर एणिविये जहा जीवे निरव
 सेसं (सूत्रं ३४२)

'जीवे नं मते !' इत्यादि, जीवो णमिति धाक्यालङ्कारे-वेदनासमुघाते धर्षमानः तस्मिन् समवहतो भवति

ममरहस्यं य यान् गुद्रज्ञानं वेदनायोग्यान् स्वरीरान्तर्गतान् 'निच्छुम्भ' इति विक्षिपति आत्मविशिष्टान् करो-
तीत्य, 'तेहि न'मिति तैः गुद्रैः कियत् धैत्रमापूर्णं, आपूर्णत्वमपान्तराले कियदाकाशप्रदेशासस्पर्शनेऽपि व्यव-
हारत उप्यते तत आह—'कियत् धैत्रं सृष्ट-त्रतिप्रवेशापूर्णेन व्याप्त, एव गौतमेन प्रश्ने कृते सति मगधानाह—
'मरीरे'त्यादि नियमात्—नियमेन 'छिदिसि'ति पद् द्विशो यत्रापूर्णे स्वर्शने वा पद् द्विदिक् तद्यथा भवति एव विष्क-
म्बनो—पिष्टरेण वाहृत्यत—पिण्डतः गरीरप्रमाणमात्र, यावत्प्रमाणः स्वदरीरस्य विष्कम्बो यावत्प्रमाणं च
षाहस्य पतायमात्रमापूर्णं सृष्ट चेति वाक्येनैव, तदेव निगमनद्वारेणाह—'एयइए खेत्ते अकुण्णे एयइए खेत्ते
कुड' इति, इह वेदनाममुद्रपातो वेदनातिगयात्, वेदनातिशयश्च लोकनिष्कुटेषु जीवानां न भवति, निरुपद्रवस्या-
नवर्भितान् तेषां, किन्तु श्रगनाव्या अन्त, तत्र परोदीरणसम्भयात्, तत्र च पद् द्विदिक्सम्भय इति नियमाच्छि-
दिसिपितुण्, अन्यथा 'मिय तिदिमिं सिय चउदिमिं मिय पंचदिसि'मित्याद्युच्येत, मय स्वदरीरप्रमाणविष्कम्बमा-
दल्पमेव धैत्रमापूर्णं सृष्ट च विप्रहगतौ जीवस्य गतिमधिकृत्य कियद्दूर यायद्भवति कियन्त च कालमित्येतन्निरूप-
नापमाह—'धे णं मते !' इत्यादि, ननुमकृत्ये पुस्त्य प्राकृतत्यात्, तत्—अनन्तरोक्तप्रमाणं जमिति प्राग्बत् भद-
न्त ! धैत्र कालम्भ इति—प्राकृतत्यात् तृतीयापे पथी क्रियता कालेन सृष्ट, किमुक्त भवति ?—
पिण्ड वाड पायन् भवतीरप्रमाणपिष्कम्बमाहृत्य धेत्र निरन्तर विप्रहगतौ जीवस्य गतिमधिकृत्यापूर्णं सृष्टं च

लभ्यते इति ? , भगवानाह—गौतम ! एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा विप्रहेण, किमुक्त भवति ?—
 एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा विप्रहेण यावन्मात्र क्षेत्रं व्याप्यते इयद्दूर यावत् स्वधरीरप्रमाणविष्क-
 म्मपाहृत्य क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं—भूत जीवस्य गतिमधिकृत्यावाप्यते, तत एतद्भूतमुत्कर्षत्वक्रिसा
 मयिकेन विप्रहेण यावन्मात्र क्षेत्रमभिव्याप्यते एतावदात्मविच्छिद्यैर्वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं लभ्यते, इह
 षटुःसामयिकः पञ्चसामयिकश्च विप्रहो यद्यपि सम्भवति तथापि वेदनासमुद्घातः प्रायः परोदीरितवेदनावशत
 उपजायते, परोदीरिता च वेदना त्रसनाब्जा व्यवस्थितस्य न बहिः, त्रसनाडीग्यवस्थितस्य च विप्रह उत्कर्षतोऽपि
 त्रिसामयिक इति उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिकेन विप्रहेणेत्युक्तं, न चटुःसामयिकेन पञ्चसामयिकेन वेति, उपसं-
 हारपाठ्यमाह—‘एवमयकालस्व भ्रुकुण्णे एवमयकालस्व फुट्टे’ एतावता उत्कर्षतोऽपि त्रिसमयप्रमाणेनेत्यर्थः
 कालेनापूर्णेमेतायता कालेन स्पष्ट, किमुक्त भवति ?—विप्रहगताहुत्कर्षतः त्रीन् समयान् यावत् त्रिभिश्च समयैर्या-
 वन्मात्रं व्याप्यते इयन्तीं सीमामभिव्याप्य स्वधरीरप्रमाणविष्कम्मपाहृत्य क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं भूत
 च जीवस्य गतिमधिकृत्य व्याप्यते, अथवा ‘केयइय कालस्व’त्ति पञ्चमेव व्याख्येया, ततः स्वधरीरप्रमाणविष्कम्म-
 पाहृत्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं भूत च जीवस्य विप्रहगतिमधिकृत्य कियतः कालस्य सम्बन्धि, कियन्त
 काल यावदवाप्यते इत्यर्थः, भगवानाह—एकसमयेन द्विसमयेन त्रिसमयेन वा विप्रहेणापूर्णं स्पष्ट च लभ्यते इति

धाक्यशेषः, तत एतावता उत्कर्षतः त्रिसमयप्रमाणस्य कालस्य सम्बन्धि यथोक्तप्रमाणं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः
 पुद्गलैरार्षभैस्तावता कालस्य सम्बन्धि स्पृष्टमिति । सम्प्रति यावन्तं कालं वेदनाजननयोग्यान् पुद्गलान् विधिपति
 तावत्कालप्रमाणं प्रतिपादनार्थमाह—'ते ण मते !' इत्यादि, तान् वेदनाजननयोग्यान् पुद्गलान् जमिति धाक्याल-
 द्दारे भवन्त !—परमकल्याणयोगिन् परमसुखयोगिन् वा पुद्गलान् कियतः कालस्य सम्यग्धि नो विधिपति ? , किय-
 त्कालं वेदनाजननयोग्यान् विधिपतीति माषः, भगवानाह—अर्धन्येनाप्यन्तर्मुद्घर्त्तस्य सम्बन्धिन उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मु-
 ढ्घर्त्तस्य, केवलं मनाक् घृहत्तरस्य सम्बन्धिनः विधिपति, किमुक्तं भवति ?—ये पुद्गला जयन्त्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुद्घर्त्त-
 यावत् वेदनाजननसमर्थाः तान् तथा ? वेदनार्थं सन् स्वशरीरगतान् स्वशरीराद्दहिरात्मप्रदेशेभ्योऽपि विश्लिष्टान्
 विधिपति, यथाऽत्यन्तदाहन्वरीपीडितः सन् सूक्ष्मपुद्गलान्, प्रत्यक्षसिद्धं चैतदिति, 'ते णं मते !' इत्यादि, ते
 णमिति पूर्ववत् भवन्त ! पुद्गला विधिपताः सन्तः शरीरसम्बन्धा जसम्बन्धा वा 'जाय तत्ये'त्यादि प्राकृतत्वात् पुस्त्वे-
 ऽपि नपुसकता यान् तत्र वेदनासमुद्घातगतपुरुषसंस्पृष्टे क्षेत्रे प्राणान्—द्वित्रिचतुरिन्द्रियान् शङ्ककीटिकामधिकारीन्
 मृतान्—वनस्पतीन् जीवान्—पञ्चेन्द्रियान् ग्रहगोधिकासर्पादीन् सत्त्वान्—क्षेपपृथिवीकायिकादीन् जमिमन्ति—जमि-
 मुखमागच्छन्ती मन्ति बर्षयन्ति—जावर्षयन्ति—मनाक् स्पृष्टमिति सद्भातयन्ति—परस्परं तात्र
 सद्भातमापन्नान् कुर्वन्ति सद्दृढन्ति—अतीव सद्भातविशेषमापादितान् कुर्वन्ति परितापयन्ति—वीरुचन्ति ज्ञानय-

न्ति-सूक्ष्मपञ्चान् कुर्वन्ति अपत्रावयन्ति-जीवितात् व्यपरोपयन्ति, तेभ्यः पुद्गलेभ्यः तेषां प्राणरदीनां विषये भव-
 न्त । सः-अधिकृतो वेदनासमुद्घातगतो जीवः कतिक्रियः प्रज्ञसः ? , मगयानाह-गौतम ! 'सिय तिकिरिप' इति,
 स्वात्तुद्गच्छः कयच्चित्त्यायां, कयच्चित् कदाचित् काञ्चिच्च जीवानधिकृत्येत्यर्थः त्रिक्रियः, किमुक्तं भवति ?-यदा
 न केपाच्चित् सर्वथा परितापन जीवितात् व्यपरोपण वा करोति तदा सर्वथा त्रिक्रिय एव, यदापि केपाच्चित्परि-
 ताप मरण वाऽऽपादयति तदापि तेषां नावाधासुत्पादयति तदपेक्षया त्रिक्रियः, 'सिय चठकिरिप' इति केपा-
 चित्परितापकरणे तदपेक्षया चतुष्क्रिय इति, केपाच्चिदपद्राण्ये तदपेक्षया पञ्चक्रिय इति, सम्प्रति तमेवाधिकृत
 वेदनासमुद्घातगत जीवमधिकृत्य तेषां वेदनासमुद्घातगतपुद्गलस्युदानां जीवानां क्रिया निरूपयति- 'ते ण
 मते !' इत्यादि, ते-वेदनासमुद्घातगतपुद्गलस्युदा षमिति पूर्ववत् भवन्त ! जीयास्वतो-वेदनासमुद्घातपरिगतान्
 जीवान् अत्र 'स्वानियपः कर्माधारयोः' इति स्वानिन यपमधिकृत्य पञ्चमीय, अयमर्थः-त वेदनासमुद्घातपरिगत
 जीवमधिकृत्य कतिक्रियाः प्रज्ञसाः ? , मगयानाह-गौतम ! स्वात्रिक्रियाः यदा न काञ्चिच्चत्यावाधामापादयितु
 प्रमविष्णयः, स्वाचतुष्क्रिया यदा त परितापयन्ति, इदयन्ते शरीरेण स्पृश्यमानाः परितापयन्तो वृश्चिकादयः,
 स्वात् पञ्चक्रियाः ये त जीपितावपि व्यपरोपयन्ति, सिद्धाद्य प्रत्यक्षतः शरीरेण स्पृश्यमाना जीविताव्यावयन्तः
 सर्पादय इति, सम्प्रति तेन वेदनासमुद्घातगतेन जीवेन व्यापाद्यमानैर्जीविष्येऽन्ये जीवा व्यापाद्यन्ते ये चान्यैर्जी-

वैर्ण्यापाद्यमाना वेदनासमुद्घातगतेन जीवेन व्यापाद्यन्ते तानधिष्ठत्य तस्य वेदनासमुद्घातपरिगतस्य तेषां च
 समुद्घातगतजीवसम्यधिपुद्गलस्पृधानां जीवानां क्रियानिरूपणार्थमाह—‘से ण भते ! जीवे ते य जीवा’ इत्यादि,
 सः—‘अधिष्ठतो वेदनासमुद्घातगतो जीव ते च वेदनासमुद्घातपरिगतजीवसम्वन्धिपुद्गलस्पृष्टाः अन्येषां जीवानामु
 पवदितेन प्रकारेण य परस्परघातत्वेन परस्परघातेन कतिक्रियाः प्रवृत्ताः ?, मगवाभाह—‘गौतम ! स्यात् त्रि
 क्रिय इत्यादि पूर्ववत् मावचितम्ब्यः, एनमेव वेदनासमुद्घातमुक्तेन प्रकारेण नैरयिकादिषु घटुर्विद्यतिस्थानेषु चिन्त-
 यत्ताह—‘नेरएण ण भते !’ इत्यादि, एव-उक्तेन प्रकारेण यथैव प्राक् सामान्यतो जीवो वेदनासमुद्घातमधिष्ठत्य
 चिन्तितः तथा नैरयिकोऽपि चिन्तयितव्यः, नवर जीवाभिलापस्थाने नैरयिकाभिलापः कर्त्तव्यो, यथा ‘नेरएण
 भते ! येयणासमुग्घाएण समोहए, समोहएत्ता जे पोग्गळे निष्कुमइ’ इत्यादि, ‘एय निरवसेस जाव वेमाणिए’
 इति एष—‘नैरयिकोक्तेन प्रकारेण द्वेषेष्वपि स्थानेषु सखाभिलापपूर्वक निरवक्षेप तावद्वक्तव्य यावद्वैमानिका—
 वैमानिकभिलापः । तदेवमुक्त्वा वेदनासमुद्घातः, सम्प्रति कृपायसमुद्घातः समानप्रकल्पत्वात्वेदसतोऽभिधित्वु
 राह—‘एय कसायसमुग्घाजोऽपि माकियवो’ इति, एव—वेदनासमुद्घातगतेन प्रकारेण सामान्यतो जीवपदे चटु-
 पिञ्चदिदण्डकक्षेमेण च कृपायसमुद्घातोऽपि इच्छव्यः, स चैवम्—‘जीवे ण भते ! कसायसमुग्घाएण समोहए, समो-
 हणिघा जे पोग्गळे निष्कुमइ’ यान् पुद्गलान् शरीरान्तर्गतान् कृपायसमुद्घातव्यसमुत्पन्नप्रकल्पितेषु सखरीराव-

पहिरात्मप्रदेशेभ्योऽपि विशिष्टान् करोति, 'तेहि णं भते ! पोगलेहिं केवइए खेचे अफुण्णे केवइए खेचे अफुण्णे केवइए खेचे फुठे !',
 गो० ! शरीरव्यमाणमेत्ते विक्खमपाहणेण नियमा छहिसिं पयइए खेचे अफुण्णे एवइए खेचे फुठे' कपायसमु-
 दयातो हि प्रथम उद्भवति त्रसजीवानां, तेपामेप तीप्रतराध्ययसायसम्मथाद्, एकेन्द्रियाणा तु पूर्वमवानुवृत्तितः,
 त्रसजीवाश्च त्रसनाख्यां न ततो बहिः, त्रसनाख्यां च व्यवस्थितः स्वशरीरप्रमाण विक्कम्मवाहल्य क्षेत्रमात्मविच्छिष्टैः
 पुद्गलैः भूत पद्धिपत्यमशयमुपपद्यते इति 'नियमा छहिसिं'मित्युक्तम्, 'एवइए खेचे अफुण्णे एवइए खेचे फुठे'
 इत्यादि सर्वे समान । सम्प्रति मरणसमुद्घातमभित्सुराह—'जीवे ण भते ! मारणतियसमुग्घापण'मित्यादि, इति
 पूर्णपत्, मदन्त ! कधिन्मारणान्तिफससुद्घातेन समवहत्तः समवहत्त च यान् पुद्गलान् तैजसादिशरीरान्तर्गतान्
 'निन्दुमइ' इति विधिपति, आत्मप्रदेशेभ्यो विशिष्टान् करोति तैर्मदन्त ! पुद्गलैः कियत् क्षेत्रमापूर्णे कियत् क्षेत्र
 भूतम्?, मगयानाह—गौतम ! विक्कम्मवाहल्यतः शरीरप्रमाणमायामतो जघन्यतः शरीरातिरेकाद्गुलासङ्घेयमाग-
 मात्रं यदा तावन्मात्रे क्षेत्रे उत्पद्यते उत्कर्षतोऽसङ्घेयानि योजनानि एतथ यदा तावति क्षेत्रे अन्यथा वा द्रष्टव्यम्,
 एकविधि-एकस्या दिशि न तु विदिशि स्वभावतो जीवप्रदेशानां विधि गमनसम्भवात्, एतावत् क्षेत्रमापूर्णेमेतावत्
 क्षेत्र स्पृष्ट, जघन्यतः उत्कर्षतो वा आत्मप्रदेशैरपि एतावत् क्षेत्रस्य पूरणसम्भवात्, सम्प्रति विग्रहगतिमधिकृत्या-
 पूरणविषय स्पर्शनविषय च कालप्रमाणमाह—'से ण भते !' इत्यादि, तस् उत्कर्षेणायामतोऽनन्तरोक्त्प्रमाण मद-

कोत्सिगुः प्रथमममे ऊर्जमागच्छति द्वितीयसमये धायग्या दिश पश्चिमदिश तृतीये ततः पुर्यदिशमिति, पवम-
 गुरगुमातद्विष्यपि यथायोग त्रिममयप्रिप्रहमानना कार्यो, 'सेस त धेय जाय पचकिरियाचि' इति श्रेय सूत्रं तदेव
 पदनागमुद्रयातगतं, 'ते ण मते! पोगला केवइया फालस्स निष्कुमति ? गो० । जह्वेणवि अतो० सको० अतो-
 मुद्रुसम्भे'त्तादि तापश्चक्य यापदन्तिम पद 'पचकिरियाचि' इति, असुरकुमारपिपये अतिवेशमाह—'असुरकु-
 मारम्म जहा नीरपदे' इति यथा सामान्यतो जीवपदेऽभिहितं तथा असुरकुमारस्याप्यभिघातग्य, एतापता
 किमुक्त मपति ?—यथा नीरपदे आयामत धेय जयन्यतोऽहुलासद्भेयमागमात्र उत्कर्षतोऽसद्भेयानि योजनानि
 तथाऽत्रापि पक्ष्य, कथ जपन्यतोऽहुलासद्भेयमागमात्रमिति चेत्, तन्यते, इहासुरकुमारादय ईशानदेवपर्यन्ताः
 शृषिष्यग्भुरनस्यतिग्युत्पद्यते, ततो यदा कोऽप्यसुरकुमारः सद्भिष्टान्यवसापी स्वकुण्डलाघेकदेशे 'पृथिवीकायि
 परेनोतिपत्युंमंजगमुद्रयातमादयति तदा जयन्येनायामत धेयमहुलासद्भेयमागमागमयाज्यते इति यथा जीव
 पदे इत्युक्त, ततोऽत्रापि निप्रहगतिघतु सामर्थिकी प्राप्नोति तत आह—नवर विप्रहक्रिसामर्थिको यथा नैरयि-
 क्त्य, तेर मय तदेष पत् मामान्यतो जीवपदे, नागकुमारादिष्वतिदेशमाह—'जहा असुरकुमारे' इत्यादि, यथा
 अगुगुयोऽभिहितमेव नागगुमारादिषु तापद् पक्ष्य पापदेमानिकरियय सूत्र, नवरत्येकत्रये पृथिव्यादिरूपे
 यथा त्रीरे—नागपत्तो जीवपदे तथा निगबन्नेपे पक्ष्ये किमुक्त मपति ?—यथा जीवपदे चतुःगामभिक्षोऽदि विपद

उक्तः तथा प्रथिव्यादिव्यपि पञ्चसु स्थानेषु षट्कथ्यः । शेषं तपैवेति, तदेवमुक्तो मारश्रान्तिकसमुद्घातः, साम्प्रत
 वैक्रियसमुद्घातमभिधित्सुरार—

जीवे न मते ! वेदविमसमुद्घातं समोद्वेते समोद्वेषिषा च पुगले निष्कृमति तेहि नं मते ! पोगलेहि केवतिते खेपे
 अफुण्णे केवतिप खिचे फुटे !, गो० ! सरीरप्यमाजमेचे विपखंमवाहृष्ट्यं आयामेणं जह० अंगुलस्स संखेअतिमागं
 उक्को० संखिआति जोअजाति एगदिसि विदिसि वा एवएए खिचे अफुण्णे एवतिते खेचे फुटे, से नं मते ! केवतिका
 तस्स अफुण्णे केवतिस्सलस्स फुटे !, गो० ! एगसमएण वा दुसमएण वा विसमएण वा विगणेणं एवतिकास्स
 अफुण्णे एवतिकास्स फुटे, सेसं तं वेव जाव पंचकिरियावि, एव नेरएएवि, नवरं आयामेणं जह० अंगुलस्स असंखे
 अतिमागं उक्को० संखिआरं जोअजारं एगदिसि, एवतिते खेचे, केवतिकास्स !, तं चेष जहा जीवपदे, एव जहा नेर-
 एस्स जहा असुरकुमारस्स, नवरं एगदिसि विदिसि वा, एवं जाव यणियकुमारस्स, वाउकाइयस्स जहा जीवपदे, नवरं
 एगदिसि, पधियतिरिक्खजोथियस्स निरवसेसं जहा नेरइयस्स, मसूसापयंतरोइसियवेमाथियस्स निरवसेसं जहा
 असुरकुमारस्स ! जीवे नं मते ! वेपगसमुद्घातं समोद्वेते समोद्वेषिषा च पुगले निष्कृमति तेहि नं मते ! पोगलेहि
 केवतिते खेचे अफुण्णे केवएए खिचे फुटे, एवं जहेव वेजविते समुम्वाते तेहेव, नवरं आयामेण जह० अंगुलस्स असंखेअ-
 तिमागं सेसं तं चेष एवं जाव वेमाथियस्स, नवरं पंधियतिरिक्खजोथियस्स एगदिसि एवतिते खेचे अफुण्णे एवदिसिप-

स्स कुटे । श्रीव न मते ! आशरगसमुद्यतं समोहते समोहयिषा से योगले निष्कृमति तेहि नं मते ! योगलेहि
 केवइए खिचं अफुण्णे कवइए खेचे कुटे !, गो० ! सरीरप्पमानमेचे थिन्खंमवाहोखं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स अत्त-
 खेजतिभागं उक्को० सखेच्चार्त्तं नोयणार्त्तं एगदिस्सिं, एवतिते खेचे एगसमदिणण वा दुसम० तिसम० विग्गोण एवतिका-
 लस्स अफुण्णे एवतिकालस्स कुटे, ते नं मते ! योगला केवतिकालस्स निष्कृमति !, गो० ! इह० अत्तो० उक्को०
 अंतोमुदुसस्स, ते नं मते ! योगला लिच्छूदा समाणा वार्त्ति तस्य पायात्तिं सप्पात्तिं श्रीवात्तिं अभिइयंति वाव
 उरपेत्ति, वे नं मते ! श्रीवे कतिकिरिण !, गो० ! सिय विक्कि० सिय चउ० सिय पंचकिरिण, वे णं मति ! श्रीवाओ
 कतिकिरिया !, गो० ! एव वेव, से णं मते ! ते य श्रीवा अण्णोत्तिं श्रीवाणं परंपराघातेणं कतिकिरिया !, गो० !
 विक्किरियावि चउकिरियावि पंचकि०, एवं मणूसेषि (सूत्रं ३४३)

'श्रीये ष मते ! वेउषिण्' इत्यादि प्राणवत्, नवरमायामत उत्कर्षतः सङ्घेषानि योजनानि, एतच्च वायुकायिक
 पर्वनैरयिकाद्यपेक्षया ब्रह्म्यं, ते हि वैक्रियसमुद्घातमारममाषास्रपाविद्यप्रयत्नभिन्नेयमावतः सङ्घेषान्येव योजना-
 न्युत्कर्षतोऽप्यात्मप्रदेशानां दण्डमारचयन्ति, नासङ्घेषानि योजनानि, वायुकायिकास्तु जयन्त्यतो वा उत्कर्षतो वा
 महुलासङ्घेषभाग, तावत्प्रमाणं चोत्कर्षतो दण्डमारचयन्तस्त्रापति प्रवेशे सैजसादिस्त्रीरिपुप्रदान् भात्मप्रवेद्वेभ्यो
 विधिपन्ति, ततस्त्रैः पुत्रलैर्घत क्षेत्रमायामत उत्कर्षतोऽपि सङ्घेषान्येष योजनान्यवाप्यन्ते, एतच्चैव क्षेत्रप्रमाण

केवल वैक्रियसमुद्घातसुद्भव प्रयत्नमधिकृत्योक्त, यदा तु कोऽपि वैक्रियसमुद्घातमधिरूढो मरणमुपस्थितः कथ-
 मम्युत्कृष्टवेद्येन त्रिसामायिकेन विमोहेणोत्पत्तिवेद्यमभिगच्छति तदा सङ्घातीतान्यपि योजनानि यावदायामक्षेत्रम-
 वसेय, तावत्प्रमाणं क्षेत्रापूर्ण मरणसमुद्घातप्रयत्नसुद्भवमिति सदपि न विवक्षित, 'एकदिसिं विदिसिं वा' इति, तत्
 जघन्यत सत्कर्पतो वा यथोक्तप्रमाणमायामक्षेत्रमेकसां दिशि विदिशि वा द्रष्टव्य, तत्र नैरयिकाणां पञ्चेन्द्रियतिरस्वां
 यायुकायिकानां च नियमादेकदिशि, नैरयिका हि परब्रह्मा अत्यर्द्धयश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाभ्याल्पर्द्धय एव वायुकायि-
 का यिन्निष्ठचेतनाविकलास्तस्त्रेया वैक्रियसमुद्घातमारममाणानां यदि परं तथास्वामाभ्यादेवात्मप्रवेशदृष्टविनिर्ग-
 मस्त्रेम्यभात्मप्रवेशेभ्यो यिच्छिव्य पुद्गलानां च स्वभावतोऽनुश्रेण्यगमनं न तु विद्येणितः ततो दिश्येव नैरयिकतिर्य-
 क्पञ्चेन्द्रियवायुकायिकानामाथामतः क्षेत्रं द्रष्टव्य, नतु विदिशि, ये तु मरणपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका मनु-
 व्याश्च ते स्वेच्छाचारिणो यिन्निष्ठलब्धिसम्पद्वाश्च भवन्ति ततश्चे कदाचित्प्रयत्नविशेषतो विदिश्यप्यात्मप्रवेशानां
 दृष्ट विधिपन्तस्त्रात्र तेभ्य भात्मप्रवेशेभ्यः पुद्गलान् विधिपन्तीति तेषामेकसां दिशि विदिशि वा प्रत्येतव्य । वैक्रि-
 यसमुद्घातगतश्च कोऽपि कालमपि करोति विमोहेण चोत्पत्तिवेद्यमभिसर्व्यति ततो विमोहगतिमधिकृत्य कालनि-
 रूपणार्थमाह—'से ण मते !' इत्यादि, तत् भवन्त ! क्षेत्र विमोहगतिमधिकृत्योत्पत्तिवेद्यं यावत् 'केवकालस्स'सि
 तृतीयार्थे पथी कियता कालेनापूर्णे कियता कालेन स्पृष्ट ?, भगवानाह—गौतम ! एकसामयिकेन वा द्विसाम-

चिकेन वा त्रिसामयिकेन वा यिग्रदेण वार्षणे सृष्टमिति गम्यते, किमुक्तं भवति ?—विग्रदगतिसयिक्तस्य मरणदे-
 नाधारस्य उत्पत्तिदा यावत् क्षेत्रस्यापूर्णमुत्कर्षत त्रिभिः समयेरवाप्यते न चतुर्थेनापि समयेन, वैक्रियसमुद्घात-
 गतो हि वायुहायिकोऽपि प्रायस्सनाब्द्यामेवोत्पद्यते, प्रसनाब्द्यां च यिग्रद उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिक इति, उप-
 संहारमाह—'पुष्पकालम्' इत्यादि सुगम, 'सेस सं धेये'त्यादि अत कर्षे न्रेप सूत्र तदेय—यत्राक् येदनासमुद्घाते
 उक्त, तत्र तावत् यावदन्तिमपद 'पचकिरियायि' इति, एष 'नेरप्रणयि' इत्यादि सूत्र तु स्वय सावनीय, यस्तु
 दिग्बिदिगपेक्षया त्रिभेपः स प्रागेव दर्शितः । सम्प्रति तैजससमुद्घातमभिधित्सुराह—'जीवे ण मते ! तेयगसमु-
 ग्धाएण'मित्यादि, सुगम, नयरमय तैजससमुद्घातमर्तुदेवनिकायतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुव्याणां सम्मपत्ति न शेषाणां, ते
 च महाप्रयत्नन्त इति तेषां तैजससमुद्घातमारममाणानां अधन्यतोऽपि क्षेत्रमायामतोऽहुलासङ्क्षेपमागप्रमाण
 मयति, न तु मध्येयमागमान, उत्कर्षतः सङ्क्षेययोजनप्रमाण, तत्र जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाण क्षेत्र तिर्य
 क्पञ्चेन्द्रिययर्जानापेक्षया दिशि चिदिशि वा यक्त्य, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा तु दिश्येव, अत्र युक्तिः प्रागुक्तैवानुस-
 र्ग्या, तपा धाह—'पर्य जहा येतषियसमुग्धाए' इत्यादि । तदेवमुक्तकैजससमुद्घातः, साम्प्रतमाधारकसमुद्घात
 प्रतिष्ठादयिपुराह—'जीवे ण मते !' इत्यादि, एतच्च सूत्र तैजससमुद्घातवञ्चापनीय, नयरमयमाहारकसमुद्घातो
 मनुव्याणां तत्राव्वधीतचतुर्देवपूर्वाण तत्रापि केषाञ्चिदेवाहारकलण्डियमतो न क्षेत्राणां, ते वाधारकसमुद्घातमारम-

माणा अघन्यत उत्कर्षतो वा ययोक्त्रमाजमायामतः क्षेत्रमात्मप्रदेशविशिष्टैः पुद्गैरापूरयन्त्येकस्यां दिशि, न तु
 विदिशि, विदिशि तु प्रयत्नान्तरविशेषादात्मप्रदेशदण्डविक्षेपः पुद्गैरापूरण ष, न च ते प्रयत्नान्तरभारभते प्रयोजना-
 मायात् गम्भीरत्वापेक्षि, आहारकसमुद्घातगतोऽपि च कोऽपि फाल करोति विप्रद्वेण चोत्पद्यते विप्रद्वेषोत्कर्षत-
 स्त्रिसामयिक इति 'पराविसिं पयइप खेचे फुळे' तथा 'पगसमइपण वा दुसमइपण वा' इत्याद्युक्तं, तथा मनुव्याणा-
 मेधायमाहारकसमुद्घात इति षतुर्विंशतिदण्डकधिन्योपक्रमे 'पयं मणूसेयि' इत्युक्तं, अस्यायमर्थः—एय सामा
 न्यतो जीवपदे इव मनुष्येऽपि—मनुष्यचिन्तायामपि सूत्रं वक्तव्यं, जीवपदे मनुष्यानेवाधिष्ठस्य सूत्रस्य प्रवृत्त्याद्,
 अन्येयामाहारकसमुद्घातासम्भवात् ॥ तदेवं पण्णामपि छात्रस्विकानां समुद्घातानामारम्भे अघन्यतः उत्कर्षतो वा
 यावत्प्रमाण क्षेत्रमात्मविशिष्टैः पुद्गैर्यथायोगमौदारिकाविसरीराघन्तर्गैरापूरितं भवति तावत्प्रमाणमायेवितं, सम्प्र-
 ति केषत्तिसमुद्घातपिधौ यथास्वरूपैः पुद्गैर्यथावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्वापूरणमुपजायते तथास्वरूपैः पुद्गैस्त्वावत्प्रमा-
 णस्य क्षेत्रस्वापूरणमभिव्यक्तुराह—

अणगारस्स ष महे ! मापियप्पणो केषत्तिसमुद्घावेणं समोहयस्स जे चरमा निअरापोगला सुद्धुमा णं ते पोगगला पं० ?
 समजाउत्तो !, सबलोगपिय णं ते फुत्तिसिषाण चिद्धत्ति ?, इत्ता ! गो० ! अणगारस्स भावियप्पणो केषत्तिसमुद्घाएण समो
 हयस्स जे चरमा निअरापोगला सुद्धुमा णं ते पोगगला पं० समजाउत्तो !, सबलोगपिय णं फुत्तिसिषाण चिद्धत्ति । छउ

मत्स्ये नं मते ! मयूसे तेसि निब्रारापोगलाण किचि वप्येणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेण वा रसं फासेण वा फासं आणति
 पासति !, गो० ! जो इण्ठे सम्भे, से केम्भेणं मते ! एवं वुचति छउमत्स्ये णं मयूसे तेसि निब्रारापोगलाणं वो किचि
 वप्येणं २ गंधेणं २ रसेणं २ फासणं २ णो जाणति पासति !, गो० ! अयणं जंबुदीवे दीवे सबदीवसमुदाणं सबम्भंतराय
 सबउत्ताए षट्ठे वेह्यापूयसंठाणसंठित्ठे वट्ठे रक्खवालसंठाणसंठिए वट्ठे पुक्खरफणियासंठाणसंठिए वट्ठे पठियुण्णचंवसंठा-
 णसंठिए एग वोअणययसहस्सं आयामविक्खंमेणं विष्मि वोयमसयसहस्साइ सोलस सरस्साइं दोष्मि सचावीसे ओयव
 सत्ते विष्मि य कोसे अट्ठायीसं च षणुसत्तं तेरस य अंगुलाइं अट्ठंगुल च किचिविससादिसे परिक्खेयेणं प०, देवे ण मदि-
 द्ढीते जाय मरासोएस्से एगं मरं सविलेवणं गंधसमुग्गतं मराय स अववालेति तं मरं एगं सविलेवणं गंधसमुग्गतं अवदा-
 लरणा एणामेव कट्टु केवलकण्यं जंबुदीव दीवं विट्ठि अरुठराणिवातेहिं तिसससुचो अणुपरियट्ठिचाणं इवमागच्छेस्सा, से
 नूनं गो० ' से केवलकण्ये जंबुदीवे दीये वेहिं वाणयोगलेहिं कुठे !, इत्ता ! कुठे, छउमत्स्ये णं गोतमा ! मयूसे तेसि
 पाणपुग्गलाणं किचि वप्येणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणति पासति !, मयवं ! नो इण्ठे सम्भे, से
 एण्णेणं गोयमा ! एवं वुचर-छउमत्स्ये ण मयूसे तेसि निब्रारापोगलाण नो किचि वप्येणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं
 फासेणं फासं जाणति पासति, सुट्टुमाणं ते पोगला प० समजाठसो !, सबलोगंणिय णं कुसिचाणं विट्ठति (सूत्रं ३४४)
 'अणगारत्स ण मते !' इत्यादि, इट्ठ केवलसमुदूपात्ता केवलिनो मवति, न उट्ठत्स्य केवली मिषपनचमते

नानगारो न गृहस्थो नापि पाखण्डी, स घ नियमाद् मायितात्मा विशिष्टशुभाध्यवसायकलितत्वात्, अन्यथा केष-
चित्त्वानुपपत्तेः, तत एकमनगारस्य मायितात्मन इति, केवलिसमुद्घातेन-उकलरूपेण समथदृतस्य ये धरमाः-धर-
मसमयमायिनश्चतुर्थसमथभाविन इत्यर्थः, तैरेव सकललोकापूरणात्, 'निर्जरापुत्रला' इति निर्जरागुणयोगात् निर्ज-
राः-निर्जीर्णा इत्यर्थः ते च ते पुत्रलाभेति विशेषणसमासः, किमुक्त मवति ?-ये लोकापूरणसमये पुत्रला आत्मप्र-
देशेभ्यो यिच्छिष्टाः परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति, 'सुदुमा ण ते पुगला' इति णमिति निम्बये नियतमेतत् सूस्मा-
चक्षुरादीन्त्रियपथमतिक्रान्तास्ते पुत्रलाः प्रज्ञप्ताः मगवन्निर्द्धे भ्रमण हे वायुभ्रन् !, गौतमकृत भगवतः सम्बोधन-
मेतत्, तथा णमिति निश्चितमेतत् सर्वलोकमपि ते पुत्रलाः स्युष्टा णमिति वाक्यालङ्कारे तिष्ठन्ति ? इति गौतमेन
प्रमे कृते मगपानाह-'हता गोयमा' इत्यादि, हन्तेति प्रीती, यथाह शाकटायनः-'हन्तेति सम्प्रदानप्रीतिविधादावि-
ष्य'ति, प्रीतिमात्र यथावस्थितस्वरूपप्रतिपादकत्वात् प्रश्नसूत्रस्य साम्प्रत्यलक्षणा वेदितव्या, न तु हर्षरूपा, क्षीण-
मोहत्वेन भगवतो हर्षविपावातीतत्वात् साम्प्रत्यमेव स्थापयति, यदुक्त गौतमेन तदेवानुवदति-'अणगारस्से'त्यादि
मायितार्थे । सूस्माः पुत्रला इत्युक्त, तथ सूस्मत्प्रमापेक्षिकमपि मवति यथा बदरादीनामामलकाद्यपेक्षया, ततश्च-
क्षुरादीन्त्रियगोचरातिक्रान्तरूप तत्प्रतिपिपादयितुमिवाह-'छउमत्ये ण मते !' इत्यादि, छप्रस्थो मवन्त ! मनुष्य
तेषां-अनन्तरोरिष्टानां निर्जरपुत्रलानां किञ्चिदिति प्रथमतः सामान्येन प्रयुक्त जानाति पश्यतीति सम्बध्यते,

मृत्ये नं मते ! मयूसे वेसि निखरायोगलाण किंचि वष्येनं वष्यं गंधेयं गंधं रसेण वा रसं फासेण वा फासं आणति
पासति ?, गो० ! नो इण्ठे समेठे, से केवळेयं मते ! एवं युवति छुमत्ये न मयूसे वेसि निखरायोगलाणं नो किंचि
वष्येणं र गंधं र रसेणं र फासेणं र नो आणति पासति ?, गो० ! अस्यं वंपुरीचे दीवे सबदीवससुराणं सबमंतराए
सवसुडाए वटे वेछापूरसंठाणसंठिये वटे ररषकवालसंठाणसंठिये वटे पुषखरकम्मिवासंठाणसंठिये वटे परिपुण्यचंवसंठा-
णसंठिये एग वीअनसवसास्सं आयामविषुंमेनं तिम्मि वीयणसयसरसां सोलस सरसां वीम्मि सचावीसे वीयण
सुवे विम्मि य कोसे अद्यावीसं च वसुसत तेरस य वंगुलां वदगुल च किंचिविसेसाहिते परिकखेवेणं पं०, देवे ण मदि
दुवे वाय मरासोक्खे एगं मरं सविलेवणं गधसमुगवं गराय व अववालेति तं मरं एगं सविलेवण गंधसमुगवं अववा-
लरणा इणामेव कट्टु केवलकण्यं वपुरीवं दीवं तिहिं अखरामिषावेहिं विसचसुतो अजुरियट्टिपाणं इवसागच्छेत्ता, से
मूलं गो० ' से केवलकण्ये वंपुरीचे दीवे वेहिं वाणयोगलेहिं कुठे ?, इत्ता ! कुठे, छुमत्ये नं पोतमा ! मयूसे वेसि
वायपुगलाणं किंचि वष्येणं वष्यं गंधेयं गंधं रसेयं रसं फासेणं फासं आणति पासति ?, मगधं ! नो इण्ठे समेठे, से
एएण्ठेयं नोयमा ! एवं युवद-छुमत्ये न मयूसे वेसि निखरायोगलाणं नो किंचि वष्येणं वष्यं गंधेयं गंधं रसेणं रसं
फासेणं फासं आणति पासति, सुदुमा नं ते योगमळा पं० समजाठसो !, सुबलोगंपिय नं कुसिचाणं विंठि (सूत्रं २४४)
'मणगारस्स ष मते !' इत्यादि, इह केवलिससुपुपातः केवलिनो मवति, न छुमत्यस केवकी निचयनवमते

द्वीपसमुद्रापेक्षयाऽयं सर्पत्पुत्रि, तथा वृक्षो-पर्युलो, यतस्त्रैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तैलेन हि पकोऽपूपः प्रायः
 परिपूर्णश्चो भवति न घृतपफ इति तैलविशेषण, तस्यैव संस्थानसंस्थितः, तथा वृक्षो जम्बूद्वीपो द्वीपो यतो रथच-
 क्रपालसंस्थानसंस्थितः, रथस-रथाद्रस्य चक्रस्य चक्रपाल-मण्डल तस्यैव यत् संस्थान तेन संस्थितः, एव सूत्रोक्त-
 मन्यदपि पदद्वयं भावनीय, 'आयामपिपुसुभेज'ति आयाममम यिष्कम्भमेति समाहारो द्रव्यः तेन आयामेन विष्कम्भेन
 च प्रत्येकमेक योजनद्वयसहस्रमित्यर्थः, परिधिपरिमाणानयनगणितं च जम्बूद्वीपप्रज्ञत्यादायनेकश्रो माषितमिति ततो-
 ऽप्यर्थे 'देये ष'मित्यादि, देवस्य षमिति वाक्यालङ्कारे 'महर्द्धिक' इति महती ऋद्धिः-विमानपरिवारादिका यस्या
 सौ महर्द्धिकः 'जाव महासोमस्ये' इति यावत्शब्दकरणात् 'महज्जुइए महाचले महायसे' इति द्रष्टव्य, तत्र महती
 पुतिः-द्वीरीरामरजविपया यस्य स महाद्युतिः, महबल-शरीरः प्राणो यस्य स महाबलः, महत् यशः-ख्यातिर्यस्य
 स महायशः, तथा महत्-प्रभूत सौख्य यस्य प्रभूतसद्वेद्यकर्मोदयभाषाविति महासौख्यः, क्वचित्-'महेसक्ये' इति
 पाठः, तत्र महान् ईश-ईश्वर इत्यास्या-शब्दप्रथा यस्य लोके स महेशस्यः, अपवा ईश्वरमीश्वो, भावे वज्रप्र-
 त्ययः, ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईश्व ऐश्वर्य' इति वचनात्, तत ईश्व-ऐश्वर्यमात्मनः ख्याति-अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्याप-
 यति प्रकाशयति तथा परियारादिस्फीत्या वर्धते इति ईश्वरस्यः महामासानीशस्यश्च महेशस्यः, अन्यत्र 'महा-
 सस्ये' इति वा पाठः, तत्रैव दृष्टव्याख्या-आशुगमनावर्ध-मनः अक्षाणि-इन्द्रियाणि स्वस्वविषयव्यापकत्वात्, अश्व-

एतरेषु विशेषतो व्याघटे-‘घर्षेन’ घर्षणप्राहकेषु षड्गुरिन्द्रियेण वर्णयते-यथावस्थित वस्तुस्वरूपं निर्णीयते अनेनेति
 वर्ण इति स्युत्पत्तेः घर्षे-कृष्यादिरूप ‘गन्धेन’ गन्धप्राहकेषु नासिकेन्द्रियेण ‘गन्ध आग्राप्ते’ चुरादिभ्यो णिष्च्
 गन्धयते-माग्रायते क्षुमोऽक्षुमो वा गन्धोऽनेनेति गन्ध इति स्युत्पादनात् गन्ध शुभमगुम वा ‘रसेन’ रसप्राह-
 केषु रसनेन्द्रियेण रस्यते-आसायतेऽनेनेति क्षुब्धार्पत्वात् रस-तिष्ठादिरूपं, ‘सर्वेन’ सर्वप्राहकेण स्वर्गेनेन्द्रि-
 येण सृष्टयते फर्फेदादिरूपः परिच्छेद्यवस्तुगतः सर्वोऽनेनेति स्वर्ग इति स्युत्पादनात् ‘सर्वे’ फर्फेगादिरूप
 जानाति पश्यतीति ? , मगवानाह-गौतम ! नाथमर्थः समर्थः उपपन्न इत्यर्थः, पुनर्गौतमः प्रश्नयति-‘से केण
 द्वेषं मते !’ इत्यादि, उचानार्थं, मगवानाह-गौतम ! ‘अवर्णम’मित्यादि, अय-अत्यथत उपलभ्यमानः, णमिति
 धात्व्यालङ्कारे, अद्ययोजनोच्छ्रितया रसमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपो द्वीपः, ‘सर्वोभ्यन्तरक’ इति सर्वे
 पामभ्यन्तरो-मध्यवर्षी सर्वोभ्यन्तरः सर्वोभ्यन्तर एव सर्वोभ्यन्तरकः ‘जातौ वा स्वार्थे क’ इति प्राकृतलक्षणावशात्
 स्वार्थे कप्रत्ययः, केर्वा सर्वेपामभ्यन्तर इत्याह-सर्वेद्वीपसमुद्राणां, तथाहि-सर्वे-अथेया द्वीपसमुद्रा जम्बूद्वीपादा
 रन्यागमाभितेन क्रमेण त्रिगुणत्रिगुणविकारा व्यवस्थिताः ततो मवति द्वीपसमुद्रापामेषु जम्बूद्वीपोऽभ्यन्तरः,
 तथा ‘सबसुशाये’ इति सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः सुष्ठको-इहः सर्वसुष्ठकः, तथाहि-सर्वे लवणादयः समुद्राः सर्वे
 च धातुकीखण्डादयो द्वीपा असाब्जान्द्वीपादारम्य प्रपन्नोक्तेन क्रमेण त्रिगुणत्रिगुणचक्रवालभितताः सतः द्वेष

5
 द्वीपसमुद्रापेक्षयाऽप्य सर्वलघुरिति, तथा दृचो-वर्षुलो, यतस्त्रैलापूपसस्थानसंस्थितः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः
 परिपूर्णश्चो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषण, तस्यैव संस्थानसंस्थितः, तथा दृचो जम्बूद्वीपो द्वीपो यतो रम्य-
 क्रवालसंस्थानसंस्थितः, रयस्य-रपात्रस्य चक्रस्य चक्र्यालं-मण्डलं सस्त्वैव यत् संस्थान तेन संस्थितः, एव सुश्रोक्-
 मन्यदपि पदद्वयं भावनीय, 'आयामविक्रममेज'ति आयामश्च विक्रमश्चेति समाहारो द्वन्द्वः तेन आयामेन विक्रममेन
 च प्रत्येकमेकं योजनघृतसहस्रमित्यर्थः, परिधिपरिमापानयनगणितं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादावनेकशो मावितमिति ततो-
 ऽयथार्थं 'क्षेत्रे ष्य'मित्यादि, देवश्च नमिति षाक्यालङ्कारे 'महर्द्धिक' इति महती ऋद्धिः-विमानपरिवारादिका यस्या
 सौ महर्द्धिकः 'जाप महासोक्खे' इति यावत्शब्दकरणत् 'महज्जुइए महायले महायसे' इति द्रष्टव्य, तत्र महती
 पुक्तिः-शरीरामरप्रविपया यस्य स महापुक्तिः, महद्वल-शरीरः प्राणो यस्य स महाबलः, महत् यश्च-स्थायितर्यस्य
 स महायज्ञः, तथा महत्-प्रभृत सौख्य यस्य प्रभृतसद्वेद्यकर्मोदभसाभाविति महासौख्यः, क्वचित्-'महेसक्खे' इति
 पाठः, तत्र महान् ईश-ईश्वर इत्याख्या-शब्दप्रया यस्य लोके स महेशाख्यः, भयवा ईश्वरमीशो, माये घञ्प्र-
 त्ययः, ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईश ऐश्वर्ये' इति बचनात्, तत ईश्व-ऐश्वर्यमात्मनः ख्याति-अन्तर्भूतवर्षतया ख्याप-
 यति प्रकाशयति तथा परिवारादिस्फीत्या वर्धते इति ईश्वराख्यः महांशासावीश्वराख्यश्च महेशाख्यः, अन्यत्र 'महा-
 सक्खे' इति वा पाठः, तत्रैव दृष्टव्याख्या-आशुगमनादर्थ-मनः अक्षाणि-इन्द्रियाणि स्वस्वविषयव्यापकत्वात्, अक्ष-

गच्छो हि प्रायेणागुद् व्यासापितृस घातोर्निष्पाद्यते, अथमाद्याणि ष अथाद्याणि, महान्ति-स्कीतिमन्ति अथा-
 द्याणि यस्यासौ महाभागः, स्कीतमनाः स्फूर्तिमयधुरावीन्द्रियधेत्यर्थः, एक महान्त-अतिगुरुकमन्यया स्वीकृतया
 तद्गतोर्गपद्भूलेः सकलस्य जम्बूद्वीपस्य व्यासुमद्यक्यत्यात्, 'सचिलेषण'मिति सह विञ्चिट-अतिसूक्ष्मप्राणामपि
 स्पगनात् हेपन लेपो-अत्यादिह्यत पिधानमुपरि पर्वते येन स तथा त, विञ्चिटलेपप्रदानामाये हि बहवः सूक्ष्मर-
 प्रैर्गपद्भूला निर्गच्छन्ति तत लद्घाटनवेलायां तेषां स्वीकीयायेन सकलजम्बूद्वीपापूरण नोपपद्यते, 'गघससुगर्ग'ति
 गपद्भूत्यैरतिविञ्चिटे परिपूर्णं घृतः समुद्रफो गन्धसमुद्रकश्च 'अथदालेइ'चि अथदालयति उत्पाटयतीत्यर्थः, 'इणामे
 वे'ति एयमेयेत्यर्थ 'केयठकृष्यं'ति केयठ-केयठज्ञान तदकल्प परिपूर्णतया तत्सदृश परिपूर्णमित्यर्थः, जम्बूद्वीप
 द्वीप त्रिभिः अस्वरोनिपातो नाम-चण्डिका ततस्त्रिसुभिः चण्डिकाभिरिति द्रष्टव्यं, चण्डिकास्य कालोपलक्षणं,
 ततोऽयमर्थः-शानता कालेन तिलमण्डुटिकाः पूर्यन्ते तासत्कालमन्वये इति, त्रिसदृशस्त्यः-एकविंशतिवारान् अति-
 परिवर्त्य-सामस्तेन परित्रम्य 'द्वष' द्वीपभागच्छेत्-समागच्छेत् 'से नूर्ण'इत्यादि, सेगब्धो मगधवेद्वप्रसिद्ध्या
 पयगच्छार्थे, अयगच्छस्य घार्थो वाक्योपन्यासादयः, ठकं घ-अय प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलाधिकारवाक्योपन्या
 भेषु' तथाय वाक्योपन्यासे, तन्नाशना घ एव-उक्तञ्चापत् विषयित्वाथमतिपच्छेसोऽध्वान्तस्य पीठिकाबन्धः,
 समप्रति विपथितार्थत्रयिरेतुःस्थान्तयाक्यसुपन्यसते, नून-निश्चितं, गीतम ! स केवलकल्पेण जम्बूद्वीपस्वेर्ग-

न्धसमुद्रकादिनिर्गतैः प्राणपुद्गलैः—गणपुद्गलैः स्पृष्टो—म्यासः, काफा चैव सूत्रमधीयते ततः प्रमोऽयगम्यते, अपया प्रमा-
 र्धः सेन्द्रध्रस्वतोऽअसा प्रक्षयतीति, गौतम ! आह—इत ! स्पृष्टो गन्धपुद्गलानां सर्वतोऽगिसर्प्यणशीलत्वात्, पुन-
 रपि भगयानाह—‘छतमत्ये न’मित्यादि सुगमम्, एष चात्र भावार्थः—यथा ते सकलजम्बूद्वीपव्यापिनो गणपुद्ग-
 ललाः सूक्ष्मत्वात् न छमत्त्वानां चक्षुरादीन्द्रियगम्याश्चया सकललोकन्यापिनो निर्जरापुद्गला अपीति, उपसहारमाह—
 ‘पुसुपुमाण’ति पतापत्सूस्माः अप यन्निमित्त केवली समुद्रपातमारमते तत्पृच्छिपुरिद प्रक्षसूत्रमाह—

कम्मा नं मंते ! केवली समुग्यायं गच्छति !, गो० ! केवलिस्र वषारि कम्मसा अवखीणा अवैदिया अणिज्जिण्णा भवति,
 सं०—चेदभिज्ज आउए नामे गोए, सबहुप्पएसे से वेदणिज्जे कम्मे धवति सवत्थोवे आउए कम्मे हवह, विसमं समं
 फेरति पंचमेहिं ठितीदि य, विसमसमीकरणयाए पंचणेहिं ठितीदि य एवं खल्ल केवली समोहणति, एवं खल्ल समुग्यायं
 गच्छति, सवेयि नं मंते ! केवली समोहणति सवेयि नं मंते ! केवली समुग्यावं गच्छति !, गो० ! गो इण्ठे समंठे,
 “अस्साउएण तुछाविं, पंचमेहिं ठितीदि य । भवोवग्गहकम्माहं, समुग्यावं से ण गच्छति ॥ १ ॥ अगतूणं समुग्यावं,
 अर्जता केवली जिणा । जरमणविप्पमुक्खा, सिद्धिं परगतिं गता ॥ २ ॥ (सूत्रं ३४५) कतिसमतिए णं मंते ! आउळी
 करणे पं० !, गो० ! असंलेखसमतिए अंबोसुदुत्थिए आउळीकरणे पं० (सूत्रं ३४६) कतिसमतिए णं मंते ! केवलि-
 समुग्याए पं० !, गो० ! अट्टसमत्तिसे पं०, सं०—पढमे समए वंदं करेवि धीए समए कवाहं करेवि वतिए समए मंथं

करोति पठत्ये समए लोर्ग पूरेति पंचमे समए लोर्ग पठिसाहरति छठे समए मंत्रं पठिसाहरति सप्तमए समए क्वाटं
 पठिसाहरति अष्टमे समए दंडं पठिसाहरति, दंडं पठिसाहरेचा सुओ पच्छा सरीरत्ये भवति । से ङं मते ! तथा समु-
 न्ध्यायगते कि मषजोगं भुञ्जति वशजोगं भुञ्जति कायजोगं भुञ्जति १, गो० ! नो मणजोगं भुञ्जति नो वशजोगं भुञ्जति
 कायजोगं भुञ्जति, कायजोगे ङं मते ! ह्यजमाले कि ओराणियमीसासरीरकायजोगं भुञ्जति ओराणियमीसासरीरकायजोगो कि वेउवि
 एवरीरकाययोग वेउविममीसासरीरकायजोगं० कि आहारगसरीरका० आहारगमीसासरीरका० कि कम्मगसरीरका० १,
 गो० ! ओराणियसरीरकायजोगपि भुञ्जति ओराणियमीसासरीरकायजोगपि भुञ्जति, नो वेउविमसरीरका० नो वेउविम
 मीमा० नो आहारसरीरका० नो आहारगमीसास० कम्मगसरीरकायजोगपि भुञ्जति, पठमट्टमेसु समएसु ओराणियसरीर-
 कायजोग भुञ्जति षिदिमट्टसप्तमेसु समएसु ओराणियमीसासरीरकायजोगं भुञ्जति, ततियचउत्तर्यपंचमेसु समएसु कम्म
 गसरीरकायजोगं भुञ्जति (सूत्रं ३४७)

'कम्हा ण'मित्यादि, कस्मात् कारणात् णमिति पाक्यालङ्कारे मदन्त ! 'केवली' फेयळ्ळानोपेतः समुद्घात
 गच्छति-आरभते, कृतकृत्यत्वात् किल तस्मैति भावः, मगधानाह-'गोयमे'त्यादि, गौतम ! केवलिनमत्थार 'कर्मा
 नाः' कर्ममेदा 'अधीणाः' धयमनुपगताः, कुत इत्याह-अवेदिताः, अत्र 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विमर्कीनां
 प्रायो दर्शन'मिति न्यायात् हेतो प्रथमा, ततोऽयमर्थः-यतोऽवेदिताः ततोऽधीणाः, कर्मजा हि धयो नियमतः

प्रवेद्यतो विपाकतो वा वेदनाद् भवति, 'सद्यः च पश्यतया सुखम् कम्ममणुमायतो मय्य' [सर्वे च प्रवेद्यतया
 सुज्यते कर्मानुमायतो भक्त] मित्वादि षधनात्, ते षधवारः कर्माद्या अपि अवेदिता अतोऽधीणा, एतदेव पर्या
 येण व्याचष्टे—'अनिर्जीर्णाः' सामस्सेनात्मप्रदेशेभ्योऽपरिशादिताः 'भवन्ति' तिष्ठन्ति, तानेय नामग्राहमभिविधित्सु-
 राह—'तज्जे'त्यादि सुगम, तत्र यदा 'से' तस्य केषलिनः सर्वेषुप्रदेशे वेदनीयमुपलक्षणमेतत् नामगोत्रे च तथा
 सर्वस्वोक्तप्रवेशमायुःकर्म तदा स 'षधणेहिं ठिइहिं'न्ति षध्यते—सद्यचारकात् विनिर्गच्छन् प्रतिपद्यते येस्ते बन्ध-
 नाः, 'करणाधारे' इति करणेऽनद्प्रत्ययः, अथवा षध्यन्ते—आत्मप्रदेशैः सह लोलीभावेन सञ्चिष्टाः क्रियन्ते योग-
 यथात् ये ते षधनाः 'कुड्डुल'मिति षधनात् कर्मणि अनद्, उभयत्रापि कर्मपरमाणवो षध्याः, स्थितयो—षेद-
 नाफालाः, तथा चोक्त माव्यकृत्वा—'विसम स करेइ समं समोहलो षधणेहिं ठिइए य । कम्मएवाइ षधणातिं
 कालो ठिईं तेसिं ॥ १ ॥' [विपम स करोति सम समवहतो बन्धनैः स्थित्वा च । कर्मत्रय्याणि बन्धनानि कालः
 स्थितिलेपाद् ॥ १ ॥] ततश्च तैर्बन्धनैः स्थितिभिश्च विपम सत् वेदनीयादिक समुद्घातविधिना सममायुषा सह
 करोति, स एव खलु केषली बन्धनैः स्थितिभिश्च विपमस्य सतो वेदनीयादिकस्य कर्मणः 'समीकरणयाए' इति
 अत्र ताप्रत्ययः सार्षिकः, ततोऽयमर्थः—समकरणाय, 'समोहन्नइ' इति समवहन्ति—समुद्घाताय प्रयतते, एवं
 खलु समुद्घातं गच्छति, उक्तं च—'आयुषि समाव्यमाने क्षेपाणां कर्मणां च यदि समासिः । न स्यात् स्थितिवैप-

करेति षट्त्वे समए लोर्गं पूरेति पचमे समए लोर्पं पठिसाहरति छठ्ठे समए मर्मं पठिसाहरति सप्तमए समए फ्रवाटं
 पठिसाहरति अष्टमे समए इच्छ पठिसाहरति, दंष्ट्र पठिसाहरेषा तज्जो पच्छा सरीरत्वे भवति । से ञं मते ! तथा सद्यु
 म्वायगते किं मयबोगं भुञ्चति वृज्बोगं भुञ्चति कायबोगं भुञ्चति ? गो० ! नो मणबोगं भुञ्चति नो वृज्बोगं भुञ्चति
 कायबोगं भुञ्चति, कायबोगे ष मते ! ह्युनमाषे किं ओरालियमीसासरीरकायबोगं भुञ्चति ओरालियमीसासरीरकायबोगं किं येउवि
 ससरीरकाययोगं वेउविपयमीसासरीरकायबोगं० किं आहारगसरीरका० आहारगमीसासरीरका० किं कम्मगसरीरका० ?,
 गो० ! ओरालियसरीरकायबोगंपि भुञ्चति ओरालियमीसासरीरकायबोगंपि भुञ्चति, नो वेउविपयसरीरका० नो वेउविप
 यमीसा० नो आहारसरीरका० नो आहारगमीसास० कम्मगसरीरकायबोगंपि भुञ्चति, पट्टमइमेसु समएसु ओरालियसरीर-
 कायबोगं भुञ्चति शितियच्छत्तपमेसु समएसु ओरालियमीसासरीरकायबोगं भुञ्चति, तविपषउत्तपंचमेसु समएसु कम्म
 गसरीरकायबोगं भुञ्चति (सूत्रं ३४७)

'कम्मा प'मित्यादि, कस्मात् कारणात् षमिति वाक्यालङ्कारे मदन्त ! 'केवली' केवलज्ञानोपेतः सद्युत्थात
 गच्छति-आरमते, क्लृप्तत्वात् किल तस्येति भावः, मगयानाह-'गोयमे'त्यादि, गौतम ! केवलिनमत्त्वारः 'कर्मो-
 ज्ञाः' कर्ममेवाः 'बन्धीयाः' धयसनुपगताः, कुत इत्याह-अवेदिताः, अत्र 'निमित्तकारणोवेसु सर्वासां विमच्छीना
 प्राणो दर्शन'मिति न्यायात् हेतो प्रपन्ना, ततोऽवमर्षाः-यतोऽवेदिताः ततोऽन्धीयाः, कर्मणां हि धयो नियमताः

प्रवेष्टतोऽवश्यमनुमयनीयमिति प्रतिपद्यन्व, एव च न कश्चिदोपः, नन्वेवमपि दीर्घकालमोग्यतया तद्वेदनीयादिक
 कर्मपरिधित अप च परिणामविशेषादुपक्रमेणारादेव तद्वनुमपति ततः क्व न कृतानाश्रयोपापत्तिः?, तदव्यसम्यक्,
 पद्यकाले तपायिषाभ्ययसायवशादावाद्युपक्रमयोग्यसैव तेन पचनात्, अपिच—जिनषघनप्रामाण्यादपि वेदनी-
 यादिकर्मणामुपक्रमो मन्तव्यः, यदाह भाष्यकृत्—“उच्यते कृत्यश्रयोपसमोपसमा ज च कम्पुनो भणिया । दपाई
 पपग पर ह्रुत्तमुपक्रमणमेत्त्वोपि ॥ १ ॥” [उच्यते कृत्यश्रयोपसमोपसमा यस्माच्च कर्मणो भणियाः । द्रव्यादिपद्यक
 प्रति युक्तमुपक्रमणमित्तोऽपि ॥ १ ॥] न चैव मोक्षोपक्रमहेतुः कश्चिदस्ति येन तत्रानाम्नासप्रसङ्गः, यथा च न
 मोक्षोपक्रमहेतुः कश्चिदस्ति तथाऽन्तिमसूत्रे भाययिष्यते, ततो यदुक्तं ‘वेदनीयादिष्व कृतस्यापि कर्मक्षयस्ये’त्यादि
 न तत्सम्यगुपपन्नमिति स्थित, अपर आह—ननु यदा वेदनीयादिकमतिप्रभूतं सर्वस्वोक्तं चायुस्त्वदा समधिकत्वेदनीया-
 विसमुद्रपातार्थं समुद्रपातमारमतां, वेदनीयादेः सोपक्रमत्यात्, यदा त्वधिक्रमायुः सर्वस्वोक्तं च वेदनीयादिकं तदा
 का यार्त्ता?, न खल्यायुषः समधिकस्य समुद्रपाताय समुद्रपातः कल्प्यते, चरमसरीरिणामायुषो निरुपक्रमत्यात्
 ‘चरमसरीरा य निरुपक्त्वा’ इति पचनात्, तदयुक्तं, एवयिधमायस्य कदाचनाप्यभावात्, तथाहि—सर्वदेव भेद-
 नीयायेषायुषः एकाश्चादधिकस्यितिक मपति, न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायुः, अथैवयिधो नियमः कुतो लभ्य-
 ते?, उच्यते, परिणामस्वामान्यात्, तथाहि—इत्यभूत् एवात्मनः परिणामो येनास्यायुर्वेदनीयादेः सम भयति

म्यात् गच्छति स ततः समुद्रयातम् ॥ १ ॥ सित्या च घन्घनेन च समीक्रियार्यं हि कर्मणां तेषाम् । अन्तर्मुद्रार्च-
 नेये तदायुषि समुच्चिर्घांसति सः ॥ २ ॥” ननु प्रभूतस्थितिकस्य वेदनीयादेरायुषा सह समीकरणार्थं समुद्रघात
 मारमते इति यदुक्तं तन्नोपपन्नं, कृतनागादिदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—प्रभूतकालोपमोग्यस्य वेदनीयादेरात् एवाप-
 गमसम्भवात् कृतनागः, वेदनीयादिदेषु कृतस्यापि कर्मक्षयस्य पुनर्नाशसम्भवात्मोक्षेऽप्यनाशासप्रसङ्गः, तदसत्,
 कृतनागादिदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—इह यथा प्रतिदिवसं सेतिकापरिमोगेन धर्म्यत्तोपमोग्यस्य कल्पितस्वाहाहारस्य
 भक्षकन्यापिना तत्सामर्थ्यात् स्त्रोकदिघसैर्नि शेषतः परिमोगाद् कृतनाशोपगमः तथा कर्मणोऽपि वेदनीयादेः
 तथायिधुमाध्यवसायानुबन्धानुपक्रमेण साकल्यतो मोगान्न कृतनागरूपदोषप्रसङ्गः, द्विविधो हि कर्मणोऽनुभवः—
 प्रदेद्यतो विपाकत्वम्, तत्र प्रदेद्यतः सकलमपि कर्मानुभूयते, न तदस्ति किञ्चित् कर्म यत्र वेद्यतोऽप्यननुभूतं
 मत् धयमुपयाति, ततः कथं कृतनागदोषापत्तिः ? , विपाकत्वस्तु किञ्चिदनुभूयते किञ्चिच्च, अन्यथा मोखा-
 मायप्रसङ्गात्, तथाहि—यदि विपाकानुभूतित एव सर्वं कर्म क्षणीयमिति नियमः तर्ह्यसङ्ख्यातेषु मर्षेषु तथा
 यिषिषिष्याध्ययसायविद्येर्ष्यस्ररकगत्यादिक कर्मोपाजितं तस्य नैकस्मिन् मनुष्यादावेव मर्षेऽनुभवः, स्वस्वमवनिष-
 यन्त्यात् तथायिषविपाकानुभवस्य, क्रमेण च स्वस्वमवानुगमनेन वेदने नारकादिमर्षेषु चारिश्राभावेन प्रभूततर-
 कर्मसन्तानोपचयात् तस्यापि स्वस्वमवानुगमनेनानुभवोपगमात् कुतो मोक्षः ? , तस्मात् सर्वं कर्म विपाकतो माज्य

प्रवेक्षतोऽपश्यगनुमयनीयमिति प्रतिपद्यम्य, एष च न कश्चिदोपः, नन्येषमपि दीर्घकालमोग्यतया तद्वेदनीयादिकं
 कर्मोपचित अथ च परिणामविशेषादुपक्रमेणारादेव तदनुभवति ततः कथं न कृतनाशदोषापत्तिः ? तदप्यसम्यक्,
 यथाकाले तयाधिषाध्यवशादावाद्युपक्रमयोग्यस्य तेन वन्धनात्, अपिच—जिनवचनप्रामाण्यादपि वेदनी-
 यादिकर्मणामुपक्रमो मन्तव्यः, यदाह भाष्यकृत्—“उदयकृत्स्नयकृत्स्नजोवसमोवसमा जं च कस्मुणो मणिया । वधार्-
 पंषग पद् वृत्तमुवक्रमणमेचोवि ॥ १ ॥” [उदयकृत्स्नयोपश्रमोपश्रमा यस्माच्च कर्मणो मणिताः । प्रव्यादिपञ्चक
 प्रति युक्तमुपक्रमप्रमितोऽपि ॥ १ ॥] न चैव मोक्षोपक्रमहेतुः कश्चिदस्ति येन तत्रानाभासप्रसङ्गः, यथा च न
 मोक्षोपक्रमहेतुः कश्चिदस्ति तथाऽन्तिमयूत्रे भाययिष्यते, ततो यदुक्तं ‘वेदनीयादिवध कृतस्यापि कर्मव्यस्ये’त्यादि
 न तत्सम्यगुपपन्नमिति स्थित, अपर आह—ननु यदा वेदनीयादिकमतिप्रसूत सर्वस्वोक्तं घायुक्तं घायुक्तं घायुक्तं घायु-
 दिसमुद्घातार्थं समुद्घातमारभतां, वेदनीयादेः सोपक्रमत्वात्, यदा त्वधिकमायुः सर्वस्वोक्तं च वेदनीयादिकं तदा
 का वास्तो ? न खल्व्यायुषः समधिकस्य समुद्घाताय समुद्घातः कल्प्यते, चरमसरीरिणामायुषो निरुपक्रमत्वात्
 ‘चरमसरीरा य निरुवक्ष्मा’ इति वचनात्, तदयुक्तं, एवविधमावस्य कदाचनाप्यभाषात्, तथाहि—सर्वदैव भेद-
 नीयाधेवायुषः सकाशादधिकस्थितिकं भवति, न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायुः, अथैवविधो नियमः कृतो लभ्य-
 ते ? उच्यते, परिणामस्वाम्यात्, तथाहि—इत्यमृत एवात्मनः परिणामो वेनास्यायुर्वेदनीयादेः सम भवति

न्यून वा न तु कदाचनाप्यधिक, यथैतत्सैवायुषः स्रुत्वामुषण्वन्धः, तथाहि—शानावरणादीनि कर्माणि आयुर्वर्जाणि
सप्तसि सर्वेषु भव्यन्ते, आयुस्तु प्रतिनिष्ठत एव फाले स्वमवत्रिभागादिद्वेषरूपे, तत्र चैवविषवैधिष्यनियमे न स्व-
भापाद्वेदपरः कश्चिदस्ति हेतुरेवमिहापि स्वभाषविशेष एव नियामको द्रष्टव्यः, आह च भाष्यकृत्—“असमद्विर्षण
नियमो को येन आवय न सेसति । परिणामसदाबाधो बहुषवधोचि तस्त्वेव ॥ १ ॥” [असमस्त्वितिपु को निय
म—श्लोकमायुः न शेषाणि । परिणामसमाधात् बहुषवधोऽपि तस्त्वेव ॥ १ ॥] अय विशेषपरिज्ञानाय गौतमो
भगवन्त पृच्छति—‘सर्वेषु णमिति निषये सर्वेऽपि स्रुष्टु केवलिनः समवन्ति—समुद्रपाताय प्रय-
सन्ते, प्रयवानन्तर च सर्वेऽपि स्रुष्टु केवलिनः समुद्रपातं गच्छन्ति !, इति गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवाच्चिर्वचन-
माह—‘गोपमे’त्यादि, गौतम ! नायमर्थः—नायमर्थः उपपन्नः, किमुक्त भवति ?—सर्वेऽपि केवलिनः समु
द्रपाताय न प्रयतन्ते नापि समुद्रपातं गच्छन्ति, किन्तु येषामायुषः समधिक वेदनीयादिक, यस्य पुनः स्वभाषत
प्रायुषा सह समस्त्वितिकानि वेदनीयादीनि कर्माणि सोऽकृतसमुद्रपात एव तानि क्षययित्वा सिध्यति, तथा
चाह—‘जस्से’त्यादि, यस्य केवलिन आयुषा सह मये—मनुष्यमये उप—समीयेन युज्यते—अवष्टभ्यते वैज्ञानि मयोपम-
द्वानि तानि च तानि कर्माणि च मयोपप्राहकर्माणि—वेदनीयनामगोत्राणि बन्धनै—प्रवेष्टेः स्वितिमिदं तुत्या
नि—सप्तानि भवन्ति स समुद्रपात न गच्छति, अकृतसमुद्रपात एव तानि क्षययित्वा स चिद्विहीषमप्याद्ये इति

मायः, उक्तं च—“अस्व च तुष्ट मषश्च प कम्मचउच्च समावतो ओ य । सो अकयसमुग्गपालो सिच्चइ शुग्गव खवे-
 क्कणं ॥१॥” [यस्य तु तुल्य मयति तु कर्मचतुष्क स्वमावतो यश्च (समकर्मा) । सोऽऽकृतसमुद्घातः सिच्चयति युगपच्
 क्षपयित्वा ॥ १ ॥] अथाप कदाचित्को माय उत यादुल्यभावः?, तत आह—‘अगतूष्ण समुग्घाय’मित्यादि, अग-
 त्या समुद्घातं—‘केवलिसमुद्घातं’ सिद्धिं’ धरमगतिं गता इति सम्बन्धः, कियत्सङ्घाका इत्याह—अनन्ता—
 अनन्तसङ्घाकाः ‘केवलिनः’ केवलज्ञानदर्शनोपेताः, अनेन ये नवानामात्मगुणानामसन्तोऽच्छेदो मोक्ष इति प्रतिप-
 द्वाच्छेऽप्यास्ता द्रष्टव्याः, ज्ञानस्य निरुपधरितात्मस्वभावत्वात्, तस्य च विनाशायोगाद्, अन्ययाऽऽत्मन एवामाभापत्तेः,
 न चात्मनो निरन्वयो विनाशः, सतः सर्वथा विनाशायोगात्, ‘नासतो विधत्ते भावो, नामावो विधत्ते सत’ इति
 न्यायात्, तथा जिना-जितरागाविद्यत्रयः, अनेन गोशालकमतापाकरणमाह, ते हि मुक्तिपदमध्यासीनमपि न तस्व-
 तो धीतरागमपि मन्यन्ते, ‘अथासमुक्तिपदा अपि तीर्थनिकारदर्शनादिहागच्छन्ती’ति वचनात्, तस्वतो धीतरागस्य
 च परामवदुर्देरिहागमनस्य चासम्मभावात्, पुनः कथमूता इत्याह—‘जरामरणविप्रमुक्ता’ जरा च मरण च जरामरणे
 ताम्यां विप्रमुक्ता जरामरणविप्रमुक्ताः, जरामरणग्रहणमुपलक्षणं तेन समस्वरोगशोकादिसांसारिकक्लेशविमुक्ता इति
 द्रष्टव्यं, एतेन एकान्ततो मोक्षसौख्यस्योपादेयतामाह, अन्यस्यैषविधस्य रूपस्य स्थानस्यासम्मभावात्, नहि संसारे प्रक-
 र्मसुखप्राप्तमपि स्थानमेवविधमस्ति, सर्वस्यापि मरणपर्यवसानत्वात्, सेधन सिद्धिः—अक्षेपकर्मोश्चापगमेनात्मनः

स्वरूपेऽप्यस्यान्ता धरा—सर्वगतीनामुपमा गन्वते इति यतिर्बर्गतिस्तां बर्गतिरूपमित्यर्थः गताः—प्राप्ताः, इह
 सर्वोऽपि केवली केवलिसमुद्भात गच्छन् प्रपमत आबर्जीकरणमुपगच्छति, तथा च केवलिसमुद्घातप्रक्रियां विम
 णिषुः समुद्घातशब्दव्याख्यानपुरस्सरमाह सायकारः—“तत्यालयमससाधियकम्मसमुग्घायण समुग्घाजो । त
 ग्गुमणा शुष आठखीकरण तवेर ॥ १ ॥” [तत्रायुरंशाधिककर्मसमुद्घातन समुद्घातः । त गन्तुमनाः पूर्वमाब-
 र्जीकरणमुपयाति ॥ १ ॥] अथाबर्जीकरणमिति कः शब्दार्थः ?, सध्यते, भावर्जनसर्बर्ज—आत्मान प्रति मोक्ष-
 स्वाप्तिमुखीकरण आत्मनो मोक्ष प्रत्युपयोजनमिति सात्पर्यार्थः, अथवा भावर्ग्यते—अस्मिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति
 भापर्जः—दुममनोयाक्कायव्यापारयिधेयाः, तच्छ च—‘आपञ्चणमुववोगो भाषारो षा’ इति, तत् उभयप्रापि अतस्स
 तस्य कारणमिति विषयायां न्यिप्रत्ययः आबर्जीकरण, अपरे आपर्षितकरणमित्याहुः, तत्राय शब्दार्थः—आवर्जितो
 नाम अस्मिमुखीकृतः, तथा च लोके वकारः ‘आपर्षितोऽय मया, समुखीकृत’ इत्यर्थः, ततश्च तथासम्यत्वेनापर्षित-
 स्व-मोक्षगमन प्रत्यस्मिमुखीकृतस्य कृष्य—क्रिया दुमयोगव्यापारण आपर्षितकरण, अपरे ‘आठखियाकरण’मिति
 पठन्ति, तत्रैव शब्दसंस्कारमाचक्षते—आयोजिकाकरणमिति, अय चाप्रान्वयार्थः—आह् मर्यादायां आ-मर्यादया
 केवळिच्छा योजन—दुमानां व्यापारणमायोजिका, माये शुषु, तस्माः करणमायोजिकाकरण, अन्वये
 ‘आठस्विवकरण’मिति शुषते, तत्राप्ययमन्वयार्थः—आवश्यकेन—अवश्यमेवकरण, तथाहि—समु-

द्यात केचित्कुर्यन्ति केचिच्च न कुर्यन्ति इव त्वावश्यककरण सर्वेऽपि केचलिनः कुर्यन्तीति, सम्प्रत्यस्यैवावर्जीकर-
 णस्य कालप्रमाणनिरूपणार्थं प्रश्ननिर्बन्धनसूत्रे आह—‘कइसमइप ण’मित्यादि सुगम, आवर्जीकरणानन्तर चाव्यवधा-
 नेन केयलिसमुद्घातमारमते, स च कतिसामयिक इत्याद्यद्वायां तत्समयनिरूपणार्थमाह—‘कइसमइप ण’मित्यादि
 सुगम, तत्र यस्मिन् समये यत्करोति तदर्थयति—‘तंजहा-पढमे समप’ इत्यादि, इदमपि सुगम, प्रागेव व्याख्या-
 तत्वात्, नवरमेय भाषार्थो—यथाऽऽद्यैश्चतुर्भिः समयेः क्रमेणात्मप्रदेशानां विस्तारण तथैव प्रतिलोम क्रमेण सहरण-
 मिति, छक्क चैतदन्वत्रापि—‘उट्टुअहो य लोगतगामिण सो सवेइविक्खम । पढमे समयमि दढ करेइ विशयमि
 य क्वाड ॥ १ ॥ तइयसमयमि संय चउत्तपए लोगपूरण कुणइ । पढिलोम साहरण काउ तो होइ देइत्तयो ॥२॥’
 [कर्त्थमथच्च लोकान्तगामिन स सवेइविक्कम्मम् । प्रयमे समये दण्ढ करोति छित्तीये च क्पाटस्सु ॥ १ ॥ सुत्तीये
 मन्यान चतुर्थे लोकपूरण करोति । प्रतिलोम सहरण छत्त्वा ततो भवति देइत्तः ॥ २ ॥] अस्मिच्च समुद्घाते
 क्रियमाणे सति यो योगो ध्याप्रियते तमभिधित्सुराह—‘से ण मते !’ इत्यादि, तत्र मनोयोग ध्यायोग वा न
 ध्यापारयति, प्रयोजनाभावात्, आह च धम्मसारमूलीकार्या हरिमप्रसुरिः—‘मनोवचसी तदा न ध्यापारयति, प्रयो-
 जनानाभावात्’ काययोग पुनर्युत्थान औदारिककाययोगमौदारिकमिथकाययोग कर्मणकाययोग वा युनक्ति, न
 द्वेष लब्धुपजीवनानाभावेन श्रेयस्य काययोगस्यासम्भवात्, तत्र प्रयमे अष्टमे च समये केवलमौदारिकमेव शरीर व्या-

त्रिपते इतौदारिकहाययोगः, द्वितीये पद्ये सप्तमे च समये कर्मणशरीरस्यापि न्यात्रियमाणत्वात् औदारिकमिद्यका-
 पयोग, तृतीयचतुर्थपद्यमेषु तु समयेषु कैवल्यमेव कर्मणशरीरव्यापारमिति कर्मणकाययोग, आह च माव्य-
 ह्य—“न किर समुत्पातगतौ मणवइजोगन्पयोवण कुणइ । जोरालियजोग पुण जुजइ पढमहुमे समए ॥ १ ॥
 उमयपापाराओ तम्मीस वीयछट्टसचमए । तिषउत्त्यपंधमे कम्मग तु तम्मचचेट्टाओ ॥ २ ॥” अत्रैय विशेषपरि-
 ज्ञानायाह—

से नं भंते ! तदा सहस्रमावगते सिञ्जति पुञ्जति दृषति परिनिवाति सधनुक्खाण अंतं करेति ? गो० ! नो इण्ठे समंठे,
 से नं वतो परिनिपचति परिनिपतिष्ठा ततो पच्छा मणजोगंपि जुजति वरजोगपि जुज्जा कायजोगपि जुञ्जति,
 मन्जोगं जुञ्जमाणे किं सधमणजोगं जुनति भोसमणजोग जुञ्जति सधामोसमणजोगं जुञ्जति असधामोसमणजोग जुञ्जति,
 गो० ! सधमणजो० नो भोसमणजो० नो सधामोसमणजोग जुञ्जति असधामोसमणजोगं जुञ्जति, पतिवोगं जुञ्जमाणे किं
 सधपइजोग जुंजति भोसधइजोगं जुं० सधामोसधइजो० !, गो० ! सधपतिजो० नो भोसधइजो० नो
 सधामोसधइजो० असधामोसधइजोगंपि जुंजति, कायजोगं जुंजमाणे आगण्ठेज वा गण्ठेज वा धिदुज्ज वा निसीएज
 वा तुपंइत्र वा उडुपेज वा पलयेज वा परिहासियं पीढळ्ठगनेजासुंयारगं पधस्वियेज्जा । (सूत्र ३४८)
 'से न मते !' इत्यादि, स मवन्त ! केवली तथा—एणट्टकपाटादिक्रमेण समुत्पातं गतः सन् सिञ्जति—

निष्ठितापीं भवति ।, स प 'वर्तमानसामीप्ये पर्वमानयोद्धे'ति पचनात् सेत्सन्नपि व्ययशरत उच्यते तत आह—
पुद्ध्यते—अथगच्छति केपलज्ञानेन ययाऽहं निश्चयतो निष्ठितार्थो भविष्यामि निःशेषकर्माद्यापगमतः तत आह—
मुच्यतेऽशेषकर्माद्यैरिति गम्यते, मुख्यमानम कर्माणुधेदनापरितापरहितो भवति तत आह—परिनिर्वाति—साग-
स्त्वेन स्वीतीमयति, समस्रमेतदेकेन पर्यायेण स्पष्टयति—सर्वदुःखानामन्तं करोतीति, भगवानाह—गौतम ! नाय
मर्थः समयो—नायमर्थः सङ्गतो यः समुद्घात गतः सर्वदुःखानामन्तं करोतीति, योगनिरोधसाध्याप्यकृतत्वात्,
सयोगस्य प पश्यमाण्युक्त्या सिद्धभाषादिति भावः, ततः किं करोतीत्यत आह—'से ञ'मित्यादि, सः—
अधिष्ठतसमुद्घातगतः गमिति पाक्ष्यालङ्कारे ततः समुद्घातात् प्रतिनिवर्ष्ये च ततः—प्रति-
निपत्तनात् पश्चादनन्तर मनोयोगमपि धार्ययोगमपि युनक्ति—ध्यापारयति, यतः स भगवान्
मयधारणीयकर्मसु नामगोत्रधेदनीयेष्वचिन्त्यमाहात्म्यसमुद्घातयशतः प्रभूतेष्वायुषा सह समीकृतेष्वप्यन्तर्मुहूर्त्त-
भायिपरमपदत्वतस्त्रिंशन् फाले यद्यनुत्तरोपपात्तिफाविना वेषेन मनसा पृच्छयते तर्हि व्याकरणाय मनःपुद्गलान्
शहीत्वा मनोयोग युनक्ति, तमपि सत्यमसत्यामृषारूप वा, मनुष्यादिना पृष्टः सन्नपृष्टो वा कार्ययश्चतो वाक्-
पुद्गलान् शहीत्वा धार्ययोग तमपि सत्यमसत्यामृषा वा, न क्षेपान् धारमनसोर्योगान्, धीश्वरागादित्यात्,
आगमनादौ चौदारिकादिकाययोग, तथादि—भगवान् कार्ययश्चतः कृतमिदं स्थानात् यिष्यति ते स्थाने आगच्छेत्,

यदिवा कापि गच्छेत्, अथवा तिष्ठेत्—ऊर्ध्वस्थानेन याऽवतिष्ठेत् निपीयेद्वा तथाविधभ्रमापगमाय त्वग्घर्त्तन घ
कुर्यात्, अथवा विधिते स्थाने तथाविधसम्पातिमस्र्वाकुलां मृमिमषलोफ्य तत्परिहाराय अन्तुरबाणिमिचमुल्ल
एन प्रलह्नन वा पुर्यात्, तत्र सदजात् पादविधेपान्मनागधिकतरः पादविधेपः उल्लह्नन स एयातिषिकटः प्रलह्नन
यदिवा श्रातिहारिकं पीठफलफच्य्यासस्वारकं प्रत्यर्पयेत्, यस्मादानीत तस्मै समर्पयेत्, इह मगवता आर्यश्यामेन
श्रातिहारिकपीठफलादीनां प्रत्यर्पणमेवोक्तं ततोऽवसीयते नियमावन्तमुद्दृर्षावशेषायुष्क एवाषष्ठीकरणादिकमार
भने, न प्रमृतापशेषायुष्कः, अन्यथा ग्रहणस्यापि सम्मवाचदप्युपादीयेत, एतेन यदाहुरेके—‘जघन्यतोऽन्तमुद्दृर्षे श्रेये
समुद्रयातमारमते उत्कर्षतः पद्भ्यु मासेषु श्रेयेष्वि’ति तदपास्त्र ग्रह्य, पद्भ्यु मासेषु कदाचिदपान्तराले वर्षाकाल
सम्मवात् तन्निमित्तं पीठफलकादीनामादानमप्युपपद्येत, न च तत्सूत्रसम्मतमिति तत्प्ररूपणमुत्सूत्रमवसेय, एतन्नो
त्सूत्रं मापत्यकेऽपि समुद्रयातानन्तरमव्यवधानेन शैलेश्यभिधानात्, (यतः) तत्सूत्रं ‘दण्डकथाठे मयतरे च साहा
रणा सरीरये । मासाजोगनिरोहे सेलेसी सिञ्चणा चैव ॥ १ ॥’ यदि पुनरुत्कर्षतः पण्मासरूपमपान्तरालं मवेत्त
नदप्यभिधीयेत, न चोक्तं, तस्मादेव अयुक्तमेतदिति, तथा वाह मान्यकारः—“कम्मलडुयार्पे समजो भिन्नमुड
चावसेसुभो फालो । जन्ने अहन्नमेयं छम्मापुण्णोसमिञ्चति ॥ १ ॥ तद्योऽनन्तरसेलेसीवयवजो ष च पाच्छिदारीजं
पषप्यणमेय सुए अहत्ता गहर्जपि दोजादि ॥ २ ॥” अत्र कर्मकपुतानिमिचं सम्यएपात्तञ्जं समयः—अहत्तरे

भिन्नमुद्गृहचौबन्धेपकाल, श्रेय सुगमं, तदेवमन्तमुद्गृहकाल यथायोगं योगप्रपञ्चापारमाह केवली मूल्यां तवनन्तरम-
 सन्ताप्रकम्प छेदयातीतं परमनिर्जराकारण ध्यान प्रतिपित्सुरवश्यं योगनिरोधाबोधोपक्रमते, योगे सति यपोफल-
 पस्य ध्यानसासुम्भवात्, तथाहि—योगपरिणामो छेदया, तदन्वयग्यतिरेकानुविधानात्, ततो यावद्योगसावदप-
 द्यभाविनी छेदयेति न छेदयातीतध्यानसम्भवः, अपिच—यावद्योगसावत्कर्मबन्धोऽपि, 'जोगा पयच्छिपयसं ठिश्-
 वणुमाग कसायभो कुणइ' इति वचनात्, केवल स कर्मबन्धः केवलयोगनिमित्तत्वात् समयत्रयावस्थाया, तथा-
 हि—त्रयमसमये कर्म पश्यते, द्वितीयसमये वेद्यते, तृतीये तु समये तत्कर्माकर्म्मिभवति, तत्र यद्यपि समपद्मरूप-
 स्थितिकानि कर्माणि क्रियन्ते, पूर्वाणि २ कर्माणि प्रलयमुपगच्छन्ति, तथापि समये समये सतत्या कर्मादाने
 प्रवर्त्तमाने सति न मोक्षः स्यात्, अथ यावश्य मोक्ष गन्तव्य तस्मात् कुरुते स योगनिरोधमिति, उक्तं च—“स ततो
 योगनिरोध करोति छेद्यानिरोधमिकाह्वन् । समयस्थितिं च बन्ध योगविमिश्रं स निरुक्तुः ॥ १ ॥ समये
 समये कर्मादाने सति सन्ततेन मोक्षः स्यात् । यद्यपि हि विमुच्यन्ते स्थितिश्चयात् पूर्णकर्माणि ॥ २ ॥ नाकर्मणो
 हि वीर्यं योगद्रव्येण भवति जीवस्य । तस्यावस्थानेन तु विद्वः समप्रस्थितैर्बन्ध ॥ ३ ॥” अत्र बन्धस्य समयमात्र
 स्थितिकृता बन्धसमयमतिरिच्य वेदितव्या, माध्यम्येन पूर्वोक्त सकलमपि प्रमेय पुण्याति, तथा च तद्वतो प्रत्य-
 “पिबिबिचसमुग्वाजो तिष्ठिषि जोगे जिभो पठजिजा । सधमसधामोस च सो मण तद वर्यजोगं ॥ २ ॥ ओरा-

न्द्रियरूपाययोग यमणार्थं पाञ्चिहारियाण या । पथप्यण करेखा जोगनिरोह तयो कुणश् ॥ २ ॥ किम सयोगो सिञ्जस्य ?
 म थपदेउसि ज सजोगोऽय । न समेय परमसुख स निश्चराकारण परम ॥ ३ ॥" अत एवाह—

ते न मते ! तदा सजोगी सिञ्जति बाध अत करोति ? गो० ! नो इष्टे समष्टे, से न शुभमेव सण्णस्स पंचिदियपखस
 यस्य अरुणजोगिस्स देहा असंखेजगुणपरिहीणं एदम मणजोग निरुमति, सुतो अणंवरं वेदंदिपपखसगस्त अरुणजो
 गिस्स देहा असंखिजगुणपरिहीणं दोषं वतिजोग निरुमति, सुतो अणंवरं च न सुदुमस्त पणजजीवस्त अपजपयस्त
 जरुणजोगिस्स देहा असंखजगुणपरिहीणं तथ कायजोगं निरुमति, से न एतेण उवाणं—पदमं मणजोग निरुमति
 मणजोग निरुमिचा वतिजोगं निरुमति वयसोमं निरुमिचा कायजोगं निरुमिचा जोगनिरोहं करोति
 जोगनिरोहं करेता अजोगतं यतणति अजोगय पउमिचा ईसि हस्तपचकखरुचारणद्वार असंखेजसमयं अवोसुदु
 धियं सेवेसि पविचज्जा, शुधययगुणसेदीयं च नं कम्म, तीधे सेलेसियद्वार असंखेज्जाहिं गुणसेदीहि असंखेजे कम्म-
 उये लषयति लयइया वेदमिज्जाठयामणोते इषेय चवारि कम्मसे शुगवं सुवेति, शुगवं सुवेचा ओरालियवेयाकम्म-
 गार्दं सत्ताहि विपज्जरणाहि विपज्जरति, विपज्जरिचा उग्गुसेदीपठिक्कगो अकुधुमाणगीय पगसमएयं अविगारोणं
 चह गवा सपारोसउचे सिग्गइ पुक्कइ० तत्य सिद्धो भवति, ते पं तरव सिद्धा मर्भधि असट्टीरा जीवसप्या देसणणाणेव
 उणा मिद्धिपट्टा नीत्वा भित्तय्या विविपिता पिउट्टा सासयमपागयदं कालं पिट्ठेति, से केणहेणं मंते ! एवं इत्थर ते न

तस्य सिद्धा भवति असरीरा जीवषणा दसगणाणोवतचा निष्ठियद्वा नीरया निरेयणा विविमिरा विमुद्धा सासयमणाग
 यदं काल चिद्वृत्तिः, गो० ! से जहाणामए बीयाभं अगिदद्वाणं पुणरवि अङ्गुप्यपी ण भवति, एवामेष सिद्धागवि
 कम्मपीणसु दहेसु पुणरवि अङ्गुप्यपी ण भवति, से तेणहेम गोतमा ! एवं दु०-तेणं तस्य सिद्धा भवति असरीरा जीवषणा
 दसगणाणोवतचा निष्ठियद्वा नीरया निरेयणा विविमिरा विमुद्धा सासयमणागतदं काल चिद्वृत्तिचि ।-‘निच्छिण्णसव
 दुवखा जाइव्वरामरणवषपिसुक्खा । सासयमवानाहं चिद्वृत्ति सुही सुहं पणा ॥ १ ॥’ (सूत्रं ३४९) इति पण्यवणाए
 मगवतीए समुण्णायपयं छचीसतिमं पय समचं ॥ ३६ ॥ [प्रत्यक्षरं गणनया अनुदुपुच्छंदासां मानमिदम्- ७७८७] ॥

‘से ण भते ! तद्वा सजोगी सिज्जइ’ इत्यादि, सुगम, योगनिरोध कुर्वन् प्रथम मनोयोग निरुणद्धि, तत्र पर्या-
 समात्रसन्निपत्यस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि यावन्मात्रम् तद्द्रव्यापार तस्मादसंश्लेषयगुणहीन मनो
 योग प्रतिसमय निरुन्धानोऽसंश्लेषैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि, उक्तं च—“पञ्चमोत्तसण्णिणस्स जत्तियाइ जह-
 ण्णजोगिस्स । इति मणोदवाइ तवायारो य जम्मत्तो ॥ १ ॥ तदसखगुणविहीण समए समए निरुममाणो सो ।
 मणसो सवनिरोइ फरेअसखेज्वसमएहि ॥ २ ॥” एतदेवाह—‘से ण भते !’ इत्यादि, सः-अचिहृतकेवली योग-
 निरोध चिक्कीरपन् पूर्णमेव सद्भिन् पर्याप्तस्य अथन्ययोगिनः सत्कस्य मनोयोगसेति गम्यतेऽधस्तात् असंश्लेषयगुण-
 परिहीन समये २ निरुन्धानोऽसंश्लेषैः समयैः साकल्येनेति गम्यते प्रथम मनोयोग निरुणद्धि, ‘ततोऽनतर च

ण'मित्यादि, तस्मात् मनोयोगनिरोधादनन्तरं च शब्दो वाक्यसमुच्चये णमिति वाक्यालङ्कारे द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य
 अपन्ययोगिनः सत्कस्य वाग्ययोगस्येति गम्यतेऽघस्वात् वाग्ययोग असङ्क्षेपगुणपरिहीनं समये समये निरुन्धानोऽ
 सङ्क्षेपैः समयैः साफल्येनेति गम्यते द्वितीय वाग्ययोग निरुणद्धि, आह च माप्यकृत्—“यज्वत्तमिसधिविदिस जह-
 णषड्जोगपञ्चया जे त । तदसङ्खगुणविहीण समये समये निरुमतो ॥ १ ॥ सधषड्जोगरोह सखार्इएहिं कुणइ
 समएहिं” ‘ततोऽणतरं च ण'मित्यादि, ततो वाग्योगादनन्तरं च ण प्राग्वत् सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य अपर्याप्तकस्य
 प्रथमसमयोत्पन्नस्येति माभार्थं जपन्ययोगिन—सर्वात्पवीर्यस्य पनकजीवस्य य काययोगस्तसाघस्वादसङ्क्षेपगु-
 णहीन काययोग समये समये निरुण्यन् असङ्क्षेपैः समयैः समस्तसपीति गम्यते तृतीय काययोग निरुणद्धि, त
 य काययोग निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति ध्यानमधिरोहति, तत्सामर्थ्यांष षडनोदरादिविधरपूरणेन सम्कुचि
 तेदेहत्रिभागवर्चिप्रदेशो भवति, तथा चाह माप्यकृत्—“ततो य सुदुमपणगत्स पढमसमयोयवणत्स ॥ जो किर
 जइणजोगी तदसखेज्जगुणहीणभेक्के । समएहिं रुममाणो देहतिभाग च सुचतो ॥ १ ॥ रुमइ स कायजोग
 सखार्इएहिं धेव समएहिं’ काययोगनिरोधकालान्तरे चरमे अन्तर्मुद्गर्षे देवनीयादिन्द्रियस्य प्रत्येक स्थितिः सर्वापव-
 त्तनया अपपर्यायोग्यवस्थासमाना क्रियते गुणश्रेणिक्रमपिरचितप्रवेद्या, तपया—अपयस्थितौ खोकाः प्रवेद्याः
 द्वितीयस्तां स्थितौ ततोऽसङ्क्षेपगुणाः, तृतीयस्तां ततोऽप्यसङ्क्षेपगुणाः, एव तापयाश्च यावन्चरत्या स्थितिः ता-

'आन्तर्मुद्रासिद्धिंकी शैलेष्ठी'मिति, शील-धारित्र तयोद् निष्पद्यतः सर्वस्वरूप तद् प्राप्स, तस्यैव सर्वोचमत्वात्, तस्येशः
 शैलेष्ठः तस्य याज्यस्या सा शैलेष्ठी तां प्रतिपद्यते, तदानीं च ज्ञान ज्ञायति व्यबच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति, उक्त
 च-"शील व समाहाण निच्छयओ सवसवरो सो व । तस्सेसो सेलेसी होइ तद्वरथा ॥ १ ॥ इत्सपस्व-
 राइ मज्जेण जेष कालेण पच मण्णति । अच्छइ सेलेसिगतो तत्तियमिच्च तओ काल ॥ २ ॥ तणुरोहारमाओ
 छापइ सुटुमकिरियानियट्ठिं सो । वोच्छिन्नकिरियमप्पट्ठियार्इ सेलेसिकालमि ॥ ३ ॥" न केवल शैलेष्ठी प्रतिपद्यते
 पूर्वरचितगुणश्रेणीक च वेदनीयादिक कर्म अनुमयितुमिति श्रेयः, प्रतिपद्यते च तत्पूर्व काययोगनिरोधगते चरमेऽ
 न्तर्मुद्रर्षे रचिता गुणश्रेययः-प्राग्निर्दिष्टस्वरूपा यस्य तत्तया, ततः किं करोतीत्यत आह--'तीसे सेलेसिअद्वाए'
 इत्यादि, तस्या शैलेश्यद्वायां वर्चमानोऽसङ्ख्येयानिर्गुणश्रेणीभिः पूर्वनिर्बन्दिताभिः प्रापिता ये कर्मप्रयत्न पृथक् प्रति
 समयमसङ्ख्येयाः कर्मस्करुणासान् 'क्षपयन्' विपाकतः प्रवेद्यतो वा वेदनेन निर्जरयन् चरमे समये वेदनीयमायुर्नाम
 गोत्रमित्येतान् षट्तरः 'कर्मादान्' कर्मभेदान् युगपत् क्षपयति, युगपच क्षपयित्वा ततोऽनन्तरसमये औदारिकतै
 जसकामर्णरूपाणि त्रीणि शरीराणि 'सर्वादिं विष्णजरजादिं' इति सर्वैर्विप्रदानैः, सूत्रे कीत्वं प्राकृतत्वात्, विप्र-
 जदाति, किमुक्त भवति ?-यथा प्राक् देवतस्सकृत्मान् तथा न त्यजति, किन्तु सर्वैः प्रकारैः परित्यजतीति, उक्त
 च-"ओराळियाइ षपर सर्वादिं विष्णजरजादिं जं मज्जिअ । निस्सेस तदा न जहा रेसवाप्पअ सो पुट्ठिं ॥ १ ॥

परित्यज्य च तस्मिन्नेषु समये कोशेषु धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्पत्त्यसमायविशेषादेरण्डफलमिष भगवानपि कर्मस-
म्यधविमोक्षणसहकारिसमुत्पत्त्यसमायविशेषाद्भूँ लोकान्ते गत्येति सम्बन्धः, उक्तं च—“परण्डफलं च जडा बधच्छे-
देरिय द्रुय जाति । तह कम्मपयणछेदेणे रितो जाति सिद्धोपि ॥ १ ॥” कथं गच्छतीत्यत आह—“अविमोहेण”
विमोहस्यामापोऽपिमोहः तेन एकेन समयेनास्तुश्चन्, समयान्तरप्रदेशान्तरास्त्यर्थनेनेत्यर्थः, ऋजुश्रेणि च प्रतिपन्नः,
एतदुक्तं भवति—याधरत्साकाशप्रदेशेष्विवापगाठस्वायत्त एष प्रवेशानूर्ध्वसृष्टुश्रेण्याऽनगाहमानो विवक्षिताय समय-
दन्वत् समयान्तरमस्तुश्चन् गत्या, तथा चोक्तमायश्यकृषूणो—“जसिप जीवोऽयगाढो तावद्याप ओगाहणाए उह
उज्जुग गच्छति न क्व, विषय च समय न फुसर” इति, भाव्यकारोऽप्याह—“रितसेटि पच्छिमो समयपपरस-
तरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्जर अह सागारोषउचो सो ॥ १ ॥” इत्यमूर्ध्वं गत्वा किमित्याह—साकारोप
युक्तः सन् सिद्धि-निष्ठितार्यो भवति, सर्वा हि लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्य उपजायते नानाकारोपयुक्तस्य,
सिद्धिरप्येषा सर्वलभ्युत्तमा लब्धिरिति साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायते, आह च—“सुधाओ लब्धीओ ज सागा-
रोपओगताओ । सेणेह सिद्धिलब्धी उपपज्जर तदुवउत्तस्व ॥ १ ॥” तदनन्तरं तु क्रमेणोपयोगप्रवृत्तिः । तदेवं
यथा क्लेशो भवति तथा प्रतिपादितविदानीं सिद्धा यथास्वरूपस्रापतिष्ठन्ते तथा प्रतिपादयति—“ते ण
तत्प सिद्धा मयती”त्यादि, ते-अनन्तरोक्तक्रमसम्भूता णमिति धाक्यालङ्कारे तत्र-लोकान्ते सिद्धा भवति, अश-

रीरा — श्रौदारिकादिशरीरधिप्रमुक्ता तेषां सिद्धत्वप्रथमसमये एष सर्वात्मना त्यक्तत्वात्, जीवघना—निचितीभूत-
 जीवप्रदेशरूपा, सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिष्व्यानप्रतिपक्षिकाले एष तत्सामर्थ्यतो घटनोदरादिधिवराणामापूरितत्वात्,
 दृग्जनज्ञानोपपुक्ता जीवस्वामाभ्यात्, निष्ठितार्थोः कृतकत्वत्वात्, नीरजसो षड्यमानकर्माभावात्, निरेजनाः कम्प-
 क्रियानिमिच्चरिहात्, चित्तिमिराः कर्मतिमिरासनापगमात्, विशुद्धास्त्रिविधसम्यग्दर्शनादिमार्गप्रतिपत्त्या अस्य-
 न्तपुद्बीभूतत्वात्, ते चेत्यभूतास्त्रय गतास्त्रिष्टन्ति ज्ञाशत यथा भवत्सेव 'अनागताद्' अनागता—माधिनी सद्वा
 समज्ञा यत्र सोऽनागताद्दः त काल यावत्, अत्रैव मन्दमतिविषोधायाख्येपरिहारावाह—'से केणट्टेण मते !'
 इत्यादि सुगम, नयर 'कम्मधीएसु'सि कम्मरूपाणि धीज्जानि—जन्मनः कारणानि कर्मधीज्जानि तेषु दग्धेषु—
 निर्मूलकापफपितेषु पुनरपि—भूयो जन्मन उत्पत्तिर्न भवति, कारणमन्तरेण कार्यासम्भवात्, अथ तान्येव कर्माणि
 मूय कस्मान्न भवन्ति ?, उच्यते, रागादीनामभावात्, रागादयो ध्यायुःप्रवृत्तीनां कर्मणां कारण, न च ते तेषां
 सन्ति, प्रागेव धीणमोहायस्यायां धीणत्वात्, न च तेऽपि धीणा अपि मूयः प्रादुष्यन्ति, सहकारिकारणामाभावात्,
 रागादीनां ह्युत्पत्तौ परिणामिकारणमात्मा सहकारिकारण रागादियेदनीय कर्म, न चोभयकारणजन्य कार्यमेकतर
 म्नाप्यभावे भवति, अन्यथा तस्माकारणत्वप्रसङ्गात्, न च सिद्धान्ता रागादियेदनीयं कर्मास्ति, तस्य प्रागेव द्रुह-
 प्यानाभिना मस्तीकृतत्वात्, न च बाध्यमत्रापि स एव प्रसङ्गः यथा तदपि रागादियेदनीय कर्म मूयः कस्मान्न

मयतीति ? , तत्कारणस्य संद्वेष्ट्यस्यामायात्, रागादिवेदनीयानां हि कर्मणामुत्पत्तौ रागादिपरिणतिरूपः संद्वेष्ट्याः,
 'अ वेयइ से षघइ' इति, न च रागादिवेदनीयकर्मविनिर्मुक्तस्य तयामृत संद्वेष्ट्योत्थानमस्ति, ततस्त्वदमावाद्रागा-
 दियेदनीयकर्माभावात्, तदभावाच्च मूयो रागादीनामभावः, तथा च रागादीनामेव पुनरुत्पत्तिचिन्तायां धर्मसम्ब-
 द्दण्यामुक्तम्—“स्त्रीया य ते न होती पुणरपि सहकारिकारणामाया । नहि होइ सकिलेसो तेहि चित्तचस्स
 जीयस्स ॥ १ ॥ तयमाया न य षघो तप्पात्तग्गस्स होइ कम्मस्स । तदभावे तदभावो सव्वद षेव यिमेओ ॥ २ ॥”
 इति, ततो रागादीनामभावादायुःप्रच्यतीनां कर्मणां पुनरुत्पादाभावस्तदभावाच्च न मूयो जन्मोत्पत्तिः, अत एवो-
 क्तमन्यत्रापि—“दग्घे धीजे ययाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नाडुरः । कर्मधीजे तथा दग्घे, न रोहति मयाडुरः ॥ १ ॥”
 उपसंहारमाह—‘से एण्णट्ठेण’मित्यादि, एतदेव सिद्धस्वरूप परममङ्गलमृत श्लास्य शिष्यप्रशिक्ष्यादियश्रगतत्वेना
 भ्यवच्छिन्तिसूयावित्यन्तमङ्गलत्वेनोपसंहारव्याजत आह—‘निच्छिण्णे’त्यादि, निस्त्रीर्णं सर्वदुःखं येसो तथा, सकल-
 सांसारिकदुःखपारगता इत्यर्थः, कुत इत्याह—‘जातिजराभरणधनविप्रमुक्ताः’ जातिश्च जरा च मरण च धन्व
 नानि च—ज्ञानायरणीयादीनि कर्माणि तैर्यिप्रमुक्ताः, अत्र हेतौ प्रथमा, यतो जातिजराभरणधनविप्रमुक्ताः ततो
 निस्त्रीर्णसर्वदुःखाः, ते इत्यमृताः परमस्वास्थ्यरूप ‘श्रायत’ श्रम्यन्नापि ‘अभ्यावाध’ बाधारहित, रागादयो हि न
 तत्राधितु प्रमथिष्यन्तो न च तेषां ते सन्तीत्यनन्तरमेव भावित, सुखं प्राप्ताः, अत एव सुखिन सन्तस्त्रिषन्ति ॥

नमत् नपमङ्गकलित प्रमाणवहुल विगुदसद्वोधम् । जिनवचनमयतीर्थिककुमतिनिरासैकबुर्ललितम् ॥ १ ॥
 त्रपति हरिमद्रसरिष्टीकाकृद्विदितविपमभार्यः । यद्वचनवशादहमपि जातो लेद्वेन विष्टतिकरः ॥ २ ॥ कृत्या प्रञ्चा-
 पनाटीकां पुण्य यदयाप मलयगिरिरनपम् । तेन समस्योऽपि जनो लभता जिनवचनसद्वोधम् ॥ ३ ॥”

भाष्यार्थ श्री दिनकरगुप्त ज्ञान ब्रह्माण्ड बयपुर

इति श्रीम मलयगिरिविख्यातायां प्रशापनाटीकाया पद्मत्रिशत्तम पत्र समर्थितम् ॥

प्रशापनाटीका समाप्ता प्रन्थाम् १३०००

